स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGFHS-01
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम

प्रथम खण्ड : मनाव और सामाजिक विकास : एक दृष्टि

द्वितीय खण्ड : सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

तृतीय खण्ड : स्वतन्त्र भारत का उदय

चतुर्थ खण्ड : राष्ट्रीय अखंडता

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

यू जी एफ एच एस - 01
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम

खंड

1

मानव एवं सामाजिक विकास : एक दृष्टि

इकाई 1

मानव के अध्ययन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण 7

इकाई 2

मानव : औज़ारों का निर्माण और प्रयोग करने वाला प्राणी 17

इकाई 3

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी के रूप में 29

इकाई 4

सामाजिक परिवर्तन और विकास 45

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम

मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों की दृष्टि सामाजिक वैज्ञानिकों के मूल्यों, विश्वासों तथा ऐतिहासिक मुद्दों से अत्यधिक प्रभावित होती है। इन विषय क्षेत्रों में ये तत्त्व संकल्पना एवं सिद्धान्तों को प्रभावित करते हैं। सामाजिक विज्ञान के सिद्धांतों के निर्माण तथा सामाजिक अध्ययन के तरीकों में, प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में सामाजिक घटक अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह भारतीय समाज के यथार्थ की समाज-वैज्ञानिक समझ तथा इसके इतिहास के निरूपण के विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतीय समाज का विकास विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुज़रा है। चाहे वे पाषाण युग से मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की महान प्राचीन सभ्यताएं हों या ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ अद्वितीय संघर्ष हो, इन सब ने इस सामाजिक विकास में योग दिया है। इतिहास के इन अनुभवों को विभिन्न सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा विश्लेषित किया जा चुका है।

मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों के इस आधार पाठ्यक्रम में आप अध्ययन की जिन दृष्टियों को देखेंगे, उनमें प्रयास किया गया है कि समाज के अध्ययन की दृष्टियों में तथा इसकी अवधारणाओं के ढाँचे में संतुलन रहे, तथा प्रासंगिक विषयों की यथेष्ट जानकारी दी जा सके।

इस पाठ्यक्रम के विभिन्न खंडों के आयोजन के तरीकों में आप इस दृष्टि को देखेंगे। हमारा प्रयास यह रहा है कि आपको अति महत्वपूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं की प्रकृति के मूल भावों का परिचय दिया जा सके। चाहे यह उन्नति के विकास की बात हो अथवा भारत में समाज के परिवर्तन की ऐतिहासिक भूमिका, आप देखेंगे कि इन्हें तभी भली भाँति समझा जा सकता है जब इन्हें अन्त:सम्बन्धित प्रक्रियाओं के रूप में समझा जाए। खंड पहला मानव के विकास की सार्वभौमिक प्रक्रिया के विवेचन से संबंधित है. उसमें दी गयी संकल्पनाओं के विवेचन, सिद्धांत और पद्धतियों में इसी प्रकार अन्त:संबंध प्रतिबिम्बित होते हैं। इसके बाद हम इतिहास के विशेष क्षेत्रों के अध्ययन की ओर बढ़ते हैं जो समाज और संस्कृति के विकास की महत्वपूर्ण अवस्थाओं से संबंधित हैं, जैसे प्रागैतिहासिक युग से लेकर महान् नदी-घाटी सभ्यताओं तक तथा सामंतवाद से राजतंत्र तक के विकासक्रम में लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था के साथ आधुनिक राष्ट्र राज्यों के उदय तक। यह इस पाठ्यक्रम के दूसरे खंड की विषयवस्तु को संघटित करता है।

मानव सभ्यता के विकास की सार्वभौमिक प्रक्रियाओं से संबंधित समस्याओं का अध्ययन करने के बाद हम आपके सामने आधुनिक भारतीय राष्ट्र-राज्य के सामाजिक रूपांतरण का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, राष्ट्रवादी विचारधारा का उभार तथा राष्ट्रीय आंदोलन, ये इस अध्ययन के महत्वपूर्ण पक्ष का गठन करते हैं, जिसे आप खंड तीन में पढ़ेंगे। इसी क्रम में खंड चार में भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विकास का तथा स्वातंत्र्योत्तर लाये गये संस्थागत परिवर्तनों का विश्लेषण है। इन परिवर्तनों ने एक नया स्थायित्व तो दिया है किंतु इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समाज में नये तनाव एवं अंतर्विरोध भी पैदा हुए हैं। उदाहरण के लिए, साम्प्रदायिकता, जाति, समुदाय, क्षेत्रीयता, भाषा आदि के तनाव उभरे हैं। खंड पाँच राष्ट्रीय एकता के इन्हीं मुद्दों की दिशा में अध्ययन का प्रयास है।

इस संदर्भ में भारत के सामने एक मुख्य चुनौती अपनी सामाजिक शक्तियों को एक राष्ट्र राज्य के रूप में समेकित करने की है। यद्यपि भारतीय संविधान एक राष्ट्र राज्य के मानदंडों या प्रतिमानों को सम्मिलित करता है, तथापि यहाँ कतिपय विचलन भी नज़र आते हैं। ये विचलन संविधान के प्रकार्यात्मक (व्यावहारिक) प्रक्रियाओं के बहुविध प्रयोजन या अधिकार क्षेत्रों में से पैदा हुए हैं। इनमें केन्द्र राज्य संबंध, मौलिक अधिकारों तथा राज्य नीति के निदेशक तत्वों के बीच संबंध आदि शामिल है। खंड छह की विषयवस्तु संविधान के नियामक उद्देश्यों की पूर्ति और इसके क्रियापरक निदेशों से संघटित है।

भारत में संवैधानिक दायित्वों को प्राप्त करने का उपकरण योजना-प्रक्रिया है। यह समाज में मूलभूत आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूपांतरण लाने का प्रयास करती है। खंड सात में इसके विभिन्न पक्षों तथा इसके मूल्यांकन पर विचार किया गया है। यह माना जा चुका है कि आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में उन्नति के कारण दुनिया बहुत छोटी हो गई है। कोई भी राष्ट्र आज संसार में कहीं भी घट रही किसी घटना से अप्रभावित नहीं रह सकता। इससे यह भी अनिवार्य हो जाता है कि हमें अपनी राष्ट्रीय पहचान के साथ प्रगति, पारिस्थितिकी, युद्ध और शांति के प्रश्नों के निर्णयों की वैश्विक दृष्टि का विकास करना चाहिए। कोई भी राष्ट्र अब अपनी स्वतंत्रता और सामाजिक विकास की उपलब्धियों की रक्षा और वृद्धि नहीं कर सकता जब तक कि एक संतुलित विश्व व्यवस्था न बने। खंड आठ में हमने समस्या के इस पक्ष के लिए एक दृष्टि दी है।

आभार : नई दिल्ली स्थित स्पेन की चांसरी और राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली ने इतिहास संबंधी जो चित्र प्रदान किए उसके लिए हम आभारी हैं।

खंड 1 मानव एवं सामाजिक विकासः एक दृष्टि

मानविकी और सामाजिक विज्ञान हमें हमारे इर्द-गिर्द के सामाजिक यथार्थ को समझने के तरीके ही नहीं प्रदान करते अपितु मानव की प्रकृति को जानने की दृष्टियाँ भी देते हैं । खंड एक में चार इकाइयाँ हैं, जिनमें सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन की पद्धतियों तथा मानव के अध्ययन की समाज वैज्ञानिक दृष्टि से चुने हुए विषयों का परिचय दिया गया है । इसके अलावा यह भी बताया गया है कि विकास की प्रक्रियाएँ क्या हैं और मानव ने इतिहास के द्वारा किस प्रकार एक लंबी यात्रा तय करके अपना विकास किया है ।

इकाई एक में, जो मानव का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करती है, प्राकृतिक विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों तथा मानविकी की दृष्टियों तथा पद्धतियों को एक दूसरे के साथ समन्वित करने के प्रयासों पर बल दिया गया है । ऐसा इसलिए किया गया है ताकि सामाजिक संस्थाओं की तथा मानव की प्रकृति की एक व्यापक समझ विकसित हो सके । मानव अन्य प्राणियों के साथ प्रकृति द्वारा प्रदत्त विभिन्न क्षेत्रों में अपना हिस्सा ही नहीं लेता अपितु अपनी सर्जनात्मक निधि के साथ के रूप में प्रकृति को संस्कृति में भी बदलता है ।

इकाई दो, तीन एवं चार ऐसे विषय क्षेत्रों से संबंधित है, जिनमें मानव द्वारा प्रकृति को संस्कृति में रूपांतरित करने की सामर्थ्य का पता चलता है । इकाई दो " मानव : औज़ारों का निर्माण और प्रयोग करने वाला प्राणी " विषय से संबंधित है । इसमें मानव का पाषाणयुग, काँस्य युग, लौह युग से लेकर आधुनिक न्यूक्लियर तथा इलैक्ट्रॉनिक प्रौद्योगिकी युग तक कैसे विकास हुआ —इसका परिचय दिया गया है । इसमें प्रौद्योगिकी, संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं के आपसी संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है । इकाई चार विकास की प्रक्रिया तथा सामाजिक परिवर्तन विषय से संबंधित है । इसमें आप देखेंगे कि समय के साथ-साथ संस्कृति, सामाजिक संस्थाएँ एवं प्रौद्योगिकी किस प्रकार समाजों में अन्तर ला देती है, सामाजिक संगठनों तथा मूल्यों के नये रूप बन जाते हैं । वास्तव में यह इकाई आपके सामने सामाजिक परिवर्तन के मुख्य मुद्दों का संकल्पनात्मक दृष्टि से इतिहास के ढाँचे में विश्लेषण करेगी ।

मानवजाति की ये सभी उपलब्धियाँ इसलिए संभव हो पायी हैं क्योंकि मानव ही सब प्राणियों में ऐसा प्राणी है जो सोचने और तर्क की सामर्थ्य रखता है और प्रतीकों के माध्यम से प्रकृति और स्वयं का भी अध्ययन करता है । भाषा के प्रयोग से इस प्रक्रिया में वृद्धि हुई है । इसमें ज्ञान की वृद्धि और विभेदीकरण की प्रक्रिया पर भी विचार किया गया है । यह प्रक्रिया ऐतिहासिक रूप से मनुष्य की उस विचार क्षमता को व्यक्त करती है जिसने कि काल में सृजनात्मक छलांगें लगाई हैं । प्राकृतिक विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों और मानविकी का विशिष्ट विषयों जैसे, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, विज्ञान इत्यादि में विभाजन, जिनका कि आप आज अध्ययन कर रहे हैं, इसी प्रक्रिया से सामने आए हैं । ठोस समस्याओं की गहरी और अधिक वैज्ञानिक समझ के लिए बाद में ज्ञान के विभेदीकरण को समेकित करने की ज़रूरत होती है । इससे भी इस तरह के प्रयासों की अपरिहार्यता पुष्टि होती है ।

इकाई 1 मानव के अध्ययन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सामाजिक प्रक्रियाओं का केंद्र : मानव
  1.2.1 सामाजिक विज्ञान : वैचारिक मीमांसा
  1.2.2 मानव : सर्जनात्मक साधक के रूप में
  1.2.3 विज्ञान : तदनुभूतिक विचार के रूप में
1.3 सामाजिक विज्ञान की कार्यविधि
  1.3.1 मानव को उसके सामाजिक परिवेश में समझना
  1.3.2 विज्ञान : मानव-स्थितियों की मीमांसा के रूप में
1.4 प्रजातीय भेदभाव और मानव एकता
1.5 सामाजिक जड़ें और पूर्वाग्रह के रूप
  1.5.1 विज्ञान में पूर्वाग्रह
  1.5.2 क्षेत्रीय पूर्वाग्रह
1.6 ज्ञान और समाज
1.7 संस्कृति के सामान्य और विशिष्ट तत्व
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप यह समझ सकेंगे कि :

- सभी सामाजिक प्रक्रियाओं के केंद्र में मानव क्यों है ;
- सामाजिक विज्ञान में अपनायी गयी कार्यविधि क्या है ;
- मानव के सामाजिक आधार और पूर्वाग्रहों के विविध रूप क्या हैं ; और
- ज्ञान और समाज के बीच क्या संबंध है ।

1.1 प्रस्तावना

ज्ञान की विभिन्न व्यवस्थित शाखाओं में —चाहे वह समाजशास्त्र हो, सामाजिक नृविज्ञान हो या सामाजिक विज्ञान का कोई भी अन्य विषय हो —समान तत्व क्या है ? समान तत्व यह है कि ये सभी विषय, किसी न किसी बिंदु पर, केंद्रीय विचार के रूप में मानव पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं । मानव को एक विषय के रूप में केन्द्रीय तत्व मानने से ही समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति या प्रकृति और पर्यावरण जैसे विभिन्न और विविध प्रकार के अध्ययन समन्वित हो पाते हैं । यद्यपि इन सभी विषयों के दृष्टिकोण और प्रक्रियाएँ अलग-अलग होती हैं, फिर भी इन सबका सरोकार एक ही होता है —मानव ।

1.2 सामाजिक प्रक्रियाओं का केंद्र: मानव

वह क्या चीज़ है जिससे समाज का निर्माण और अनुपालन होता है ? समाज को विकास के मार्ग पर कौन लाया है ? अनाज कौन पैदा करता है ? राजनीतिक संस्थाएँ किसने बनायी हैं ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर क्या मानव नहीं है ! यही कारण है कि मानव को अधिक से अधिक सामाजिक और वैज्ञानिक अन्वेषणों का मुख्य विषय माना जा रहा है । इसमें संदेह नहीं कि एक ऐसा भी समय था, जब वैज्ञानिकों ने मानव के सभाजवैज्ञानिक प्रयत्नों में मानव का महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार नहीं किया था । तब वैज्ञानिक अपने आपको देखना नहीं चाहते थे । वे औरों को तोलने में अधिक तत्पर थे । आज (प्राकृतिक या सामाजिक) वैज्ञानिक मानव का ही अधिकाधिक अध्ययन करना चाहता है । प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के अध्ययनों में विशेषज्ञता बढ़ने के बावजूद सभी विषयों के अध्ययन का केंद्रबिंदु मानव ही है । उदाहरण के लिए, प्राणिविज्ञानी भी प्राणि मात्र का अध्ययन करते हुए उसकी शरीर रचना की तुलना मानव के साथ करता है और वनस्पति-विज्ञानी भी पेड़-पौधों का अध्ययन मानव के संदर्भ में ही करता है ।

1.2.1 सामाजिक विज्ञान : वैचारिक मीमांसा

जनसाधारण का ही विश्वास है कि विज्ञान यथार्थ के प्रति स्थिर वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाकर ही आगे बढ़ सकता है । इसमें तथ्यों का प्रत्यक्ष निरीक्षण, उनका वर्गीकरण और सामान्यीकरण शामिल होता है । सभी निरीक्षणों में नियम लागू होते हैं कि वे वैध हों और जाँच की कसौटी पर खरे उतरें । ये विज्ञान की धारणा के तत्त्व हैं । विज्ञान तभी वैध माना जा सकता है, जब वैज्ञानिकों के प्रेक्षणों को इन नियमों के अनुरूप सामान्यीकृत किया जा सकता है । इन नियमों में मानव-मूल्यों, अर्थों और उनकी विचारशीलता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता । यही कारण है कि यथार्थ के अध्ययन को वैज्ञानिक विधि की दृष्टि से वैज्ञानिकों के लिए खुलकर यह मान लेना खतरे से खाली नहीं है कि मानव उनके विज्ञान का प्रेरक विषय भी है और उनका अपना साक्षी भी । सामाजिक विज्ञान में यह समस्या ज्यादा जटिल है, हालाँकि हो सकता है सामाजिक विज्ञान के सभी विषयों में यह उतनी जटिल न हो । इसी प्रकार अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिविज्ञान जैसे विषय अपने-अपने क्षेत्र में मानव को केन्द्र में रखकर सामाजिक यथार्थ का अध्ययन करते हैं । अब सामाजिक विज्ञान ने विज्ञान की रचनात्मक विचार-पद्धति (अर्थात् यह पद्धति कि प्रेक्षणों में वैधता और जाँच के नियमों का पालन होना चाहिए) अपना ली है और प्राकृतिक विज्ञान मानव-मूल्यों, अर्थों और उसकी विचारशीलता के पक्ष पर भी विचार करने लगा है । इसलिए प्राकृतिक और सामाजिक आदि विभिन्न विज्ञानों का केंद्रबिंदु मानव है ।

1.2.2 मानव: सर्जनात्मक साधक के रूप में

मानव सभी सामाजिक प्रक्रियाओं के केंद्र में है । चूँकि मानव को रचनात्मक जीवन जीने की क्षमता का वरदान प्राप्त है, वह निरंतर सोचता रहता है और अपने चारों तरफ़ फैली परिस्थितियों को सुधारता जाता है । उदाहरण के लिए, पक्षी घोंसला बनाता है, लेकिन उसका आकार और रचना कभी नहीं बदलती । सदियों से यही होता रहा है । इसी प्रकार एक लंबे अरसे से शेर गुफा में ही रहता आया है लेकिन मानव पहले पेड़ों, झाड़ियों और गुफाओं में रहता था, फिर झोपड़ियों, छोटे-छोटे घरों से होते हुए अब वह बँगलों और बहुमंजिली इमारतों में रहने लगा है । मानव की रचनात्मक क्षमता के कारण ही यह संभव हुआ है ।

मानव संस्कृति, परंपरा और सामाजिक ढाँचे का निष्क्रिय वाहक मात्र नहीं है । वह न केवल स्वयं रचनाकार है, बल्कि मूल्यों, अर्थों, आकांक्षाओं आदि का रचनात्मक विधान भी करता है । रचनात्मकता ही से प्रेरित होकर वह संस्कृति का निर्माण कर सका है और दूसरी ओर संस्कृति ही मानव को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए वस्तुनिष्ठ स्थितियाँ प्रदान करती है । मेलिनोव्स्की ने कहा है "मानव स्वाधीन इसलिए है कि उसकी अपनी संस्कृति है और 'संस्कृति' स्वाधीनता का प्रथम चरण है ।"

1.2.3 विज्ञान: सदनुभूतिक विचार के रूप में

आप कह सकते हैं कि मानव के अध्ययन के लिए हमारे सामने सिर्फ दो विकल्प हैं : या तो मानव को उसकी मूल मानवता से वंचित करना और उसे प्रकृति की एक वस्तु मान लेना या इस तथ्य को अस्वीकार कर देना कि उसकी जड़ें प्रकृति में गहरी नहीं हैं और उसे एक विचार मानकर ही उसका अध्ययन करना । सौभाग्यवश इन दोनों के बीच एक अधिक संतुलित परिप्रेक्ष्य भी है, जिसके अनुसार मानव को एक सहज सांस्कृतिक प्राणी के रूप में देखा जाता है । इस परिप्रेक्ष्य को सदनुभूति और विचार से समझा जा सकता है । यही वह क्षेत्र है, जिसमें समाजविज्ञानी मानव का अध्ययन करते हैं । इस प्रकार के अध्ययन में समाजविज्ञानी सचेष्ट भाव से पहले अपनी और अपनी संस्कृति की ओर ध्यान दिये बिना अन्य संस्कृतियों का आकलन नहीं करते ।

यह आवश्यक है कि समाजविज्ञानी अपने विज्ञान के क्षेत्र में सचेत रहें, तभी वह अपने विषय पर विचार कर सकता है और उसके साथ तदनुभूति रख सकता है । तदनुभूति का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि अपने विषय का आकलन अपने मानकों के आधार पर किया जाए बल्कि यह भी है कि विषय की अपनी दृष्टि और अपने मूल्यांकन के आधार पर भी किया जाए । यह कार्य हमेशा आसान नहीं होता, क्योंकि अपने प्रशिक्षण और स्वभाव के अनुसार समाजविज्ञानी अनेक सीमाएँ होती हैं । उसका पालन-पोषण एक ऐसे विश्व में हुआ है, जहाँ अच्छी तरह जीने का अर्थ है, दूसरों पर शासन कर पाना । वर्षों के संस्कार के कारण वह और लोगों को ऐसे प्राणियों के रूप में देखने लगता है, जिन्हें चाहे जिधर घुमाया जा सकता है । समाजविज्ञानी के रूप में कार्य करते हुए उसकी तात्कालिक सीमाएँ और बढ़ जाती हैं । विज्ञान के नियम उसे अधिक वस्तुनिष्ठ और मूल्यों के प्रति तटस्थ बनने के लिए विवश करते हैं —चाहे ही फिर प्रेक्षण के साधन जुटाने की बात हो या प्राक्कल्पनाओं को रूप देने की । पर मूल्य और मूल्यपरक निर्णय का सवाल तो शोध-समस्या के चयन में ही होता है और कोई भी शोध-प्रविधि समस्या की पहचान में पूर्ण वस्तुनिष्ठता का दावा नहीं कर सकती । अत: समस्या की पहचान करने में समाजविज्ञानी किसी वैसी ही समस्या या अन्य समस्या या अन्य लोगों द्वारा किये गये शोध-कार्य के सार आदि पढ़ लेना अधिक पसंद करते हैं । इस तरह यह तय करने में कि किन समस्याओं का अध्ययन किया जाए परंपरा, मौका या स्वभाव किसी का भी हाथ हो सकता है , लेकिन इससे सामाजिक विज्ञान से संबंधित शोध कार्य में वस्तुनिष्ठता के मानकों और मूल्यगत तटस्थता पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है ।

समाजविज्ञानी की समस्याएँ यहीं खत्म नहीं हो जातीं । उसके पास सीमित समय और धन होता है और उसे "अन्य लोगों" का भी अध्ययन करना पड़ता है । आखिर है कि सबसे सुगम मार्ग तो यही होगा, जब समाजविज्ञानी सोच-समझकर खुद करने के बजाय स्वभाव या संस्थागत परंपरा के रूप में तुरन्त और पूरी तरह अपने आपको सामाजिक विज्ञान के "नियमों" के अनुरूप ढाल लें । सामाजिक नृविज्ञान में जिसके अंतर्गत अन्य संस्कृतियों के अध्ययन का प्रयत्न होता है —यही विधि आज भी पसंद की जाती है कि अपने अध्ययन में अन्य रीति-रिवाजों और संस्कृतियों के पिछले अध्ययन की परंपरा को ही आधार बना लिया जाए । सामाजिक विज्ञान की हाल की प्रवृत्तियों से पता चलता है कि इस समस्या का समाधान सामाजिक प्रक्रियाओं के परिमाणात्मक विश्लेषण में है —चाहे सामाजिक प्रक्रियाओं को परिमाण के रूप में देख पाना संभव हो या न हो । इस प्रकार प्रायः यह पाया जाता है कि समाजविज्ञानियों के रचनात्मक योगदान से मानव-समाज की मूलभूत समस्याओं को समझने में शायद ही कभी मदद मिली हो ।

1.3 सामाजिक विज्ञान की कार्यविधि

सामाजिक विज्ञान की कार्यविधि के संबन्ध में परस्पर-विरोधी विचार रहे हैं । अलग-अलग विद्वानों ने शुद्ध सहजवृत्ति से लेकर सामाजिक विज्ञान के नियमों के कड़ाई से पालन करने तक के अतिवादी दृष्टिकोण व्यक्त किये हैं । कुछ विद्वानों ने दोनों के बीच के मार्ग को अपनाने का भी सुझाव दिया है । मानव-संस्थाओं के सच्चे वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि सहजवृत्ति के कौशल का वैज्ञानिक-प्राविधिक पद्धतियों से समन्वय करके अध्ययन किया जाए, क्योंकि मानव में प्रकृति और संस्कृति दोनों की ही विशेषताएँ निहित हैं ।

1.3.1 मानव को उसके सामाजिक परिवेश में समझना

सामाजिक विज्ञान का पहला उद्देश्य यह होना चाहिए कि मानव के बहुविध पक्षों को उसके सामाजिक परिवेश में समझा जाए । सार्थक सामाजिक विज्ञान के स्तर पर पहुँचने के लिए समाजविज्ञानियों को अपने विषयों पर तदनुभूति के साथ दृष्टिपात करना चाहिए। विचार का यही सही अर्थ है। इसकी सहायता से समाजविज्ञानी में यह क्षमता विकसित होती है कि वह समाज में मानव के दबावों, बाधाओं, स्वतन्त्रता और वरण की स्थितियों को देख, परख और समझ सके । इसी के परिप्रेक्ष्य में वह प्रेक्षित व्यवहार को अन्य संभावित व्यवहारों के एक पक्ष के रूप में देख पाता है । उदाहरण के लिए, आमतौर पर माना जाता है कि ग्रामीण लोग स्वभावतः भाग्यवादी होते हैं । वैज्ञानिक पद्धतियों से भी शायद इस विश्वास को प्रमाणित किया जा सकता है । यदि आप किसी ग्रामीण से पूछें "इस साल फसल खराब क्यों हुई ?" तो वह उत्तर में कहेगा, "सब भाग्य का खेल है ।" लेकिन यदि वैज्ञानिक यह समझे कि ग्रामीण में उसी तरह की तार्किकता, विनम्रता और विचारशीलता है जैसी कि स्वयं उसमें है तो वह इस उत्तर की व्याख्या करने में सावधानी बरतेगा । वह उस संदर्भ का भी पता लगाएगा जब यह बात कही गयी थी । वह इसकी तुलना जीवन के अन्य क्षेत्रों में उसके विश्वासों और कार्यों से भी करेगा । उदाहरण के लिए, वह यह भी देखेगा कि क्या वह खेती के लिए आधुनिक टेक्नोलोजी अपनाने को तैयार है । तब उसे एहसास होगा कि उसके शोध-निष्कर्ष कितने निश्चयात्मक हैं । किन परिस्थितियों में कोई व्यक्ति निश्चय के साथ यह कह सकता है कि लोगों का एक खास वर्ग भाग्यवादी है । यदि समाजविज्ञानी अपने विषय के बौद्धिक साधनों और सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को समझने के बाद यह देखेगा कि भाग्यवाद की संकल्पना कैसे सक्रिय हुई तो उसे जल्दबाजी में निकाले गये निष्कर्षों में संशोधन करना पड़ेगा ।

1.3.2 विज्ञान: मानव-स्थितियों की मीमांसा के रूप में

उक्त तर्कों से विज्ञान का महत्व कम नहीं होता । उनमें जिस बात पर बल दिया गया है वह यह है कि समाजविज्ञानी में आमतौर से इस आवश्यकता पर उतना ज़ोर दिया जाता कि उन्हें मानव-स्थितियों की वैचारिक मीमांसा का रूप लेना चाहिए । नृविज्ञानी संबंधित वर्ग के लोगों के साथ घनिष्ठता और संवाद स्थापित करने के लिए लोकभाषा सीखते हैं, उनके झोंपड़ों में रहते हैं और उनके नाच-गाने में शरीक होते हैं, लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है । आवश्यकता इस बात की है कि वे उनके साथ मानवीय स्तर पर सुख-दुःख बाँटें। सच्चे अर्थों में शोध-समस्या का पता तभी लगाया जा सकता है और उसका अध्ययन किया जा सकता है । अपने मूल्यगत निर्णयों के आधार पर किसी को भी यह बोध दिया जा सकता है कि वह भाग्यवादी, अंधविश्वासी, परंपरावादी, भावशून्य, बुद्धिवादी या अमानवीय होने की हद तक हिसाबी है । तदनुभूति की शक्ति के साथ वैज्ञानिक तरीकों के उपयोग से समाजविज्ञानी में एक ऐसी व्यापक और प्रामाणिक अंतर्दृष्टि उत्पन्न होगी, जिससे वह सामाजिक समस्याओं का गहन अध्ययन कर सकेगा । इस दृष्टिकोण को अपनाकर ही सामाजिक विज्ञान मानव-स्थितियों की मीमांसा कर सकेगा । शोध की दृष्टि से भी वही सामाजिक समस्याएँ अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, जिनसे सामाजिक विज्ञान के समालोचनात्मक, विचारात्मक और मानदीय उद्देश्यों की काफ़ी हद तक सिद्धि हो सके ।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित में से सही कथन पर (✓) चिह्न लगाइए ।

i) सामाजिक विज्ञान में अध्ययन का केंद्रबिन्दु है मानव ।

ii) मानव, संस्कृति का मात्र निष्क्रिय वाहक है ।

iii) मानव के वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए प्रकृति और संस्कृति के पक्षों के बीच अंत:क्रिया बहुत आवश्यक है ।

2 मानव की सृजनात्मक क्षमता पर लगभग 50 शब्द लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 प्रजातीय भेदभाव और मानव-एकता

सामाजिक नृविज्ञानियों को जल्दी ही मानव-यथार्थ के अपने अध्ययन और विश्लेषण में विरोधाभास-सा दिखने लगता है । यद्यपि वे मानते हैं और जानते भी हैं, कि उनका विश्वास मानव की एकता में होना चाहिए, किंतु अपनी खोजबीन से उन्हें पता चलता है कि उनके अपने अध्ययन का विषय (दूसरे लोग) ही मानव-एकता को स्वीकार करने का इच्छुक नहीं है । सामाजिक नृविज्ञान में यदि कोई एक महत्वपूर्ण अनुभवजन्य सामान्यीकरण है तो वह यह है कि स्वत: मनुष्य ही दूसरे मनुष्यों से अपने आपको भिन्न बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है । यह विभेद जाति, वंश वर्ग या संबन्धों के आधार पर किया जाता है । प्राय: यही विभेदीकरण पक्षपातपूर्ण हो जाता है और फिर सामाजिक व्यवहार का निर्देशित करने वाला तत्त्व बन जाता है । जैसे, काचिन के क्षेत्र में, लोग यह मानते हैं कि उनके आसपास के लोग —भले ही वे शान, बर्मी, थाई या अहोम हों —पूरी तरह मानव नहीं हैं । एक लंबे अरसे तक यूरोप के निवासी अपने को अन्य क्षेत्रों के लोगों से ऊँचा मानते रहे और यह समझते रहे कि अन्य जातियों और समुदायों को सभ्य बनाने का जिम्मा उन्हीं का है । इसी भ्रांति के आधार पर साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को औचित्यपूर्ण ठहराया गया । धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों के (प्राकृतिक और सामाजिक) वैज्ञानिकों ने अपने परिश्रम और अनुसंधान से सिद्ध कर दिया कि यह सिद्धांत झूठा है कि सभ्यता की ठेकेदारी गोरों की ही है और यह भी सिद्ध किया कि अन्य समुदाय भी यूरोपीय समुदाय से सांस्कृतिक रूप में किसी भी तरह हीन नहीं हैं ।

हम आपको प्रजातिगत विभेद और उससे संबंधित ग़लत धारणाओं से परिचित कराना चाहेंगे और साथ ही यह भी बताएँगे कि इन धारणाओं को कैसे ग़लत सिद्ध किया गया है :

I) प्रजाति के आधार पर विभाजन

इसका संबंध सिर्फ चमड़ी, आँखों, नाक की बनावट, होंठ बाल और अन्य शारीरिक विशेषताओं के आधार पर आनुवंशिक वितरण आदि से है । इन आनुवंशिक गुणों का वितरण भौगोलिक आधार पर किया है, लेकिन मानव का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं है, जिसे शुद्ध प्रजाति के रूप में स्वीकार किया जा सके ।

वस्तुत: "प्रजाति" शब्द एक निश्चित मात्रा में जीन-प्रतिमान के वितरण और संकेंद्रण जैसे सांख्यिकीय गुणों का वाचक है, अन्यथा सभी समुदायों के सभी लोगों को जीनगत गुण एक ही भंडार से प्राप्त होते हैं किंतु अलग-अलग मात्राओं में । इसलिए जैविक दृष्टि से प्रजातिगत भेद, मात्रा के होते हैं, प्रकार के नहीं । इसके अलावा, अध्ययन से यह भी अच्छी तरह प्रमाणित हो गया है कि भाषिक क्षमता, बुद्धि, अमूर्तन की क्षमता और तर्कशक्ति जैसे सामाजिक और सांस्कृतिक गुण और सभ्यता के अन्य गुण सभी समूहों में पाये जाते हैं । इस संबंध में मानव मात्र के सांस्कृतिक, बौद्धिक और मानवीय गुण समान हैं । सभी मुख्य प्रजातियों, जैसे ऐस्ट्रोलायड (काले), काकेशियाई (गोरे) और मंगोलियाई (पीले) लोगों में समान रूप से मानवीय और सांस्कृतिक संभावनाएँ होती हैं ।

ii) प्रजाति और प्रजातिवाद

प्रजातियों के आंतरिक जीन-विभाजन को प्रायः गलत अर्थ दिया जाता है । त्वचा का रंग प्रायः गलत ढंग से सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षमताओं का परिचायक मान लिया जाता है, जैसे "गोरे लोग कालों की तुलना में ज़्यादा बुद्धिमान होते हैं ।" फिर इसमें श्रेष्ठता और हीनता की भावना जुड़ जाती है और पूर्वाग्रह को बल मिलता है । इसी पूर्वाग्रह से प्रजातिगत विभेदीकरण और शोषण का जन्म होता है । जैसे दक्षिण अफ्रीका के गोरे लोगों का प्रजातिवाद में पक्का विश्वास है और काले लोगों को अपने अधिकारों और लाभों से वंचित कर दिया गया है । इस शासन को रंगभेदी शासन मानकर तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है ।

iii) प्रजातिवाद के बारे में गलत धारणाएँ

अनेक वर्षों तक शारीरिक भेदों और बुद्धिलब्धि परीक्षणों को मनुष्य की सांस्कृतिक क्षमताओं के साथ जोड़ते हुए परिभाषित करने का प्रयास चलता रहा और इस प्रकार प्रजाति-भेद की गलत धारणा को बल मिलता रहा । इन तरीकों को अपनाने वाले समाजविज्ञानी स्वयं प्रजाति के आधार पर पक्षपात करते थे । इसके अलावा बुद्धिलब्धि के परीक्षणों के मानदंड की अपनी सीमाएँ भी थीं, जिसके फलस्वरूप यही निष्कर्ष सामने आया कि काले लोग गोरों की तुलना में हीन होते हैं । इस बात की अनदेखी कर दी गयी कि बुद्धिलब्धि के परीक्षणों के तरीके सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हीं प्रजाति-समूहों के पक्ष में थे, जो गोरे होने के कारण अपने आपको ऊँचा मानते थे ।

अधिकांश गोरे निबंधकार —चाहे वे पत्रकार रहे हों, राजनीतिज्ञ रहे हों या यात्री —इसी विचार के और इस "कानून" को स्थापित करने के लिए निबन्ध लिखते थे कि जलवायु जितनी गर्म होगी, वहाँ के लोगों की बुद्धि उतनी ही कमज़ोर होगी । जैसे, इस धारणा के समर्थक यह कहते हैं कि इटालियन अपने मैंडोलिनो के लिए मशहूर हैं, और स्पेनिश अपने संगीत और नाच-गाने के लिए । लेकिन हम जैसे-जैसे अफ्रीका के दक्षिण की ओर चलते जाते हैं, ड्रमों की विकट ताल और जनजातियों के गीतों की उन्मत्त लय ही सुनायी पड़ती है । इसलिए जितनी अधिक गर्मी बढ़ती जाएगी, बौद्धिकता उतनी ही घटती जाएगी । इन लेखकों को इस बात की कल्पना करना कितना कठिन होगा कि विक्टोरिया-युग का कोई व्यक्ति घुटन्ना पहने कैरीबियन द्वीप में ड्रम के संगीत पर झूमते हुए गीत गा रहा हो । उद्योग, वाणिज्य, विज्ञान आदि श्रेष्ठ गोरे मस्तिष्क की ही उपज माने जाते हैं । लेकिन क्या "अन्य" विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया ?

iv) गलत धारणाओं का खंडन

1930 के आसपास भौतिक नृविज्ञानियों और पुरातत्वविदों ने अफ्रीका में अनेक खुदाइयाँ कीं और इससे अनेक आश्चर्यजनक निष्कर्ष सामने आये । उन्हें इस बात के ठोस प्रमाण मिले हैं कि लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व अफ्रीका मानव-सभ्यता का एक महत्वपूर्ण केंद्र था । इससे केवल मानव-विकास के कुछ आश्चर्यजनक तथ्य ही सामने नहीं आए, बल्कि एक ऐसी विकसित सभ्यता का भी पता चला, जिससे आकर्षित होकर विश्व के दूसरे भागों से भी लोग वहाँ आया करते थे । उनकी कला और संस्कृति का स्तर इतना ऊंचा था कि उत्तरी लोगों को उस स्तर तक पहुंचने में बहुत समय लगा ।

इस आरंभिक अफ्रीकी सभ्यता के अवशेष अनेक स्थानों पर मिले हैं, लेकिन सहारा रेगिस्तान के अवशेष तो बहुत ही अप्रत्याशित हैं । यह किसकी कल्पना रही होगी ? किसने यह सोचा होगा कि जलवायु के कारण अथवा सामाजिक या अन्य कारणों से परिस्थिति इतनी बिगड़ सकती है जितनी कि अफ्रीका में बदल गयी । अफ्रीकी महाद्वीप सभ्यता का महान केन्द्र रहा था, जहाँ संगीतकार, कलाकार और विचारक समाज की शोभा बढ़ाते थे, वही अफ्रीका बाद में, युद्ध, गुलामों के व्यापार, गरीबी और बीमारी की विभिषिका का शिकार हो गया। या फिर यूनान का उदाहरण लें। यूनानी सभ्यता को गैर-यूनानियों ने यहाँ तक कि गैर यूरोपियनों जैसे, अरबों ने समृद्ध किया । यदि अरबों ने हिप्पोक्रेटीज़ के ज्ञान का अनुवाद न किया होता और उसके साथ अपने ज्ञान का समन्वय न किया होता, तो आज हिप्पोक्रेटिक औषधियों का नामोनिशान न होता । रोमनों ने इसे अरबों से ही ग्रहण किया, किन्तु तब तक इसमें महत्वपूर्ण सुधार किये जा चुके थे । अत्यंत व्यवस्थित ऐतिहासिक अनुसंधान से स्पष्ट हो चुका है कि प्रजाति-भेद या रंगभेद की कट्टरता का आधार बहुत कमज़ोर है ।

v) छद्मविज्ञान और प्रजाति

विज्ञान या छद्मविज्ञान (Pseudo–science) के वे कौन-से तरीके हैं, जिनसे प्रजातीय पूर्वाग्रहों को बल मिला है ? बुद्धिलब्धि के परीक्षण ? कपालीय (दिमागी) या शारीरिक माप-तोल ? क्या प्रजातिवादियों ने अपने विचारों की पुष्टि के लिए इस प्रकार के वैज्ञानिक तरीकों का सहारा नहीं लिया ? समाजविज्ञानियों की वैचारिक दृष्टि के कारण ही सर्वप्रथम इन परीक्षणों की वैज्ञानिक वैधता पर प्रश्नचिन्ह लगाया गया, क्योंकि ये परीक्षण सांस्कृतिक दृष्टि से पक्षपातपूर्ण थे और उनके पीछे कोई तार्किक आधार नहीं था ।

समाजविज्ञानियों में प्रजातिवाद की अवैधता के बारे में आम सहमति होने पर भी विडंबना यही है कि प्रजाति-भेद और प्रजातीय विश्वास आज भी अपनी जगह बनाये हुए हैं । इन पूर्वाग्रहों की जड़ें संभवतः मानव समूहों में सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आधार पर बहुत गहरी उतरी हुई हैं । इसका आधार जैविक न होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक है ।

1.5 सामाजिक जड़ें और पूर्वाग्रह के रूप

प्रजातिवाद सामाजिक पूर्वाग्रह का सबसे अधिक उत्कृष्ट रूप है । जब हम अन्य प्रकार के पूर्वाग्रहों की चर्चा करते हैं, तो प्रजातिवाद शब्द का प्रयोग करते हुए झिझकते हैं । जिन सामाजिक पूर्वाग्रहों के पीछे प्राकृतिक भेद बताये जाते हैं —यद्यपि वे उजागर नहीं होते —और जिनके आधार पर सामाजिक अंतराल को उचित ठहराया जाता है, यदि उनकी छानबीन की जाय तो शायद हम उससे बहुत बड़ा सबक सीख सकते हैं । विभिन्न जातियों में कोई प्रजाति-भेद तो दिखायी नहीं पड़ते, फिर भी किसी खास गोत्र वाले अपनी जाति को दूसरों से ऊँचा नहीं तो भिन्न तो समझते ही हैं । शुद्धिकरण के अनुष्ठानों, खानपान की वर्जनाओं और जातीय संस्कारों की अंतिम स्वीकृति इसी विश्वास पर मिलती है कि जाति जन्म से होती है, इसलिए जातिगत भेद स्वाभाविक है ।

यहाँ भी समाजविज्ञानियों का काम केवल वर्तमान सामाजिक यथार्थ का वर्णन करना नहीं है, बल्कि उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और वर्तमान युग तक के विभिन्न चरणों को स्पष्ट करना भी है । समाजविज्ञानी इस बात की भी छानबीन करेंगे कि ऐसा क्यों और कैसे हुआ । ऐसे निराधार पूर्वाग्रह भारत में केवल जातिप्रथा से ही जुड़े हुए नहीं हैं । क्या हम पैसे वालों को यह शिकायत करते नहीं सुनते कि गरीब लोग बेवकूफ और नासमझ होते हैं ? क्या हम बार-बार यही बात नहीं सुनते कि गरीबों की संख्या अनवरत और बेढ़ंगे रूप में बढ़ती जा रही है ? और क्या हम रोज़-रोज़ यह नहीं सुनते कि गँवार लोग स्वभावतः ऊटपटाँग और अंधविश्वासपूर्ण बचा-टोटकों को मानते हैं । उदाहरण के लिए गरीबों के विरुद्ध सामाजिक पूर्वाग्रह को लें । एक गरीब आदमी सुख और आराम की ज़िन्दगी बसर नहीं कर पाता, पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि वह मूर्ख और नासमझ है । पैसे की कमी के कारण उसके बच्चे स्कूल नहीं जा पाते, इसका अर्थ यह तो नहीं कि उनमें पढ़ने की बुद्धि ही नहीं है । वस्तुतः सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा करके सामान्यीकरण करने से यही स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन में जिन हद तक पूर्वाग्रह समाये हुए होते हैं ।

1.5.1 विज्ञान में पूर्वाग्रह

आप देखेंगे कि विज्ञान भी पूर्वाग्रह से पूरी तरह मुक्त नहीं है । विचारशील समाजविज्ञानी यदि अपने अध्ययन को थोड़ा भी मानवीय बना सकें तो इस प्रकार की बद्धमूल धारणाओं और तर्कों से बचा जा सकता है । जैसे, यदि कोई समाजविज्ञानी ग्रामीणों को पूर्वाग्रहस्त ही मानकर चलता है तो वह उन लोगों से सही प्रश्न भी नहीं पूछ पाएगा । इसका कारण यह है कि ऐसे समाजविज्ञानी बद्धमूल धारणाओं से आगे नहीं बढ़ पाते हैं ।

विचारनिष्ठ सामाजिक विज्ञान प्रामाणिकता और जाँच के सबूत के रूप में विज्ञान के ज्ञात मानदंडों के अनुसार वस्तुनिष्ठ होने का प्रयास करता है । वह अपने जाँच के विषय की विभिन्न प्रकार को मानवीय, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखता है । वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक के कौशल को अपनी जाँच के विषय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के साथ तदनुभूत करने की संवेदनशीलता के साथ जोड़ने की समाजविज्ञानी की योग्यता को सामाजिक विज्ञान के सिद्धांत में "परिवर्तन-शक्ति" (power or reflexivity) कहा जाता है । एक उदाहरण लें:

देखा गया है कि पाश्चात्य पद्धति से प्रशिक्षित डाक्टर गाँव वालों के लिए आयुर्वेदिक या यूनानी डाक्टरों की तुलना में अधिक प्रामाणिक भी होते हैं और उनके नज़रिये से इन डाक्टरों में "करिश्मा" भी अधिक होता है । आप इसका अंदाज़ा इस बात से तो लगा ही सकते हैं कि ग्रामीण स्वास्थ्य-केन्द्रों में डाक्टरों के पास लोगों की लम्बी कतारें लगी रहती हैं । उनके स्वास्थ्यगत व्यवहार और तौर-तरीकों को नज़दीक से देखकर भी आप यह बात समझ सकते हैं । गम्भीर बीमारी के मामलों में जब आदमी अपने रोज़मर्रा के काम भी खुद नहीं कर पाता तो वह देसी इलाज के बजाय ऐलोपैथी से ही इलाज कराना ज़्यादा पसंद करता है । इलाज की दूसरी पद्धति वह तभी अपनाता है जब ऐलोपैथी डाक्टर उसकी पहुँच के बाहर होता है या उसमें दिलचस्पी नहीं लेता या उसके इलाज में कामयाब नहीं होता । दूसरे शब्दों में, आयुर्विज्ञान की पारंपरिक और आधुनिक पद्धतियाँ साथ-साथ चलती हैं और रोगी का किसी एक या अधिक पद्धतियों का सहारा लेना इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी वास्तविक परिस्थितियाँ किस तरह की हैं । चिकित्सा के प्रति उसका यह व्यवहार इस धारणा को गलत सिद्ध कर देता है कि गाँव के लोग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं । चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ मध्यमवर्गीय शहरी भारत में और उन्नत औद्योगिक समाजों में देखी जाती हैं ।

1.5.2 क्षेत्रीय पूर्वाग्रह

हर देश या समाज में कुछ क्षेत्रीय पूर्वाग्रह भी होते हैं, इनसे क्या संकेत मिलता है ? इनसे किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की श्रेष्ठता या हीनता के संबंध में संकुचित विचारधारा का पता चलता है । प्रायः समाजविज्ञानियों की कृतियों में भी यह विचारधारा झलक उठती है । उदाहरण के लिए पूर्वी उत्तर प्रदेश की कम

उत्पादकता के मुकाबले पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अनाज की अधिक उत्पादन-दर से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसान आलसी होते हैं और पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान अधिक मेहनती होते हैं । लेकिन क्या यह सच है ? नहीं । वस्तुत: उत्पादकता का कम या अधिक होना कृषि-संगठन, सिंचाई-सुविधाओं, ज़मीन की उर्वरता, बीजों की किस्म और अन्य साधनों पर निर्भर होता है । यह बात भी सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानियों के प्रयासों से ही सिद्ध हुई है । समाजविज्ञानियों ने पूर्वी क्षेत्र के लोगों की आदतों, रीति-रिवाजों और संस्कृति का अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि ये लोग आलसी कतई नहीं होते । इस प्रकार वैज्ञानिकों (प्राकृतिक और सामाजिक) के प्रयास से क्षेत्रीय पूर्वाग्रह के आधार पर लोगों के आलसी होने या न होने की धारणा गलत सिद्ध हो गयी है ।

बोध प्रश्न 2

1 आप प्रजातिवाद और प्रजातिभेद से क्या समझते हैं ? लगभग 50 शब्दों में उत्तर दें ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारत में अनाज के उत्पादन से संबंधित क्षेत्रीय पूर्वाग्रह कैसे निराधार सिद्ध हुआ ?

.....

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा कथन सही है और कौन गलत । (✓ या ✗ का निशान लगाएं)

i) दक्षिण अफ्रीका की सरकार रंगभेद की नीति अपना रही है ।

ii) गोरे लोगों की श्रेष्ठता का सिद्धान्त गलत धारणा है ।

iii) प्रजातीय पूर्वाग्रह की जड़ें शारीरिक विशेषताओं में निहित हैं ।

iv) समाज के सच्चे अध्ययन के लिए सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा की जानी चाहिए ।

1.6 ज्ञान और समाज

ज्ञान और समाज के संबंधों का विश्लेषण करने के लिए आइए, अब हम अपनी जानकारी का उपयोग करें । कुछ समाजविज्ञानियों का कहना है कि प्रारंभिक काल से ही मानव अपने सामाजिक जगत् को समझने और उसका वर्गीकरण करने के लिए प्राकृतिक आदर्श का प्रयोग करता रहा है । सामाजिक जगत् में कुछ हद तक स्थिरता रहती है । पेड़ों की शाखाएँ होती हैं, कौए काले होते हैं, गायें दूध देती हैं, भौंरा भौंरे की तरह मंडराता है, गिद्ध गिद्ध की तरह सफ़ाई का काम करता है, पत्थर सामान्यत: अचल होता है, इत्यादि लेकिन यदि सामाजिक जगत् को महसूस करें तो हम पाएँगे कि उसमें काफी अस्थिरता और संक्रमण की स्थिति बनी रहती है जिसके बारे में निश्चय के साथ कुछ भी कह पाना कठिन है । यदि हम सामाजिक जगत् को ठीक करना चाहते हैं तो इससे अच्छा और क्या होगा कि हम प्राकृतिक जगत् की स्थिरता का आदर्श अपने सामने रखें । अत: जहाँ केवल सामाजिक और सांस्कृतिक भेद ही होते हैं, वहाँ भी लोग प्राकृतिक भेद के रूप में उसकी स्थापना करना चाहते हैं ।

इस तरह की समझ को एक ऐसे दृष्टिकोण के साथ जोड़ा जा सकता है, जिसका उदय सर्वप्रथम दर्शन (Philosophy) में हुआ और फिर उसे मनोविश्लेषण और नृविज्ञान के साथ जोड़ दिया गया । इस दृष्टिकोण के अनुसार, मानव अपने जगत् को सिद्धान्तों में बाँधे बिना नहीं रह सकता । कोपरनिक्स से पूर्व यह धारणा प्रचलित थी कि सूरज पृथ्वी के चारों ओर घूमता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि एटलस को चकमा देकर पृथ्वी उसके कंधों पर लाद दी गई थी । आज भी कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो मानते हों कि पृथ्वी एक बलशाली वृषभ (बैल) के सींगों पर टिकी हुई है और जब भी वृषभ हिचकी लेता है तो भूकम्प आ जाता है । कोई प्राकृतिक नियम, कोई सार्वभौमिक रहस्य ऐसा नहीं है जिसका सिद्धांत या हल न निकाला गया हो, चाहे उसका कोई पर्याप्त प्रमाणिक अथवा वैज्ञानिक आधार नहीं है। अत: इस बात पर हैरानी नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य का वर्गीकरण और पुनर्वर्गीकरण किया जा रहा है और ब्रहमांड के संबंध में नये-नये सिद्धांत गढ़े जाते रहे हैं ।

अगर हम इस समझ-बूझ के साथ आगे बढ़ते हैं तो हम इस एहसास से अपने को छोटा महसूस करेंगे कि मनुष्य से संबंधित सामाजिक विज्ञान की कुछ कोटियों में अनगढ़ प्रकृति को आदर्श माना जाता है और हमारे कुछ समकालीन वैज्ञानिक सिद्धांतों को भावी वैज्ञानिक निलक्षण या अनोखा समझ सकते हैं । इसीलिए जब कभी कोई समाजविज्ञानी किसी ज्ञान-प्रणाली के संबंध में —भले ही वह कोई भी विश्वास, मूल्य; सिद्धांत, कार्य या आदर्श हो —निर्णय देता है तो उसे चाहिए कि वह पहले अपनी ओर देखे ; तभी वह उस मानवीय संदर्भ को जान सकता है जिसमें ज्ञान का जन्म हुआ हो, क्योंकि यही वह संदर्भ है, जिससे अंतत: यह मालूम पड़ेगा कि किसी ज्ञानविशेष को स्वीकार किया जाय या नहीं । इस बात की क्या गारंटी है कि विज्ञान के संबंध में हमारी वर्तमान मान्यताएँ हमारे बच्चों को उनके भावी जीवन में बचकानी बातें न लगें ।

इसे स्वीकार कर लेने पर भी हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि मानव के सक्रिय रूप से बीच में आये बिना निश्चयात्मक खंडों में ज्ञान आगे बढ़ता है । मानव के प्रयास से ही, भले ही उसकी मात्रा कितनी भी सूक्ष्म क्यों न रही हो, विज्ञान की प्रगति संभव होती है और उसमें परिवर्तन आते हैं । जब मनुष्य ने माइक्रोस्कोप का आविष्कार कर लिया, शरीर में रक्त-संचार की प्रक्रिया के बारे में जान गया, रोगाणु-रोधकों (antiseptic) की खोज के आरंभिक प्रयास करने लगा तथा अन्य कई तरह की खोजों में सफल हुआ तो मानवता के विकास की व्यापक संभावनाएँ पैदा हुईं । सामाजिक संगठन विकल्पों की शृंखला पर कुछ सीमा लगा देता है और उसके अनुसार कुछ कामों पर पाबंदी होती है और कुछ पर नहीं । वस्तुत: कोई भी व्यक्ति अपने भाई से भिन्न होते हुए भी उसी परिवार का सदस्य होता है —इसका एकमात्र कारण यह द्वैतता ही है । हम बंधनयुक्त भी हैं, फिर भी बहुत सीमा तक मुक्त भी हैं । इसी तरह से प्राप्त ज्ञान की समय-समय पर छानबीन होती रहती है । मनुष्य ज्ञान को जन्म देता है —इसका निर्धारण दो आधारों पर होता है (i) ज्ञान को जन्म देने का अर्थ है पिछले ज्ञान को अव्यवस्थित कर देना । (ii) ज्ञान का जन्म तब तक संभव नहीं है, जब तक कि मानव में विचार-स्वातन्त्र्य की क्षमता न हो । धर्मतंत्र और तानाशाही के दौर में इसी स्वतंत्रता को इस गलत यकीन के आधार पर कुचलने की कोशिश की गयी कि मनुष्य ने अपनी मंज़िल पा ली है । मानव के भीतर की चिरंतन तड़प के कारण ही बड़े-बड़े साम्राज्य ढह जाते हैं, बड़े बड़े सिद्धांत बदल जाते हैं, इसलिए इस ब्रहमांड में कुछ भी निरपेक्ष नहीं है ।

1.7 संस्कृति के सामान्य और विशिष्ट तत्त्व

नृविज्ञान का पुराना नियम है, और उससे अनेक दशकों तक हमारा अच्छी तरह काम चलता रहा है —कि हमें सार्वभौम और निरपेक्ष तत्त्वों की खोज करनी चाहिए । उदाहरण के लिए, यह मानकर चलना कि परिवार का अर्थ है छोटा परिवार या कानूनी व्यवस्था के अन्तर्गत विशेष व्यवहर्ता, न्यायालय और लिखित कानून ही होते हैं या फिर हमारे धर्म को छोड़कर शेष सभी धर्मों की पूजा-पद्धतियाँ टोना-टोटके भर हैं, एक प्रकार से निरपेक्ष की चाह की अभिव्यक्ति है । इसमें सांस्कृतिक दृष्टि से सार्वभौम तत्त्वों की विचारात्मक मानवीय खोज परिलक्षित नहीं होती ।

यात्रियों और नृविज्ञानियों के लिए यह आम बात है कि वे ट्रोबिएंड सरदार की इस हरकत का खूब मज़ाक बनाते हैं कि वे रतालू के बड़े भंडार को देखकर अपने साथियों के साथ यह सोचकर जश्न मनाता था कि उसके पास खाने के लिए खूब रतालू हैं और बचाकर रखने के लिए भी । उनका यह व्यवहार तब तक हास्यास्पद समझा जाता रहा जब तक कि मैनलिनोव्स्की ने इस रहस्य पर से पर्दा नहीं उठा दिया कि रतालू का भंडार उनके लिए उतना ही कीमती है, जितना कि महारानी के मुकुट के रत्न । इसलिए यदि लंदन निवासी खर्चा करके मुकुट के रत्न देखने जाते हैं तो इस बात में क्या बुराई है कि ट्रोबिएंड सरदार और उनका मुखिया अपने साथियों के साथ रतालू के भंडार को लेकर जश्न मनाये ।

नृविज्ञानियों के अथक परिश्रम के कारण अब हम यह जानते हैं कि प्रत्येक समाज के नैतिक आचरण और यौन व्यवहार के सम्बंध में कुछ कड़े नियम और पाबंदियां होती हैं । इस बात के कोई निरपेक्ष नियम और प्राकृतिक कारण नहीं हैं कि कोई एक नियमावली और पाबंदियाँ निरपेक्ष क्यों नहीं हैं । उदाहरण के लिए मातृवंशीय परिवार पितृवंशीय परिवारों से काफी भिन्न होते हैं । फिर भी दोनों तरह के परिवारों में अधिकार

और प्रेम की समान भावना परिलक्षित होती है । मातृवंशीय परिवारों में पिता के बजाय मामा का अधिकार चलता है । इन समाजों में पिता प्राय: बहुत आत्मीय और सहज होते हैं और बेटे अक्सर उनके साथ काफ़ी घुल-मिल जाते हैं । लेकिन महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हम जिस यथार्थ को जानते हैं या जिससे परिचित हैं उसके अनेक भेद हो सकते हैं और इस बात की कोई वज़ह नहीं है कि कोई एक विशिष्ट रूप दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण हो ।

दूसरे शब्दों में, संस्कृति की विशेषताओं में भी कुछ सार्वभौम तत्त्व होते हैं । मनुष्य के अध्ययन के लिए अपनायी गई वैज्ञानिक दृष्टि में यही सार्वभौम तत्त्व प्रकट होने चाहिएँ । ये तत्त्व स्पष्ट दिखाई पड़ने वाली विविधता के गर्भ में छिपे होते हैं । इसी से हमें पता चलता है कि मानव-समाज के दर्शन के अनेक तरीके हैं । जब समाज-विज्ञान ने इस महत्वपूर्ण मानवीय विविधता की पहराइयों की खोज की तभी वैज्ञानिक मानक का वैचारिक और वैज्ञानिक अध्ययन कर सके । समाजविज्ञान के माध्यम से विद्वान लोग अंतत: अपना ही अध्ययन करते हैं ।

बोध प्रश्न 3

1 निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा कथन सही है और कौन-सा गलत (✓ या × का निशान लगाएं)

i) पृथ्वी एक बलशाली बैल के सींगों पर टिकी है ।

ii) मानव, जगत को सिद्धांतों में बाँधे बगैर नहीं रह सकता ।

iii) ज्ञान का प्रजातीय श्रेष्ठता से निकट संबंध है ।

iv) इक्कीसवीं सदी में वैज्ञानिक विकास रुक जाएगा ।

2 समाज में सिद्धांतीकरण की क्या भूमिका है । लगभग 50 शब्दों में लिखें ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.8 सारांश

हमें आशा है कि यह पाठ पढ़ने के बाद आप जान गये होंगे कि :

- मानव अध्ययन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए मानव यथार्थ को अधिक विचारशील ढंग से देखा जाना चाहिए ।
- मानव को मात्र प्राकृतिक वस्तु मानकर उसका अध्ययन नहीं करना चाहिए, अपितु मानव के अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञान की अधिक वस्तुनिष्ठ विधियों का उपयोग किया जाना चाहिए ।
- मानव प्रकृति और संस्कृति दोनों की उपज है ।
- मानव के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तदनुभूति आवश्यक है ।

हम देखते हैं कि दैनिक जीवन में सामाजिक यथार्थ और मानव स्थितियाँ जिस रूप में हमारे सामने आती हैं उनका वैज्ञानिक दृष्टि से कोई मेल नहीं बैठता । समाज विज्ञान और मानविकी की संकल्पनाएँ और विधियाँ मानव के इर्द-गिर्द के सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ के बौद्धिक और मानवीय विवेचन के मानदंडों से मेल नहीं खातीं । इससे प्रजातीय, क्षेत्रीय और सामाजिक पूर्वाग्रहों को बल मिलता है । प्रजातिवाद, जातिगत पूर्वाग्रहों और क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों की बुराइयाँ तभी खत्म हो सकती हैं, जब समाज विज्ञान इस बात की आवश्यकता को पहचाने कि इन तत्वों का अध्ययन एक ऐसे आदर्श के आधार पर किया जाए जो यह जान-समझ सके कि मानव ही सबके केन्द्र में स्थित है ।

मानव के अध्ययन की वैज्ञानिक दृष्टि इस बात की पुष्टि करती है कि मानव मात्र के बीच विश्व-एकता, गरिमा और स्वतंत्रता का संबंध है । मानव के वैज्ञानिक अध्ययन का यही अर्थ है ।

1.9 शब्दावली

तदनुभूति : अपने आपको मानसिक तौर पर दूसरे की स्थिति में रखकर देखना ।

शोषण : किसी वर्ग /व्यक्ति को उसके न्यायोचित अधिकार से वंचित करना ।

भाग्यवादी : एक सिद्धांत, जिसके अनुसार व्यक्ति का भाग्य अटल है ।

प्राक्कल्पना : परीक्षण या जाँच के लिए रखा गया कोई प्रस्ताव या कथन, अपुष्ट सिद्धांत ।

हीनता : अन्य लोगों या वर्गों के मुकाबले अपने आपको हीन समझने की भावना ।

सहजवृत्ति : मनुष्य के मन की वह वृत्ति, जो स्थिति को समझने में उसकी मदद करती है ।

अंतर्विरोधी : जिसमें परस्पर विरोध हो ।

वस्तुनिष्ठवाद : दर्शन की पद्धति और सामाजिक अध्ययन की विधि, जो पूरी तरह प्रेक्षणीय तथ्यों पर आधारित हो ।

छद्म विज्ञान : काल्पनिक या झूठा विज्ञान ।

प्रजातिवाद : एक प्रजाति द्वारा दूसरी प्रजाति से अपने आपको श्रेष्ठ मानने का सिद्धांत, जैसे अमेरिका में नीग्रो लोगों को गोरे लोगों से हीन समझा जाता था ।

सार्वभौम तत्त्व : जिनका संबंध समाज विज्ञान में व्यापक स्तर के सामान्यीकरण से है ।

वैधता : वह सत्य, जिसे तथ्यों से स्थापित किया जाए ।

मूल्य-निर्णय : किसी की व्यक्तिगत पसंद पर किया गया निर्णय ।

जाँच : अनुभव या तथ्यों द्वारा पुष्टि ।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 (i) ✓ (ii) × (iii) ✓

2 खंड 1.2.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1 खंड 1.4 देखें

2 खंड 1.5.2 देखें

3 (i) ✓ (ii) ✓ (iii) × (iv) ×

बोध प्रश्न 3

1 (i) × (ii) ✓ (iii) × (iv) ×

2 खंड 1.6 देखें ।

इकाई 2 मानव : औज़ारों का निर्माण और प्रयोग करने वाला प्राणी

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 औज़ार-निर्माण : एक विकासशील परिप्रेक्ष्य

- 2.2.1 प्राचीन पाषाण (पुरापाषाण) युग
- 2.2.2 नवपाषाण युग
- 2.2.3 कांस्य युग
- 2.2.4 लौह युग

2.3 औज़ार निर्माण और संस्कृति की विकास-यात्रा

- 2.3.1 सामाजिक संस्थाएँ और अंत:क्रिया
- 2.3.2 श्रम की विशेषता और विभाजन
- 2.3.3 शहरी क्रांति
- 2.3.4 महान धर्मों का उदय

2.4 मानव और प्रकृति: अनुकूलन अंत:क्रिया

- 2.4.1 अनुकूलन के प्रकार
- 2.4.2 जनजातियाँ और उनके अनुकूलन के प्रकार
- 2.4.3 खानपान की आदतें और चर्चनाएँ

2.5 मानव और प्रकृति : निर्भरता, विजय और सामंजस्य

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान सकेंगे कि :

- संस्कृति के विकास में औज़ार-निर्माण ने किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाई;
- मानव की औज़ार-निर्माण-क्षमता में परिवर्तन आने से किस प्रकार विभिन्न चरणों में संस्कृति का विकास हुआ ;
- मानव और प्रकृति के बीच अनुकूलन प्रक्रियाओं और आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया से किस प्रकार सांस्कृतिक विकास में तेज़ी आयी;
- मानव और प्रकृति के बीच क्या संबंध था, मनुष्य ने प्रकृति पर कैसे विजय पायी तथा दोनों के बीच सामंजस्य का रूप क्या रहा ?

2.1 प्रस्तावना

आपने इकाई 1 में यह सीखा कि मानव के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति के विकास में सावधानी बरतना क्यों आवश्यक है । प्रकृति और संस्कृति दोनों ही मानव में निहित हैं और दोनों ही उसमें परिलक्षित होते हैं । मानव की जैविक विशेषताएँ प्रकृति के समान हैं और अपनी श्रेष्ठ बौद्धिक, रचनात्मक और सांस्कृतिक क्षमताओं के कारण वह प्रकृति पर विजय भी पा लेता है । पाषाण-युग से लेकर इलैक्ट्रानिक और न्यूक्लीय युग तक मानव के विकास का एक लंबा इतिहास है । इस इकाई में हम प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करेंगे कि मानव की यह विकास यात्रा किन-किन चरणों से होकर गुज़री । परन्तु यहाँ हम अपनी चर्चा लौह युग तक ही सीमित रखेंगे। अपनी विशेष प्राकृतिक क्षमताओं के कारण ही मानव को औज़ारों के निर्माण में, प्राकृतिक वातावरण से अनुकूलन में और नये-नये आविष्कार करने में सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकीय सफलता प्राप्त हुई। प्राचीन पाषाण युग से लेकर नवीन पाषाण युग तक सांस्कृतिक विकास के विभिन्न चरणों में मानव की इस विजय-यात्रा ने कालान्तर में अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया । कांस्य युग और लौह युग के आगमन के साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में और भी परिवर्तन हुए ।

हम आपको यह भी बताएंगे कि किस प्रकार विकासशील परिवर्तनों के विभिन्न चरणों में कैसे महान आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के युग आये । इसी के कारण श्रम, कृषि और उद्योग का विभाजन हुआ, शहरीकरण और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी छलांगें भरी गईं । इसी के फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक संस्थाओं और उनके दर्शन का जन्म हुआ । इसी प्रक्रिया में विज्ञान का भी उदय हुआ ।

मानव-प्रयास और प्राकृतिक शक्तियों की अंत:क्रिया ने हमेशा ही अनुकूलन की समस्याओं को जन्म दिया है । प्रकृति का अनुचित लाभ उठाने से प्रकृति और मानव के बीच के संबन्धों का संतुलन भी बिगड़ जाता है । इसलिए प्रकृति के प्रति मानव के अनुकूलन का प्रश्न हमेशा ही गंभीर सामाजिक चिंता का विषय रहा है । इस इकाई में आप मानव-सभ्यता की विकास-यात्रा में मानव और प्रकृति के संबंधों के विभिन्न पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे ।

2.2 औज़ार-निर्माण : एक विकासशील परिप्रेक्ष्य

प्राय: माना जाता है कि कुछ उन्नत आदि-मानवों ने हड्डियों और पत्थरों का उपयोग औज़ार की तरह किया होगा । लेकिन होमोसेपियनो (बुद्धिमान मानव) के आने से सही मायने में औज़ारों का निर्माण और उपयोग शुरू हुआ । वस्तुत: जिन्हें हम औज़ार के रूप में जानते हैं उनका उदय तभी हुआ । मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो न केवल औज़ारों का इस्तेमाल करता है, बल्कि उन्हें निरंतर सुधारता भी रहता है । औज़ार-निर्माण की इसी क्षमता के कारण आज हम आधुनिक युग में पहुँच गये हैं । अगर मानव की प्रगति किसी चरण पर रुक गयी होती तो शायद आज विश्व का जो रूप है, कभी न होता ।

पुरातत्वविदों ने मानव के आदि पूर्वजों का पता लगाया है —जैसे सांइनैथॉपस (पीकिंग-मानव) आदि मानव के चिन्ह जर्मनी (नियेन्डरथल-मानव), जावा (जावा-मानव) तथा रोडेशिया में (रोडेशिया-मानव) मिले हैं । किंतु पीकिंग-मानव के अवशेष अपने आप में बेजोड़ इसलिए हैं कि घरेलू परिवेश में रहने वाले मानव के सबसे पहले अवशेष यही हैं । अनुमान है कि पीकिंग-मानव आज से लगभग 5,00,000 वर्ष पहले रहा होगा । उन्होंने अनगढ़ और सफाई वाले औजारों के आधार पर मानव के हस्त-कौशल के विकास का ऐतिहासिक अनुक्रम तैयार किया है । आप जानना चाहेंगे कि खास तौर पर औज़ार-निर्माण के मानवीय कौशल के आधार पर विकास के विभिन्न चरण कौन-कौन से थे । पुरातत्वविदों ने परवर्ती काल में मानव-इतिहास को इसी आधार पर क्रमबद्ध किया है: पाषाण युग (प्राचीन और नवीन), कांस्य युग और लौह युग । परंतु विश्व के सभी भागों में ये चरण एक साथ नहीं आये । यदि किसी एक क्षेत्र में पाषाण युग था तो दूसरे क्षेत्र में कांस्य युग आ गया था और तीसरे में लौह युग शुरू हो गया था ।

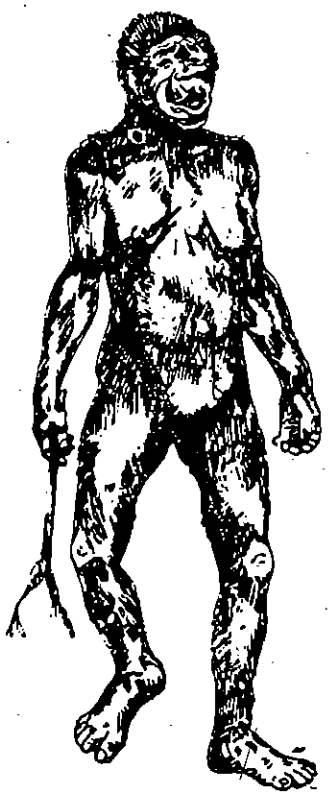

1. आदि मानव

2.2.1 प्राचीन पाषाण युग (पुरापाषाण)

प्राचीन पाषाण युग का आरंभ 5,00,000 से लेकर शायद 2,50,000 वर्ष पूर्व के बीच हुआ था । प्राचीन पाषाण युग में मानव शिकार करता था, मछली पकड़ता था और समूह में रहता था । इस काम के लिए उसने पत्थर को तराशकर जो औज़ार तैयार किये थे, वे आरंभिक किस्म के थे । इन औज़ारों की सहायता से वे प्रकृति के

सहारे ही जीते थे. प्रकृति से अपनी ''आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए प्रकृति में अपने प्रयासों द्वारा कोई परिवर्तन नहीं करते थे जैसे कृषि अथवा पशुओं का पालन उनकी ज़रूरतें जानवर पकड़कर, शिकार करके, फल तोड़कर या कंदमूल खोद कर पूरी हो जाती थीं । प्रकृति पर उनका नियंत्रण नहीं था, बल्कि वे प्रकृति पर निर्भर थे ।

सांस्कृतिक विकास में इस कालावधि को एक ब्रिटिश नृवंशविज्ञानी मोर्गन ने पाशविक अवस्था की संज्ञा दी है । उबड़-खाबड़ ढंग से कटे हुए चकमक पत्थर से वे तरह-तरह के काम किया करते थे, शिकार करने से लेकर खाल उतारने और जड़-कंदमूल खोदने तक । इस अवस्था में भी औज़ार बनाने की क्षमता में धीरे-धीरे सुधार होने लगा । एक पत्थर से दूसरे पत्थर को रगड़ कर खुरदरे कोनों को तराशते हुए कुछ आदिमानवों ने यह भी सीख लिया कि लट्ठे की चोट से पत्थर की साफ-सुथरी छिपरियाँ किस प्रकार तराशी जा सकती है ।

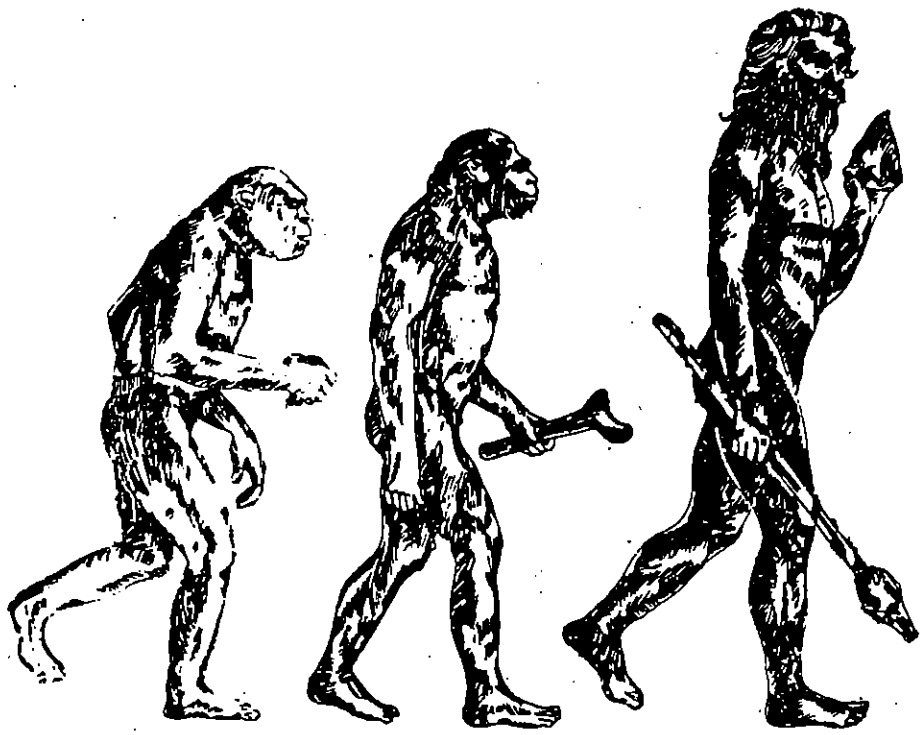

2. मानव का विकास

2.2.2 नवपाषाण युग

नवीन पाषाण युग 10,000 से 12,000 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था । इस युग में मानव कुछ हद तक खाने की चीज़ें जुटाकर उन पर नियंत्रण करने में सफल हो गया था । दालें उगाकर और पशुपालन करके खाद्य पदार्थों में और वृद्धि करने लगा था । इस कालावधि की सांस्कृतिक विशेषताएँ मोटे तौर पर उस युग से मेल खाती हैं, जिसे मोर्गन ने **बर्बर** युग की संज्ञा दी है । इसी युग में बर्तन बनाने की कला, ऊन, सन और रुई के सूत कातने की कला विकसित हुई । अंत में, घिसाई करके सुडौल पत्थरों को नुकीला करके बनायी गयी कुल्हाड़ियाँ भी इसी युग में प्रयोग में आने लगीं । इस सब का प्रभाव परवर्ती युग पर इतना गहरा पड़ा कि इसे ''नवपाषाण क्रांति'' का नाम दे दिया गया, जिसका अर्थ यह है कि इसके बाद महान संक्रांति का काल आरंभ हो गया । इस युग के पुरावशेषों में (डेन्यूब नदी के किनारे बहुत से गाँवों में) बड़ी संख्या में चकमक पत्थर के बने तीरों के सिरे, हड्डी की बर्छियाँ और गाँवों में हड्डी के बरछों के सिरे भी मिले हैं । फावड़े जैसे औज़ार, हँसिया आदि बड़ी संख्या में मिले हैं ।

3. (अ) पत्थर के औज़ार

हाथ की कुल्हाड़ी (केनया, 800,000 वर्ष प्राचीन)

पत्ती की नोकवाला जयपत्र (पश्चिम एशिया, 60,000-50,000 वर्ष प्राचीन)

खुरचनी (पश्चिम एशिया 60,000–50,000 वर्ष प्राचीन)

3 (ब) अपरिष्कृत हाथ की कुल्हाड़ी
(केनया, 800,000 वर्ष प्राचीन)

3 (स) क्लीवर
(केनया, 800,000 वर्ष प्राचीन)

इनसे यह भी प्रमाणित होता है कि अनाज उगाने में नवपाषाण वादी बर्बर लोगों का योगदान कितना महत्वपूर्ण रहा है । ऐसे प्रमाण भी मिले हैं कि इस युग में अनाज-भंडार या भंडार घरों का अस्तित्व भी था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि लोग अपनी वर्तमान जरूरतें पूरी करके फालतू बचे अनाज को जमा करके रख लेते थे ।

2.2.3 कांस्य युग

औज़ार-निर्माण में अगली क्रांति लगभग 5,000 वर्ष पूर्व अर्थात् 3,000 वर्ष ईसा-पूर्व के आसपास कांस्य युग में हुई । इस युग में लोग शहरों में रहने लगे, कुशल कारीगर, व्यापारी, पुरोहित, शासक और लेखकों-लिपिकारों के पेशे शुरू हुए । इसी काल में इतिहास में लेखन का भी आरंभ हुआ । इस युग में औज़ार और हथियार बनाने के लिए प्रमुख धातुओं के रूप में ताँबे और काँसे का प्रयोग किया जाता था, इसलिए इस युग का नामकरण कांस्य युग किया गया है जो उचित ही है । काँसे के औज़ार प्राप्त करने के लिए समुदाय के लोगों ने धातुओं की खुदाई, गलाई और धातुकर्म के लिए विशेषज्ञों को प्रोत्साहित किया, क्योंकि काँसे की कुल्हाड़ी के लिए विज्ञान की जितनी जानकारी आवश्यक थी, पाषाण युग में उतनी जानकारी नहीं थी । 3000 वर्ष ईसा-पूर्व में न केवल कांसे के निर्माण के लिए ताँबा और राँगा मिलाने की विधि का ज्ञान भारत, मैसोपोटामिया और यूनान के लोगों को था, बल्कि चक्र (पहिये) की खोज भी तब तक की जा चुकी थी । चक्र की खोज से परिवहन के क्षेत्र में एक नयी क्रांति का सूत्रपात हुआ और उस काल में दो व चार पहियों वाली गाड़ी का आम चलन हो गया ।

4. सिंधुघाटी से प्राप्त रथ, (3,500 ई. पू.-2500 ई. पू.)

3000 वर्ष ईसा पूर्व में जलमार्ग से परिवहन को बढ़ावा देने के लिए हवा का भी ऊर्जा के प्रमुख स्रोत के रूप में प्रयोग किया जाने लगा । पोलिनेशिया से मिस्र तक पाल की नौकाएँ भी चलने लगी थीं । मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से पता चलता है कि उस काल में भट्टी में पकी ईंटों का भी इस्तेमाल किया जाता था, जिसका अर्थ यह है कि उस युग में ईंधन की खपत काफी होती थी और कारीगर ऊँचे तापमान को नियंत्रित करने में भी होशियार थे ।

कांस्य-युग में भूमि पर व्यवस्थित रूप से खेती की जाने लगी थी । दलदल और रेगिस्तान की रेतीली ज़मीन को खेती-योग्य बनाकर बड़ी मात्रा में अनाज उगाया जाने लगा था । कृत्रिम जलमार्गों के निर्माण से मौसम की

विभीषिकाओं से समाज को बचाने में मदद मिली । किन्तु असल बात यह है कि यदि मानव ने ताँबे के पिटवाँ और गलनीय रूपों की खोज न कर ली होती तो कांस्य युग का इतना क्रांतिकारी महत्व सिद्ध न होता । ताँबे को मोड़ा जा सकता है, हथौड़े की चोट से अलग-अलग आकार दिये जा सकते हैं और पीट-पाट कर उसकी चद्दरें बनायी जा सकती हैं जबकि चकमक पत्थर से ऐसा नहीं हो सकता । ताँबे को यदि बहुत गर्म किया जाये तो वह पिघल कर द्रव्य बन जाता है और तब उसे किसी भी आकार में ढाला जा सकता है और ठंडा होने पर उसका वही आकार बना रहता है । इसके अलावा ताँबे में पत्थर, हड्डी और लकड़ी के सभी गुण होते हैं । इसे पत्थर की तरह काटकर नुकीला बनाया जा सकता है और यह टिकाऊ भी अधिक होता है । ताँबे का औज़ार यदि टूट जाए तो उसे आसानी से फिर से ढाला जा सकता है और इसी कारण पत्थर के औज़ारों के मुकाबले इसे बेहतर माना जाता रहा है । इसलिए कांस्य युग में ताँबे को सभी प्रकार के औज़ारों में प्रयोग किया गया ।

2.2.4 लौह युग

लौह युग 1200 ईसा-पूर्व के आसपास आरंभ हुआ । ताँबा और रांगा तो काफी दुर्लभ और महँगे होते हैं, लेकिन लोहा उनके मुकाबले पृथ्वी के गर्भ से निकलने वाली सबसे आम धातु है । (इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय लोहा आसानी से मिलने वाली धातु थी । वास्तव में प्रारंभ में तो यह दुर्लभ था ।)
ज़मीन से लोहे की खुदाई ताँबे की तरह ही की जाती है, फर्क सिर्फ इतना है कि ताँबा पिघलाने के लिए जितने तापमान की ज़रूरत है, खनिज लोहा उससे कहीं अधिक तापमान पर पिघलता है । आरंभ में, केवल **पिटवाँ** लोहा ही बनाया जाता था और हथोड़े की चोट से उसे अलग-अलग आकार दिये जाते थे । यह स्थिति तब तक बनी रही, जब तक कि आर्मीनियन पहाड़ी पर रहने वाली बर्बर जनजातियों ने लोहे को गलाने की कला का विकास नहीं कर लिया । इसके निर्माण का रहस्य लम्बे अरसे तक गुप्त रखा गया पर धीरे-धीरे यह रहस्य अनेक स्रोतों से विविध प्रकार की संस्कृतियों को पार करते हुए सर्वविदित हो गया ।

कांस्य युग की प्रौद्योगिकी के समय ही यूनान, ऐशिया माइनर, मैसोपोटामिया और मिस्र आदि में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे । यूरेशिया के बर्बर लोगों द्वारा औज़ारों और हथियार के आविष्कारों से इन साम्राज्यों को खतरा महसूस होने लगा था ।

भारत में 1000 ईसा-पूर्व के आसपास लोहे का प्रयोग होता था । खुदाई से प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि 800 ईसा पूर्व के आसपास पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लोहे के हथियारों जैसे बाणों के फलों और बर्छियों आदि का आम प्रयोग किया जाता था । गॉर्डन चाइल्ड के शब्दों में —"सस्ते लोहे ने कृषि, उद्योग और युद्धकला को लोक प्रचलित कर दिया । कोई भी किसान लोहे की कुल्हाड़ी लेकर नयी ज़मीन साफ करके खेती योग्य बना सकता था और पथरीली ज़मीन तोड़कर लोहे के फल लगे हल से खेती कर सकता था । इससे पूर्व बढ़िया औज़ार और हथियार बहुत महँगे हुआ करते थे । लोहे की खोज ने इस फर्क को मिटा दिया"।

5. तक्षिला से प्राप्त लोहे के औज़ार (1 से 5वीं शताब्दी)

बोध प्रश्न 1

नोट: निम्नलिखित प्रश्नों को सावधानी से पढ़ें और सही उत्तरों पर निशान लगायें । आप पायेंगे कि एक से अधिक उत्तर सही हैं:

1 पुरा पाषाण युग के दौरान लोग भोजन प्राप्त करते थे:

i) फसल उगाकर

ii) शिकार से

iii) जंगल से इकट्ठा करके

iv) दूसरे देशों से आयात करके

2 निम्नलिखित कथनों में कौन-से सही हैं, कौन-से गलत ?
नवीन पाषाण युग के दौरान :

i) अपने खाने के बाद फालतू अनाज उपलब्ध नहीं था

ii) लोग कुल्हाड़ी बनाने की तकनीक से परिचित नहीं थे

iii) लोग पशुपालन करते थे

iv) हथियार बनाने के लिए हड्डियों का प्रयोग किया जाता था

3 काँसे के औज़ार निम्नलिखित धातु से बनाये जाते थे :

i) ताँबे से

ii) राँगे से

iii) ताँबे और लोहे को मिलाकर

iv) ताँबे और राँगे को मिलाकर

4 पवन शक्ति और चक्र का प्रयोग पहली बार निम्नलिखित युग में किया गया :

i) प्राचीन पाषाण युग में

ii) नवीन पाषाण युग में

iii) लौह युग में

iv) कांस्य युग में

5 लौह युग में लोहे का प्रयोग निम्नलिखित के लिए किया गया :

i) बंदूकें बनाने के लिए

ii) जंगल साफ करने के वास्ते कुल्हाड़ी बनाने के लिए

iii) खेत जोतने के लिए

iv) मशीनें बनाने के लिए

2.3 औज़ार निर्माण और संस्कृति की विकास-यात्रा

मानव खास तौर पर शैशव में सबसे अधिक सुकुमार होता है । जब तक शिशु कुछ बड़ा नहीं हो जाता, बहुत लंबे अरसे तक उसे पालना-पोसना पड़ता है । यह बात अब तर्क से सिद्ध हो गयी है कि मानव-शिशु के समाजीकरण और संरक्षणात्मक पोषण के इस दौर में ही मानव समाज और संस्कृति के साथ जुड़ता है । मस्तिष्क की अपनी अतिरिक्त क्षमता के बल पर ही मानव अन्य प्राणियों को अपने अधीन करने में सफल हो पाता है। तब हम कह सकते हैं कि मानसिक क्षमता के विकास से ही संस्कृति का जन्म होता है और कालांतर में इसी संस्कृति में नये-नये पक्षों के जुड़ने से उन शक्तियों का विस्तार होता है जिन्हें यह बढ़ी हुई मानसिक क्षमता जन्म दे सकती है।

होमोसैपियन (बुद्धिमान मानव) के आगमन से प्रौद्योगिकी और संस्कृति का जन्म हुआ और उसके बाद हम पाते हैं कि उसका विकास भी तीव्र गति से होने लगा । अत: यह निर्विवाद सत्य है कि औज़ार बनाने वाले प्राणी के रूप में मानव अपनी ही रचनाओं का विस्तार करता है और उनमें सुधार लाता जाता है । हम यहाँ सार्वभौम मानव की चर्चा कर रहे हैं क्योंकि किसी भी जाति, पंथ और रंग का होते हुए भी मानव में समान गुण होते हैं और सब होमोसैपियन हैं । पुरा पाषाण काल से ही मानव केवल औज़ार बनाने वाला, शिकार खेलने वाला और संतान पैदा करने वाला प्राणी नहीं था । उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति थी, आत्मा के संबंध में उसकी जीवंत धारणा

थी, वह बलि देता था और मृतकों को समारोह के साथ गाड़ता था । इतना ही नहीं, उसकी आध्यात्मिक संस्कृति चित्रकला, निक्षारण और उत्कीर्णन से समृद्ध थी ।

नव पाषाण युग में आदि मानव की संस्कृति ने एक और छलांग भरी । गेहूँ, जौ उगाने की क्षमता से, पशुपालन से, और बर्तन बनाने की कला से उसकी संस्कृति का और उत्कर्ष हुआ । इस युग में शराब बनाने या बर्तन बनाने की नयी-नयी विधियों के आविष्कार और खोज से नव पाषाण युग की महिलाओं का योगदान सामने आया । एक ओर पुरुष ज़मीन साफ करता, झोपड़े बनाता, शिकार करता, पशुओं की देखभाल करता और आवश्यक औज़ारों का निर्माण करता, दूसरी ओर महिलाएँ ज़मीन जोततीं, खाना बनातीं, सूत काततीं और मिट्टी के बर्तन पकातीं । वे जादुई तथा अन्य अनुष्ठानों के लिए गहने तथा अन्य चीज़ें भी तैयार करती थीं ।

2.3.1 सामाजिक संस्थाएँ और अंत:क्रिया

नव पाषाण युग का मानव फिर भी बहुत अलग-थलग था । उस समय के गांव आम तौर पर आत्मनिर्भर होते थे और अनाज का उत्पादन सिर्फ इतना ही होता था, जिससे मौजूदा आबादी का पेट भर जाये । और अधिक अनाज उगाने का कोई प्रोत्साहन नहीं था । ये गांव भी आम तौर पर बंजर रेगिस्तानों से घिरे हुए नखलिस्तानों में होते थे या फिर पहाड़ों की तलहटी में या घने जंगलों को काट कर बसाये गये होते थे । इसीलिए नव पाषाण युग के मानव के लिए यह कठिन था कि वह बाहरी जगत के लोगों से संबंध बनाये रख सके । अपेक्षाकृत अधिक विकसित भूमध्यसागरीय क्षेत्र में और उसके नजदीक पूर्व में ही अलग-अलग गांवों और बस्तियों के लोगों में आपस में कुछ अधिक क्रिया-प्रतिक्रिया थी ।

नव पाषाण युगीन विज्ञान में प्रगति के बावजूद, जो कि बर्तन बनाने, खाना पकाने, शराब निकालने और पेड़-पौधों के प्रयोगों में देखी जा सकती है, बड़े सरदार या मुखिया की धारणा अथवा नेतृत्व का सिद्धांत अभी तक सामने नहीं आया था। लगता है आदि नव पाषाण मानव शांत रहा होगा । नव पाषाण युग की बस्तियों में युद्ध के हथियारों के बजाय शिकार करने के औज़ार अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं । कब्रों और कब्रिस्तानों की संख्या की तुलना करने से भी यह तथ्य उजागर होता है कि पूर्ववर्ती पाषाण युग के मुकाबले नव पाषाण युग में आबादी कहीं अधिक थी । इससे साफ ज़ाहिर होता है कि सामग्री के निर्माण में पहले से बहुत परिष्कार हो चला था ।

2.3.2 श्रम की विशेषज्ञता और विभाजन

तांबे और कांसे के प्रयोग से एक नयी क्रांति का सूत्रपात हुआ । इस युग में धातुकर्मी और कारीगरों के रूप में विशेषज्ञ सामने आने लगे । उनके अपने समूह और पेशे बनने लगे ताकि वे अपने काम के गुर औरों के हाथ न लगने दें । धातुओं के औज़ारों के विकास से एक स्थायी शासक वर्ग उभरने लगा । छोटी-छोटी अलग-अलग बस्तियों और गांवों के बीच भी परस्पर सम्पर्क अधिकाधिक बढ़ने लगा । हल के विकास से ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों के बजाय बड़े पैमाने पर खेती की जाने लगी । इस से स्त्रियाँ विस्थापित होने लगीं । महिलाएँ ज़मीन को खेती योग्य बनाती थीं और पुरुष उस पर हल चलाते थे । इस प्रक्रिया में संभवत: पहला कदम यही था कि खेतों पर हल चलाने के लिए बैलों का प्रयोग आरंभ किया गया । इस प्रकार हल की फाल का आविष्कार हुआ होगा ।

2.3.3 शहरी क्रांति

कांस्य युग में एक शहरी क्रांति भी आयी । सुमेर और अक्कड़ इस युग की महान् शहरी सभ्यताएँ थीं । शहर अनेक गतिविधियों के केंद्र बनने लगे थे । यहाँ मन्दिरों का निर्माण किया जाता था । इसमें हजारों कामगारों की निगरानी करने और काम की हिदायतें देने वालों की ज़रूरत पड़ती थी । इसके लिए आरंभ में स्थापत्य योजना बनानी पड़ती थी । डोरी या सूत्रों की सहायता से इनका खाका खींचा जाता था । इसलिए यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि भारत में स्थापत्य कला के प्राचीन ज्ञान को "शल्व सूत्र" कहा जाता था । इस प्रकार प्रभावशाली मंदिरों के निर्माण की प्रबंध व्यवस्था देखना भी आवश्यक था । आय और व्यय का भी हिसाब रखना होता था । इसी कारण 2000 ईसा पूर्व के आस पास ही लिपि का आविष्कार हो गया । पूजा-पाठ का घोर संस्थाबद्ध रूप मिलने के कारण यह स्वाभाविक था कि इस कार्य के लिए एक विशेष वर्ग यानी पुरोहित वर्ग उभरकर सामने आये । ये पुरोहित साहित्यिक परंपरा के पहले वाहक थे और इसलिए यह पूर्वानुमान भी किया जा सकता है कि साहित्यिक अभिलेखों में सामान्यत: पुरोहित-वर्ग का परिप्रेक्ष्य ही दिखाई पड़ता है।

इसी समय से अमीर और गरीब में भेद बढ़ने लगा । अमीर लोग गरीबों के विरुद्ध लूट खसोट, दुर्व्यवहार, गुलामी और शोषण के अन्य तरीकों का अधिकाधिक प्रयोग करने लगे । कांस्य युग में मानव ने जो प्रविधिगत परिष्कार प्राप्त कर लिया था उसी से यह सब संभव हुआ । इसी परिष्कार के कारण अतिरिक्त अनाज जमा किया जाने लगा और इसके परिणामस्वरूप स्तरीकरण हुआ और सामाजिक ऊँचनीच की व्यवस्था बनने लगी ।

शहरी क्रांति से ज्ञान में भारी अभिवृद्धि हुई । ज्यामिति, अंकगणित, चिकित्सा-विज्ञान और धर्मशास्त्र का तेज़ी से विकास हुआ । मिस्री विज्ञान के चिन्हों को अधिक बारीकी से और अधिक परिशुद्धता के साथ दिखाया जाने लगा । नील घाटी में सौर पंचांग का विकास हुआ । कांस्य युग की अन्य सभ्यताओं के समान मोहनजोदड़ो और

हड़प्पा में भी, जो परवर्ती कांस्य युग की आरंभिक सभ्यताएं हैं, ज्ञान की इस क्रांति की अनेक विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं ।

फालतू अनाज के उत्पादन से, परिष्कृत औज़ारों के निर्माण से और शिक्षित वर्ग की वृद्धि से धार्मिक व्यवस्था को अधिक संस्थाबद्ध स्वरूप मिलने लगा और कर्मकांड भी बढ़ने लगा ।

2.3.4 महान् धर्मों का उदय

कांस्य युग में बौद्धिक विकास अधिक परिष्कृत हो गया । सिंधु घाटी की सभ्यता इसका अच्छा उदाहरण है । इसके अतिरिक्त वेदों और उपनिषदों में ज्ञान का अद्भुत भंडार है, जिसमें न केवल जीवन की दिन-प्रतिदिन की स्थितियों की चर्चा है बल्कि मानव जीवन के गंभीर रहस्यों और दार्शनिक पक्षों का भी विवेचन है । धार्मिक सिद्धांतों तथा जन जीवन का विस्तृत-विवेचन उनमें मौजूद है ।

कांस्य युग के बाद भी धार्मिक मत-मतांतरों का विभिन्न रूपों में विकास होता रहा । भारत में लगभग 500 वर्ष ईसा पूर्व गौतम बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया और बौद्ध धर्म चलाया । लगभग इसी समय या संभवतः इससे एक शताब्दी पूर्व चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशियस ने ताओवाद और कन्फ्यूशियसवाद का प्रचार किया । पूर्वी ईरान में लौह युग के आरंभ में महान् संत जरथुस्त्र का जन्म हुआ । इस प्रकार हम देखते हैं कि कांस्य युग में पुरोहितों की धार्मिक परंपराओं में विभिन्नताओं की प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी । लौह युग में सबसे बड़ी समस्या भी व्यक्ति और समाज में सामंजस्य की थी । यूनान और भारत में एक नया दर्शन उत्पन्न हुआ और उन्होंने प्रकृति को अणुओं के एक संघात के रूप में देखना आरंभ कर दिया और इसके परिणामस्वरूप यूनान में "ऐटम" और भारत में "अणु" का सिद्धांत विकसित हुआ ।

बोध प्रश्न 2

नोट : अपने उत्तर दी गयी खाली जगह में ही लिखें ।

1 कांस्य युग और लौह युग में उत्पादन व्यवस्था में कौन-कौन से मुख्य परिवर्तन हुए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 नीचे कुछ कथन दिये गए हैं । बताइए कि वे सही हैं या गलत —

i) ऐसा लगता है नव पाषाण युगीन मानव शांतिप्रिय था ।

ii) नव पाषाण युग में जनसंख्या घट रही थी।

iii) पाषाण युग में शहरीकरण हो गया था ।

3 शहरी क्रान्ति के बारे में पाँच पंक्तियों में लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 मानव और प्रकृतिः अनुकूलन और अंतःक्रिया

यह बताने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता कि जलवायु और भूगोल की भिन्नता के कारण जातियों और संस्कृतियों में किस प्रकार अंतर पैदा हुए । पहले हमने विज्ञान, प्रौद्योगिकी और मानव की औज़ार-निर्माण-क्षमता के साथ-साथ संस्कृति, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में उसकी उन्नति का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है उसमें आपने देखा होगा कि भूगोल के भेद के आधार पर इन मानवीय भेदों को समझना संभव नहीं है । कांस्य-युग या नव पाषाण युग का प्रभाव किसी एक भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि पूरे यूरोप और एशिया में फैला हुआ था । अनेक कलात्मक और आध्यात्मिक उपलब्धियों के समान पुरापाषाण युग का अंधकार भी चारों ओर समान रूप से व्याप्त था ।

2.4.1 अनुकूलन के प्रकार

यह निश्चय ही विचारणीय है कि किस प्रकार औज़ार-निर्माता प्राणी के रूप में मानव ने अपने आपको प्रकृति के अनुकूल ढाला और उस पर विजय भी पायी । सुदूर आर्कटिक क्षेत्र में एस्किमो लोगों ने अपने परिवेश के अनुरूप अपने आपको ढाल लिया । इसी प्रकार मध्य एशिया में घोड़े तथा भेड़ पालने वाले कज़ाकों और किरगिजों ने भी अपने आपको वातावरण के अनुरूप ढाल लिया । दूसरी ओर, यह भी देखा जाता है कि एक ही वातावरण में पले लोगों की जीवन-शैली में कभी-कभी ज़मीन-आसमान का अंतर होता है । उदाहरण के लिये राजस्थान में खानाबदोश जन-जातियाँ रहती हैं और किसी एक स्थान पर बस कर जीवनयापन करने वाली जातियाँ भी । एरिज़ोना में पशु चराने वाले नवाहो और बाढ़ के पानी में खेती करने वाले होपियों का साथ इसी तरह की मिसाल है । इस प्रकार प्रकृति की अन्य संतानों की तुलना में मानव अपने वातावरण से अपेक्षाकृत कहीं अधिक मुक्त होता है । मानव ने अपने क्षेत्र के विभिन्न संसाधनों के उपयोग के अलग-अलग तरीकों का भी पता लगा लिया है । उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर पठार के लोगों को लें । वे खेती करते हैं और अपनी जीविका के लिए खनिजों की खुदाई भी करते हैं । इस प्रकार वे प्रकृति के अनुरूप अपने आपको ढाल लेते हैं । फलतः प्रकृति से संपर्क बनाने के सबके अलग-अलग तरीके हैं ।

स्वभावतः पर्यावरण मानव के लिए कुछ बाधाएँ तो खड़ी कर ही देता है । एक ओर एस्किमो गर्म कपड़े पहनने के लिए बाध्य है तो दूसरी ओर संथाल नंग-धड़ंग होकर भी घूम सकते हैं । एस्किमो खेती-बाड़ी नहीं कर सकते, लेकिन अपने अस्तित्व के लिए उन्हें आहार की तलाश तो करनी ही पड़ती है । होपी खेती-बाड़ी के तरीके तो जानता है, लेकिन अपने इलाके की रेगिस्तानी परिस्थितियों से जूझने को बाध्य भी होता है । इस प्रकार वह मकई उगाने के लिए बाढ़ के पानी पर निर्भर रहता है ।

लोग अपने हित में अपने पर्यावरण को बदल भी डालते हैं । जहाँ काटकर और जलाकर खेती की जाती है, वहाँ ज़मीन को उपजाऊ बनाने के लिए पौधों और झाड़ियों को जलाकर राख कर दिया जाता है । पानी रोकने के लिए बनाया गया बाँध भी अपने पर्यावरण को बदलने का मानवीय प्रयास है । लोगों की इस सहज धारणा के विपरीत कि आदिम समाज में मानव अपने पर्यावरण को रहस्यमय दृष्टि से देखता था, समकालीन नृवंशविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि औद्योगिक युग के साधारण शहरी को देखे आधुनिक समाज में न रहने वाला जनजाति का आदमी प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टा होता है और निश्चय ही पेड़-पौधों और पशु पक्षियों के बारे में ज़्यादा जानता है ।

2.4.2 जनजातियाँ और उनके अनुकूलन के प्रकार

जनजातियाँ जब तक आधुनिक सभ्यता से अछूती रहीं, अधिक बड़े इलाके में घूमा-फिरा करती थीं । नवपाषाण युग के मानव के समान वे जिस भूमि पर फसलें उगाकर उसकी पोषकता को खत्म कर देती थीं, उस मिट्टी को फिर से पोषक बनाने का प्रयास भी करती थीं । यद्यपि जनजातियाँ काफी बड़े इलाके में खेती-बाड़ी करती थीं, फिर भी उस ज़मीन को कुछ समय के लिए खाली छोड़ देती थीं । वहाँ पौधे उगाये जाते थे, ताकि फिर से जंगल उग सकें । इस तरह वे प्रकृति का संतुलन बनाये रखते थे और इसमें उन्हीं का हित था ।

"आदिम" मानव प्रकृति और पर्यावरण के साथ समझौता करके रहता था । कुछ मामलों में तो उसने यह भी जान लिया था कि प्रकृति को कैसे बस में किया जाये । खेती-बाड़ी के काम में यह बात सबसे साफ तौर पर प्रकट होती थी । वह प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग में भी किफायत बरतता था । आस्ट्रेलियाई जनजातियाँ जब कंगारू का गोश्त खा लेती थीं तो उसकी हड्डी को औज़ारों के रूप में इस्तेमाल करती थीं, पंजों को गले के हार के रूप में, नसों को बरछा बाँधने की रस्सी के रूप में और चर्बी को सौंदर्य-प्रसाधन के रूप में और खून को कोयले के साथ मिलाकर रंग की तरह इस्तेमाल करती थीं । साधारण जनजाति का मनुष्य यह भी जानता था कि कुछ जड़ी-बूटियों के रगड़ने से या उसे धुआँ देने से गोश्त काफी समय तक खराब नहीं होता है ।

जनजातियों की दवा-दारू के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें से अधिकांश दवाएँ प्रकृति पर आधारित थीं । यह दुर्भाग्य की बात है कि देसी दवाओं के अधिकांश अध्ययन अतिप्राकृतिक पक्षों पर ही ज़ोर देते हैं ।

6. एक जनजातीय शिकारी

वस्तुत: जनजातियों के ज्ञान विज्ञान में प्रकृति पर आधारित दवाओं को अलग रखा गया है, जिनसे बीमारियों का इलाज किया जा सकता है । ऐसी बीमारियाँ बहुत कम हैं जिनका इलाज अतिप्राकृतिक ढंग से किया जाता है । दूसरे शब्दों में, मानव निरन्तर प्रयोग और प्रेक्षण द्वारा अपने पर्यावरण की सीमाओं के भीतर अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहा है । जनजाति के लोगों को पेड़-पौधों, रेशों, जड़ों, पत्थरों, मछली, प्राणियों आदि के उन गुणों की भी जानकारी होती थी जो उनसे उजागर नहीं थे । वे ग्रहों के चक्र, ज्वार-भाटे, वातावरण, मौसम आदि के बारे में भी कुछ न कुछ जानकारी रखते थे, वे इनके संकेतों को समझ सकते थे । जबकि गैर-जनजाति के लोग इन्हें नहीं समझ पाते । इसी ज्ञान के आधार पर वे मौसमों, प्राकृतिक विनाश, महामारी आदि की अवधि, विस्तार और उत्कटता का पूर्वानुमान कर सकते थे । किसान और लोक-समुदाय के आम लोगों को भी इनकी और अच्छी जानकारी होती थी और वे अपने ज्ञान में निरंतर वृद्धि करते रहते थे ।

2.4.3 खानपान की आदतें और वर्जनाएँ

खानपान की आदतों और वर्जनाओं का संबंध ऐसे रिवाजों से है जिनके अनुसार कुछ लोग किसी खास चीज़ को खाना पसंद करते हैं और किसी चीज़ को नापसन्द । यह हमेशा संभव नहीं हो पाता कि खानपान की आदतों और वर्जनाओं का तार्किक आधार पूरी तरह समझाया जा सके । मानव आखिरकार एक सांस्कृतिक प्राणी है और आम तौर पर खानपान की आदतों से ही एक ही इलाके में रहने वाले लोगों के आपसी अंतर को समझ जाता है । बंगाल से लेकर कन्याकुमारी और गुजरात तक फैले समुद्रतट पर कुछ बुनियादी समानताओं के बावजूद खानपान की आदतों और परहेज में भारी विविधता है । एक बंगाली भद्रलोक मछली को बड़े आनन्द से खाता है, लेकिन उसके विपरीत गुजराती अपनी रसोई में उसका प्रवेश भी नहीं होने देता । यह सर्वविदित ही है कि मुस्लिम गोमांस और बकरे का मांस खाते हैं, लेकिन सूअर के मांस को हाथ भी नहीं लगाते । कुछ हिंदू बकरे का मांस और चिकन खा लेते हैं, लेकिन गोमांस को हाथ भी नहीं लगाते । कुछ लोग अंडा तो खा लेते हैं, लेकिन अंडा देने वाली मुर्गी को नहीं खाते । खानपान की आदतों से संबंधित पाबंदियों और वर्जनाओं के कारण भी हैं । उदाहरण के लिए, गाय को इसलिए नहीं मारा जाता था कि कृषि-समाज में गाय-बैल का बहुत महत्व था । शायद सूअर का मांस खाना इसलिए वर्जित था कि उस जमाने में अरब लोगों ने यह महसूस किया था कि वे जब भी कभी सूअर का मांस खाते थे, बीमार हो जाया करते थे ।

2.5 मानव और प्रकृति : निर्भरता, विजय और सामंजस्य

पुरापाषाण युग से ही अपने औजारों के माध्यम से प्रकृति के साथ मानव की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही है और वह अपने आपको प्रकृति के अनुकूल ढालने का प्रयास करता रहा है । पुरापाषाण काल के मानव या झोपड़ी में

रहने वाले कलाहारी मानव के औज़ार बहुत मामूली थे. जैसे बुवाई के लिए फाली, घासपात काटने की कटार या हड्डी की कुदाल । लेकिन इन्हीं औज़ारों की सहायता से वह अपना भोजन, घर और शरीर ढकने के लिए प्रकृति के साथ संपर्क बनाता था ।

नव पाषाण युग के बाद मानव शिकार करने और ढोने तक सीमित नहीं रहा । अब वह बेहतर औज़ार और अधिक विकसित वैज्ञानिक ज्ञान के माध्यम से प्रकृति में बहुत कुछ लगाने लगा था । वह आश्वस्त था कि अब वह पर्याप्त भोजन जुटा सकता है । लेकिन इससे धीरे-धीरे मानव के बीच वैमनस्य और असमानताएँ बढ़ने लगीं । दक्षिण अफ्रीका के होटेनटोट्स, अभी कुछ समय पहले तक जो शिकार करके भोजन सामग्री जुटाया करते थे । वहाँ व्यक्ति का भविष्य उसके समूह के जीवन के साथ पूरी तरह जुड़ा हुआ था समूह से अलग होकर व्यक्ति रूप में जीवन यापन करना संभव नहीं था । ऐसी स्थिति में कोई भी मानव खुद शिकार मानकर दूसरों के साथ बाँटे बगैर नहीं खा सकता था । उसके औज़ार इतने मामूली थे कि उसे अपने अगले शिकार का कुछ भी भरोसा नहीं होता था । इसलिए वह अपने साथियों के साथ पूरे समुदाय के सुख-दुख बाँटने के लिए लाचार था ।

आज भी हम नव पाषाण युग के मेधावी मानव का ही विकसित रूप हैं जिसने पहले-पहल कृषि के माध्यम से प्रकृति का व्यवस्थित ढंग से उपयोग करना सीखा । नव पाषाण काल से लेकर अब तक मानव का यही प्रयास रहा है कि वह अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्रकृति को उत्तरोत्तर अपने अनुकूल ढालता रहे । कृषि का विकास और पशुपालन, काँसे और लोहे की खोज तथा स्वचालित मशीनों और गाड़ियों का आविष्कार प्रकृति पर विजय पाने के हमारे बढ़ते प्रयासों के उदाहरण हैं । प्रकृति संपर्क के दो पक्ष हैं : (1) अपने को प्रकृति के सहज अनुकूल ढालना, (2) प्रकृति पर विजय पाने का प्रयास । प्रकृति की विशाल शक्तियों को देखते हुए यदि तुलना की जाय तो अब तक मानव अपने लाभ के लिए उसका उपयोग पूरी तरह से नहीं कर पाया है आज के समाज फिर भी प्रकृति के प्रति अक्सर बहुत आक्रामक रुख अपनाते हैं और इस बात का कतई ध्यान नहीं रखते कि प्रकृति के उपयोग की भी कुछ सीमाएँ हैं, कुछ बंधन हैं।

मानव का यह स्वभाव है कि वह नये-नये शिखर छूने के लिए बड़ी व्यग्रता से प्रयास करता है लेकिन इस प्रक्रिया में उसे बार-बार विचार करते रहना चाहिए । अपने औज़ारों और प्रौद्योगिकी को प्रकृति के अनुरूप बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए और हमेशा ही प्रकृति को अंधाधुंध नष्ट करते चले जाने और उस पर विजय पाने के लिए उतावला नहीं होना चाहिए । हम निराशा से भर उठते हैं जब हम अपने चारों ओर ज़मीन और पहाड़ों पर से जंगल कटते हुए और जल और वायु का प्रदूषण होते हुए देखते हैं । उतनी ही निराशा से हम उद्योगों और प्रौद्योगिकी के विकास को देखते हैं क्योंकि वे बड़ी एकाग्रता से हमारे प्राकृतिक साधनों का विनाश कर रहे हैं । हम यह नहीं कहते कि हमें विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कारों की राह से वापस लौट आना चाहिए । इसका न तो कुछ फल होगा और न ऐसा करना समय के अनुरूप होगा । हमारी समस्या का समाधान नयी प्रौद्योगिकी के आविष्कार और उपयोग पर निर्भर है । हम अतीत के गर्त में खोये शिकारियों और लोगों के भयानक और दुखद जीवन को नहीं भूल सकते और यह भी नहीं भूल सकते कि वे किस प्रकार अनगिनत बीमारियों के शिकार होकर भयानक कष्ट से गुज़रते हुए असहाय अवस्था में मरे। विज्ञान के चमत्कारों ने मानव को दीर्घजीवी बनाया है और अब अगर विज्ञान मानव-जाति को चिरंजीवी बना सके तो कितना अच्छा होगा।

बोध प्रश्न 3

1 आदिवासी (जनजाति के व्यक्ति) के जीवन के बारे में आप क्या जानते हैं ? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 मनुष्य और प्रकृति के बीच संबंध का क्या रूप रहा है ? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 सारांश

प्रकृति ने मानव को एक विचारशील और सक्रिय प्राणी के रूप में रचा है । उसके जैविक विकास से उसे औज़ार बनाने, प्रकृति के साथ अनुकूल संबंध स्थापित करने या आवश्यकता पड़ने पर उसे नियंत्रित करने की क्षमता मिली, विकास की प्रक्रिया में पत्थर के औज़ारों के स्थान पर धातु के औज़ार बनने लगे। पहले काँसे के फिर लोहे के । प्रत्येक अगले चरण ने संस्कृति, कला, सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वासों और आर्थिक संसाधनों के विकास में योगदान किया । काँस्य युग में पेशेवर संगठन और शहरी बस्तियाँ बनीं, लौह युग में जटिल सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ और विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान और गणित-विज्ञान की संस्थाएँ बनीं, जिनके परिणामस्वरूप आगे चलकर समकालीन ऐतिहासिक सभ्यता का उदय हुआ । काँस्य-युग में धीरे-धीरे लेखन-कला का विकास हुआ । यह कला पूर्ण रूप से लौह युग में जाकर विकसित हुई ।

संस्कृति के भौतिक पक्षों का विकास, विचारों, मूल्यों और सामाजिक संस्थाओं के विकास के साथ ही हुआ । औज़ार-निर्माण की क्षमता के कारण मानव प्रकृति के साथ अनुकूलता स्थापित करने में और उस पर नियंत्रण करने में भी सक्षम हो गया । इस अनुकूलन के संबंध में ही आज हमारी सभ्यता के सामने एक खतरा उत्पन्न हो गया है । आज की औद्योगिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में हमारे लिए यह और भी आवश्यक हो गया है कि प्रकृति के साथ हमारे संबंध अधिकाधिक मैत्रीपूर्ण रहें ।

2.7 शब्दावली

अनुकूलन : वह प्रक्रिया जिससे मानव स्थितियों से समायोजन करता है ।

संस्कृति : संपूर्ण, जीवन पद्धति, कलाएँ, सोच-विचार के तरीके, नियम और विनियम जिनसे समाज का संचालन होता है ।

पर्यावरण : जो मानव के चारों ओर होता है जैसे वातावरण, इमारतें, पेड़ आदि ।

विकासपरक : एक अपरिवर्तनीय प्रक्रिया, जिससे जीव या संस्था उच्चतर अवस्था में पहुंचते हैं, जैसे मानव का विकास, बंदर से हुआ ।

संस्था : वे मानक और नियम जो सामाजिक प्रक्रिया और संगठन के अंग बन गए हैं ।

धातुकर्मी : वह आदमी, जो धातु को पिघलाता और मोड़ता है ।

एकाश्म : एक ही पत्थर से बनी विशाल इमारत ।

रहस्यमय : मानव मन की अंतर्दृष्टि और दिशा की खोज ।

पाषाणयुगीन : नयी पाषाण संस्कृति, जहां मानव कई शताब्दियों पूर्व अधिक बेहतर किस्म के पत्थर के औजारों का इस्तेमाल करते हुए रहता था ।

निर्वाण : पार्थिव बंधन और संघर्षों से अंतिम आध्यात्मिक मुक्ति ।

नवपाषाण युगीन : प्राचीन पाषाण संस्कृति, जब मानव शिकार और कटाई के लिए तराशे हुए पत्थरों के औज़ार इस्तेमाल करता था ।

वर्जना : निषेधात्मक बंधन वह जो नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इससे सामाजिक नियम टूटते हैं ।

प्रौद्योगिकी : औद्योगिक कलाओं की व्यवस्था का विज्ञान, जिसमें जटिल औजारों का प्रयोग किया जाता है ।

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 ii), iii)
2 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) सही
3 i)
4 i)
5 ii) iii)

बोध प्रश्न 2

1 देखें भाग 2.3.2
2 i) ✓ ii) × iii) ×
3 देखें भाग 2.3.3

बोध प्रश्न 3

1 देखें भाग 2.4.1 और अपने उत्तर जिखें
2 देखें भाग 2.5

इकाई 3 मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी के रूप में

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 चिंतन-क्षमता

- 3.2.1 विचार और संस्कृति
- 3.2.2 भाषा और संस्कृति

3.3 संस्कृति और जैविकी

3.4 ज्ञान की चिरंतन खोज

- 3.4.1 प्रजातिगत विशिष्ट लक्षण
- 3.4.2 सर्जनशीलता और विज्ञानों तथा मूल्यों का सामाजिक स्वरूप
- 3.4.3 दो संस्कृतियों का विकास
- 3.4.4 विज्ञान तथा मानवता का एकीकरण
- 3.4.5 सत्य की प्रकृति : विज्ञान और धर्म

3.5 धार्मिक तथा लौकिक ज्ञान

- 3.5.1 ज्ञान का जादू-टोना रूप
- 3.5.2 विज्ञान और धर्म का पृथक्करण

3.6 ज्ञान का विभाजन

- 3.6.1 प्रत्यक्षवाद
- 3.6.2 विषय वस्तु : निर्देश तालिका

3.7 ज्ञान का समाकलन

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आप देख चुके हैं कि सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसका प्राकृतिक विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन किया जाता है । केवल मनुष्य ने ही अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए औज़ार बनाए । मनुष्य की चिंतन क्षमता का विकास हमारी संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था और समाज के क्षेत्रों में हुई समस्त प्रगति का मूल आधार है । यह इकाई मनुष्य की चिंतन क्षमता के विकास से सम्बन्धित है । इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समझ सकेंगे कि संस्कृति और जीव विज्ञान में क्या संबंध है ;
- यह विश्लेषण कर सकेंगे कि मनुष्य की ज्ञान पिपासा तथा खोज की वृत्ति से संस्कृतियों का विकास कैसे हुआ ;
- यह पता लगा सकेंगे कि विज्ञान का जादू-टोने और धार्मिक रूप से हटकर वैज्ञानिक और लौकिक रूप में किस प्रकार विकास हुआ; और
- यह जान सकेंगे कि मनुष्य ने समाज के विकास के लिए इस ज्ञान का किस प्रकार उपयोग किया है ।

3.1 प्रस्तावना

विकास की प्रक्रिया ने मनुष्य को अनेक अद्‌भुत क्षमताएँ प्रदान की हैं । केवल मनुष्य में ही प्रतीकों से काम लेने, सोच विचार करने, हँसने और जीवन तथा मृत्यु के रहस्यों के संबंध में प्रश्न करने आदि की योग्यता है । नृविज्ञानी यह अध्ययन करते आए हैं कि मनुष्य में ये क्षमताएँ कैसे विकसित हुईं। मनुष्य की वृहत् कपालीय (मस्तिष्क) क्षमता (जो किसी समय लगभग 500 घन सेंटी मीटर थी तथा अब विकसित होकर औसतन 1450 घन से.मी. हो गई है) का पंद्रह से बीस हजार वर्षों में धीरे-धीरे विकास हुआ है । तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो भाषा के प्रयोग का विकास द्रुत गति से हुआ है, किंतु यह प्रक्रिया मस्तिष्क के बढ़ते आकार से प्रभावित रही है ।

"क्रांतिक बिंदु" विकास के सिद्धान्त और चिंतन-क्षमता के क्रमिक किंतु निरंतर होने वाले सतत् विकास के सिद्धांतों से, जिन्हें आप इस इकाई में पढ़ेंगे मनुष्य के जैव तथा सांस्कृतिक गुणों के बीच संबंधों की पुष्टि होती है ।

इस इकाई में आपको यह भी बताया गया है कि ज्ञान का एक सामाजिक स्वरूप होता है । बचपन में जिस ढंग से व्यक्ति का समाजीकरण तथा सामाजिक प्रयास सर्जनशीलता का रूप और दिशा निर्धारित करती है । अनुशासनों के विभेदीकरण और एकीकरण के सिद्धांतों का आधार केवल सिद्धांत और संकल्पनाएँ ही नहीं होती बल्कि उनके सामाजिक प्रयोग भी होते हैं । समाज में हुए ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक शक्तियों की पारस्परिक क्रियाओं के ही फलस्वरूप जादू, धर्म और विज्ञान का विकास हुआ ।

यह इकाई आपको यह भी बताती है कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में जो विभाजन हुए हैं वे पृथक प्रणालियों की मान्यताओं और ज्ञान की इन दो शाखाओं की विषय वस्तु पर किस प्रकार आधारित है । परंतु इस प्राथक्य को हमेशा न्यायसंगत नहीं माना जाता । इसने दो संस्कृतियों —एक प्राकृतिक विज्ञान और दूसरी मानविकी की विकृति को जन्म दिया है । इसी विकृति के कारण हम ज्ञान के सच्चे स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते जो अंगभूत है ।

इस इकाई में आपका ध्यान भारतीय परंपरा की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है जिसमें योग के सिद्धांत के आधार पर तथा सत्य, शिव और सुन्दर के सिद्धांत के आधार पर ज्ञान का समाकलन किया जाता था । यहाँ यह भी बताया गया है कि यह परंपरा हमें प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों और ज्ञान के अन्य रूपों के सर्जनात्मक संश्लेषण के लिए दिशा-निर्देश प्रदान करती है ।

3.2 चिंतन-क्षमता

मनुष्य के मस्तिष्क के (मानव शरीर के अनुपात में) वृहत आकार ने मनुष्य की संप्रत्ययत (conceptualise) शक्ति को बढ़ा दिया जिससे घटनाओं और अनुभवों को अर्थी-प्रवर्गों या भाषिक प्रतीकों से जोड़ने की क्षमता पैदा हुई जिससे अन्य क्रियाकलाप तथा घटनाओं को समझाया जा सके । इससे मनुष्य को मानसिक पृथक्करण की शक्ति प्राप्त हुई । इसने उन्हें प्राकृतिक परिस्थितियों पर आश्रित रहने से मुक्त कर दिया और उन्हें सुधारने की शक्ति प्रदान की । अब मनुष्य न केवल अपने वर्तमान के बारे में सोच सकता था बल्कि अतीत और भविष्य के बारे में भी चिन्तन कर सकता था । वह अपनी चिंतन शक्ति का प्रयोग जीवन की परिस्थितियों की वास्तविकताओं की प्रत्याशा करने, उन्हें सामने लाने और उनसे आगे निकल जाने के लिए कर सकता था । वह अपना भोजन शिकार करके या सामग्री बटोरकर नहीं जुटाता था बल्कि स्वयं उसे उत्पन्न कर सकता था । वह अपनी बात दूसरों तक पहुँचा सकता था । इससे उसकी सामाजिकता और सांस्कृतिक योग्यता भी बढ़ गई ।

भाषा-संप्रेषण का कार्य प्रतीकों को अर्थ से जोड़ने की क्रिया पर निर्भर होता है । प्रतीकों के प्रयोग के द्वारा अर्थ का संपादन विचार और संस्कृति दोनों में वृद्धि करता है । विज्ञानियों का विचार है कि भाषा का तभी विकास हुआ होगा जब मनुष्य में वास्तविकता से विविक्त होने और उसे संकल्पनात्मक रूप देने की योग्यता आ गई होगी ।

8

3.2.1 विचार और संस्कृति

संस्कृति मनुष्य का एक और विशिष्ट लक्षण है जो मनुष्य की संप्रत्ययन करने और प्रतीकों के माध्यम से उसे व्यक्त करने की योग्यता से पैदा होता है । इसका विकास मनुष्य के जैव विकास की प्रक्रिया के साथ धीरे-धीरे हुआ है । किन्तु विगत बीस हज़ार वर्षों में मनुष्य के जैव विकास का सामाजिक परिवर्तन की गति पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा है जितना उसके सांस्कृतिक विकास का भाषा के प्रयोग से संस्कृति की अधिक संश्लिष्ट अभिव्यक्तियाँ संभव हो पाई और उसने प्रयागत रूप धारण कर लिए । लेकिन संस्कृति का उस समय भी अस्तित्व था जब मनुष्य ने भाषा का प्रयोग करने की योग्यता अर्जित नहीं की थी ।

भाषा-पूर्व प्रतीकों से ही संप्रत्ययीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई । घटनाओं तथा अनुभवों को संकेतों अथवा सचित्र बिंबों के माध्यम से रूपायित करने की अवस्था से निकलकर उन्हें शब्दों और अर्थों के द्वारा रूप प्रदान करने की अवस्था यहीं से शुरू हुई । आदिम मानव तथा बनाए गए गुफा-चित्रों के अध्ययन से उनके आर्थिक तथा सामाजिक इतिहास के विवरण का पता चलता है । इन चित्रों में उस युग के मानव जीवन के सांस्कृतिक पहलू अंकित किए गए हैं । चित्रों का स्थान भाषिक प्रतीकों ने ले लिया । इससे मनुष्यों में अविच्छिन्न संप्रेषण संभव हुआ जिससे सामाजिक तथा सांस्कृतिक सहभागिता बढ़ गई ।

9

(ऊपर) मोहनजोदड़ो की लिपि (3500–2500 ई.पू.)
(मध्य) मैक्सिको से प्राप्त चित्रलिपि (1000 ईसवी)
(नीचे) नंदनागरी लिपि (विजयनगर 1543 ईसवी)

यहाँ फिर हम देखते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में भाषिक प्रतीकों के विकास में समय का काफी अंतर रहा है। यह अंतर चित्र-9 के माध्यम से दिखाया गया है जहाँ हम देखते हैं कि मैक्सिको के चित्रलेख 1000 ईसवी तक इस्तेमाल किये जाते रहे। जबकि भारत में लिपि का विकास 3500 में ही हो गया था।

3.2.2 भाषा और संस्कृति

घटनाओं और अनुभवों के प्रतिरूपण के लिए भाषिक प्रतीकों के प्रयोग की क्षमता ने दूसरों के साथ संचार को अधिक स्थायी बना दिया। इससे सामाजिक प्रथाओं, सांस्कृतिक परंपराओं और सामाजिक संगठनों का आविर्भाव हुआ। इन सभी पहलुओं ने मनुष्य की चेतना को भी प्रखर बनाया। इसी चेतना ने उनके आत्म-बोध, अस्मिता-बोध और उनकी मानवता को सुगठित किया। इसी ने मनुष्य को सृष्टि के अन्य जीवों में प्रतिष्ठित किया। यह जैव तथा सांस्कृतिक विकास की प्रक्रियाओं की ही परिणति है।

भाषिक प्रतीकों का प्रयोग करके प्राप्त संप्रेषण-क्षमता ने ही मनुष्य को उसकी भौतिक तथा परिवेशी पराधीनता से मुक्त कर दिया। इसी से उसके लिए प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओं का वस्तुपरक तथा आलोचनात्मक मूल्यांकन करना संभव हुआ। वह योग्यता मनुष्य के सांस्कृतिक गुणों का ही एक अनिवार्य अंग है।

3.3 संस्कृति और जैविकी

आप यह जानना चाहेंगे कि मनुष्य के सांस्कृतिक और जैविक विकास में परस्पर कोई संबंध है या नहीं इसी संबंध का नृविज्ञानियों और इतिहासकारों ने अध्ययन किया है। उन्होंने सांस्कृतिक विकास के विभिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं जैसे, अधिजैविक सिद्धांत।

अमरीकी नृविज्ञानी अल्फ्रेड क्राउबर (Alfred Kroiber) का विचार है कि मनुष्य में संप्रेषण करने, सीखने और सिखाने पृथक भावों और अनुभवों का सामान्यीकरण करने की क्षमताएँ विकासात्मक इतिहास के एक "क्रांतिक बिंदु" (क्रिटिकल प्वाइंट) पर पहुँचकर उभरीं। मनुष्य की चिंतन करने, प्रतीक समझने और संप्रेषण करने की क्षमता में यह पूर्ण या शून्य उन्नति थी जो संभवत: वल्कुटी (मस्तिष्क की) संरचना में हुए परिवर्तनों का परिणाम था। इसी वल्कुटी (मस्तिष्क) संरचना से नरवानर प्रजाति की एक शाखा का मानवीकरण संभव हुआ होगा। जैविक दृष्टि से यह एक छोटा परिमाणात्मक परिवर्तन था जिसने चिंता करने तथा संस्कृति को बनाने की क्षमता में भारी गुणात्मक अंतर पैदा कर दिया है।

आइए अब सांस्कृतिक विकास के दो सिद्धांतों पर संक्षेप में चर्चा करें:

i) क्रांतिक बिंदु सिद्धांत

"क्रांतिक बिंदु" सिद्धांत के स्वरूप के बारे में जानना बहुत जरूरी है। संस्कृति के "क्रान्तिक बिन्दु सिद्धान्त" को ग्रहण करने का एक कारण यह था कि मनुष्य की चिंतन क्षमता और उसके निकटतम जीवित संबंधियों —बंदर की क्षमता में भारी अंतर था। मनुष्य बोल सकता था, प्रतीकों को समझ सकता था और औज़ार बना सकता था जो कोई दूसरे जीव नहीं कर सकते थे। उदाहरण के लिए आज भी यद्यपि मनुष्य ने चिंपैंजी को अनेक प्रकार के उपकरण चलाना तो सिखा दिया है लेकिन यह बोलना नहीं सीख पाया। इसके अतिरिक्त भाषा का प्रयोग करने, प्रतीक के रूप में समझने और सार ग्रहण करने की क्षमता "पूर्ण या शून्य" क्षमता मानी जाती थी।

इस विकास के चरण हैं: सरल प्रतिवर्त क्रिया (Reflex activity), अनुकूलित प्रतिवर्त (Conditioned responses) संकेतों का प्रयोग, जटिल प्रकृति का व्यवहार और अंत में प्रतीकात्मक चिंतन का प्रयोग। इस सिद्धान्त के पक्षधर मानवविज्ञानियों ने इन्हें एक निरंतर प्रक्रिया न मानकर पृथक उन्नतियों की श्रृंखला माना है। अंत में एक प्रजाति के रूप में मानव की एकता में विश्वास रखने का यह तार्किक परिणाम हुआ कि मनुष्य की मानसिक एकता को भी स्वीकार कर लिया गया। यह कहा जाता है कि मनुष्य जाति के विभिन्न जातिगत वर्गों में विचारधाराओं और मानसिक क्षमताओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं है मनुष्य की संस्कृति तक मात्रा में समानता तथा एकता के माध्यम ही से ऐसा संभव हो सकता था।

ii) विकास-सिद्धांत

संस्कृति के "क्रांतिक बिंदु सिद्धान्त" पर मानवविज्ञानियों के वर्ग ने मतभेद व्यक्त किया है जिनका मत मानव जीवाश्म विज्ञान के अध्ययन के दौरान प्राप्त प्रमाणों पर आधारित है। वे इस मत का खंडन करते हैं कि मनुष्य की सांस्कृतिक क्षमता का आविर्भाव विकासात्मक प्रक्रिया के किसी क्रांतिक बिंदु पर सहसा वल्कलीय अथवा प्रमस्तिकीय उन्नति से हुआ है। इन अध्ययनों में नरवानरों के जीवाश्मों (fossils) के रूपात्मक लक्षण बताए गये हैं जो कुछ अंश तक तो बहुत उन्नत हैं किन्तु कुछ अंश में मंदित हैं। वे द्विपदीय (bipedal) मनुष्य जैसे तो हैं लेकिन उनका मस्तिष्क बंदर जैसा है। यह बात उस साक्ष्य से मेल खाती है कि किस प्रकार के नरवानरों (human apes) में एक अल्प विकसित संस्कृति थी उनमें औज़ार गढ़ने की योग्यता थी और वे शिकार करके जीवन निर्वाह करते थे।

आदिम मानव समूह (austroloatpithicene) विलुप्त नरवानरों का एक वंश था जो 7 लाख 50 हजार वर्ष पहले अफ्रीका में रहता था जिनमें यह अल्पविकसित संस्कृति थी और उनके मस्तिष्क का आकार आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क का लगभग एक तिहाई था। प्रमस्तिकीय क्षमता के इतने निचले स्तर पर भी सोचने की योग्यता और संबद्ध सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रमाण से संस्कृति के सहसा उभर आने की परिकल्पना ही बदल जाती है। बल्कि इससे तो इस संभावना का संकेत मिलता है कि मनुष्य का विकास जैविक विकास और मानसिक तथा सांस्कृतिक विकास के उच्च से उच्चतर स्तरों को क्रमिक रूप से अपनाते रहने से ही हुआ होगा।

इससे पता चलता है कि विकास के जैविक तथा सांस्कृतिक आयामों के बीच जो संबंध थे उनमें अन्योन्य क्रिया होती रहती थी और वे एक दूसरे का रूपांतर करते रहते थे। एक ओर तो मनुष्य की कपालीय क्षमता के आकार में हुई वृद्धि ने संस्कृति और मानसिक योग्यता की गुणता और जटिलता को बढ़ाया तो दूसरी ओर मनुष्य की समाज-प्रेरित सांस्कृतिक परिवेश में रहने की योग्यता ने मनुष्य के वल्कलीय विकास की प्रक्रिया को तेज कर दिया यह एक स्थल (point) विशेष तक अलग-अलग तब तक जारी रहा जब तक कि जैविक विकास दृढ़ नहीं हो गया। इस बात का मनुष्य की प्रकृति के लिए एक महत्वपूर्ण अर्थ है कि सांस्कृतिक विकास उससे पहले भी होता रहा था जब मनुष्य आंगिक विकास में स्थिरता के स्तर तक नहीं पहुँच पाया था।

मनुष्य संस्कृति का निर्माता ही नहीं बल्कि जीव विज्ञान की दृष्टि से उसकी निर्मिति भी है। परंतु विकास की प्रक्रिया में यह निर्मिति निष्क्रिय अभिकर्ता नहीं है। मनुष्य इस प्रक्रिया में सक्रिय सहभागी है। मनुष्य की चिंतन-क्षमता वे सर्जनशीलता और मनुष्य जाति के सांस्कृतिक नयाचार में इस प्रक्रिया ने प्रचुर योगदान किया है।

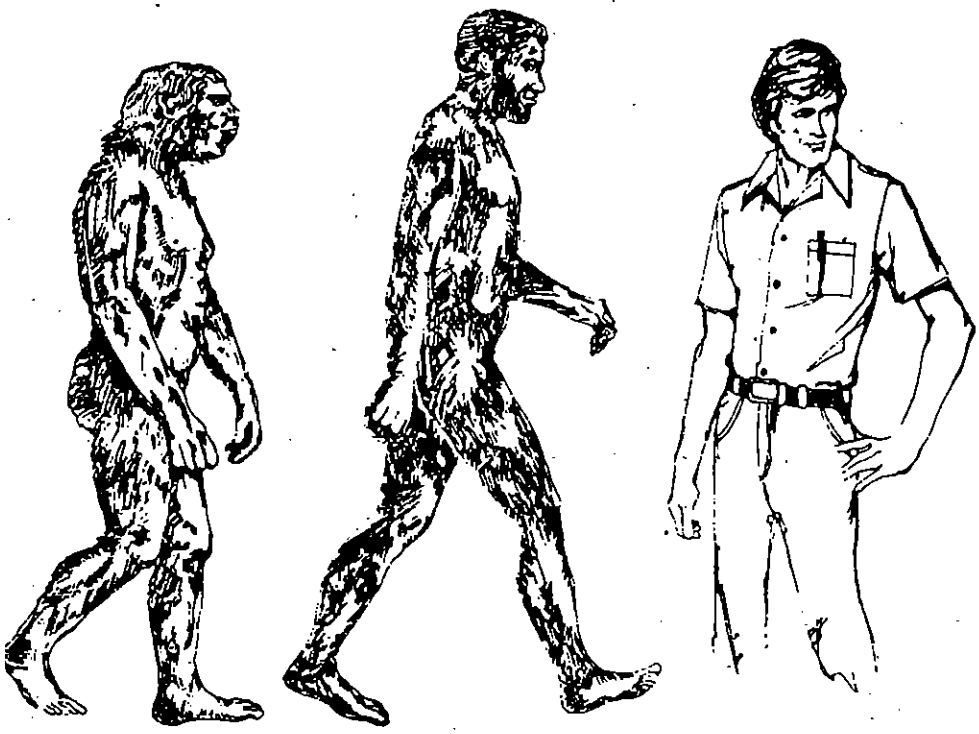

10 मानव का विकास—आदिम से आधुनिक तक

3.4 ज्ञान की चिरंतन खोज

मनुष्य तथा पशुओं के बीच जो कुछ समानताएँ होती हैं, उनकी पहचान कोनार्ड लोरेंज (Konard Lorenz), बी.एफ. स्किनर (B.F. Skinner) तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने की है। लेकिन मनुष्यों और अन्य पशुओं में अनेक समान लक्षण होने के बावजूद मनुष्य अद्वितीय है। यह अद्वितीयता या विलक्षणता उनकी ज्ञान की चिरस्थायी खोज में और उसे प्राप्त करने की क्षमता में परिलक्षित होती है। इसका प्रमाण हमें प्रागैतिहासिक काल से ही मनुष्य द्वारा किए गए वैज्ञानिक आविष्कारों और अन्वेषणों से मिल जाता है।

3.4.1 प्रजातिगत-विशिष्ट लक्षण

मनुष्य में जो चिंतन योग्यता पाई जाती है वह उसकी वल्कलीय क्षमता और उसके व्यवहार के लचीलेपन के कारण संभव हुई है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को एक लंबी अवधि तक बाल्य समाजीकरण से भी गुजरना पड़ता है। यह उसका प्रजातिगत विशिष्टतापूर्ण लक्षण है।

मस्तिष्क ने मनुष्य को उसकी भौतिक तथा पारजगी पर्यावरणीय पर निर्भरता से मुक्त कर दिया। उसने औजार गढ़ने के लिए अपने मस्तिष्क की शक्ति का प्रयोग किया। उसने उसे वाणी भाषा और स्मृति की परिवर्ती शक्ति और अपने अनुभवों को ऐतिहासिक संवेदनशीलता के साथ सुव्यवस्थित करने की क्षमता प्रदान की।

मनुष्य के मस्तिष्क की यह शक्ति बचपन में सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों से गुजरती है। यह मनुष्य के स्वभाव में सुनम्यता और चिंतन शक्ति तथा सांस्कृतिक अनुक्रियाओं से परिवर्तनशीलता उत्पन्न करती है। यह समाजीकरण और परिवार में सीखने की प्रक्रिया से प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता है ज्ञान और सीखने की क्रिया उसके मन में साथ-साथ चलती रहती है और वह अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक परिवेश से अनुभव ग्रहण करता रहता है।

मनुष्य के सांस्कृतिक प्रतिमानों के विशाल परिवर्तन इस बात की पुष्टि करते हैं कि मानव अपने स्वभाव की सुनम्यता के कारण जिन-जिन बातों को ग्रहण करता है उनका चयन तो करता ही है उनमें नव वर्धन भी किस प्रकार संभव बना लेता है। मनुष्य जाति की भाषिक कला, बोलियां, विश्वास प्रणालियां, रहन सहन के ढंगों और सामाजिक प्रथाओं की विविधताएँ मानव स्वभाव की सुनम्यता के प्रतीक हैं।

बचपन का समाजीकरण समाज तथा उसकी मूलभूत प्रथाओं को व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाकलन करता है। प्रतीकीकरण के भाषिक रूप और व्यष्टि तथा समष्टि के बीच पारस्परिक क्रिया से ही संस्कृति और सामाजिक संगठनों के सुदृढ़ आधार का निर्माण होता है।

किंतु यह संबंध स्थिर नहीं होता। समाजीकरण के माध्यम से मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के मूल्यों और मानदंडों को ग्रहण करता है, उसकी भाषा सीखता है और अपनी संज्ञानात्मक तथा भावात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करता है। फिर भी यह समाजीकरण कभी पूर्ण नहीं होता। मानव स्वभाव की सुनम्यता के कारण मनुष्य के लिए आर्थिक परिवर्तन करना आशुक्रिया करना तथा सर्जनात्मक योगदान करना संभव हो गया है। मनुष्य ने इसी योग्यता के कारण अपने वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय ज्ञान में वृद्धि की है और इसी से वह सभ्यता और उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता आया है।

3.4.2 सर्जनशीलता और विज्ञानों तथा मूल्यों का सामाजिक स्वरूप

ज्ञान की चिरस्थायी खोज का मनुष्य की सर्जना की लालसा और क्षमता से गहरा संबंध है। घटनाओं और अनुभवों को (देश और काल के संदर्भ में प्रतीकों के प्रयोग द्वारा) जोड़ने की योग्यता मनुष्य को कारण और कार्य के संबंध में सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करती है। यहीं से वैज्ञानिक तर्क का आरंभ होता है। आत्मा को अतीत और भविष्य में प्रक्षिप्त करने और अपनी भावात्मक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को स्थगित करने तथा उनका प्रत्याहरण (recall) करने की योग्यता ने ही नैतिकता को जन्म दिया।

एक प्रकार से मनुष्य की ज्ञान के लिए खोज ज्यों-ज्यों बढ़ती गई विज्ञान और नैतिकता दोनों एक साथ उभर आए। मनुष्य ने भाषिक तथा गणितीय माध्यमों को अपनाकर तार्किक विवेचन की जो शक्ति अर्जित की उसके साथ ही उसे इतिहास, समाज तथा संस्कृति का तीव्र बोध भी हुआ। इसी बोध ने सामाजिक प्रथाओं को सुव्यवस्थित किया जिसने वैज्ञानिक जानकारी की बुनियादों पर गहरा प्रभाव डाला।

मनुष्य ने अपने ज्ञान की खोज के साथ-साथ विज्ञान और मूल्यों की भी खोज कर ली। विज्ञान ने उसे कारण-कार्य भाव स्थापित करने और प्राकृतिक घटनाओं के होने का कारण बताने और उन पर नियंत्रण करने की शक्ति दी। मूल्यों ने उन्हें अपने सह-मनुष्यों के साथ संबन्धों को व्यवस्थित रखने का आधार दिया। भाषा एक सामाजिक दाय है जिसके माध्यम से हम वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान करते हैं। इस प्रकार विज्ञान और मूल्यों दोनों का एक सामाजिक स्वरूप होता है।

मनुष्य के ज्ञान की खोज का यही परिणाम है कि उसने बड़े-बड़े आविष्कार किए हैं और उसकी महान वैज्ञानिक उपलब्धियां हैं। मनुष्य जाति ने प्रधाण युग के उपकरणों के बाद से अब तक जो प्रौद्योगिक उन्नति की है वह इस वास्तविकता का प्रमाण है। मनुष्य के दार्शनिक विवेचन, उसके तार्किक कौशल और वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए अपनाई गई पद्धतियों के विकास के कारण यह संभव हो पाया है। इस उन्नति के साथ ही ज्ञान-निर्माण की गति और मात्रा दोनों में कई गुना वृद्धि हुई है। एक अनुमान के अनुसार वैज्ञानिक जानकारी हर दस वर्ष में दुगुनी हो जाती है और अब तो अवधि और भी कम होती जा रही है।

बोध प्रश्न 1

नीचे कुछ कथन दिए गए हैं उन्हें पूरा करने के लिए उनके नीचे चार-चार वाक्य दिए गए हैं। इन चार वाक्यों में से जो वाक्य उक्त कथनों को पूरा करने के लिए उपयुक्त हों उस पर सही का निशान (✓) लगाएं।

1 विकासात्मक सिद्धांत के अनुसार मनुष्य में सीखने और सोचने की योग्यता:

क) का आविर्भाव धीरे-धीरे और कई चरणों में हुआ।

ख) मनुष्य ने इसे प्रकृति पदार्थों से सीखा ।

ग) सहसा एक क्रांतिक बिंदु पर उभरी ।

घ) आनुवंशिकता के रूप में चली आई है ।

2 मनुष्य जाति में चिंतन-क्षमता का विकास यह बताता है कि :

क) मनुष्य को यह योग्यता सामाजिक अन्योन्य क्रिया से मिली ।

ख) मनुष्य को यह योग्यता सामाजिक अन्योन्य क्रिया से मिली ।

ग) मनुष्य को यह योग्यता उसे जैविकी और मैत्रीभाव से मिली ।

घ) मनुष्य को यह योग्यता ईश्वर के वरदान के रूप में मिली ।

3.4.3 "दो संस्कृतियों" का विकास

एक ओर यदि विज्ञान का द्रुत गति से विकास हुआ तो दूसरी ओर उसने मूल्यों तथा समाज की नैतिक व्यवस्था से उसके संबन्धों के बारे में कई समस्याएँ पैदा कर दीं । पाश्चात्य समाज के विद्वानों ने समाज की वैज्ञानिक और नैतिक व्यवस्था के बीच बढ़ते हुए अंतराल पर निराशा व्यक्त की है । विज्ञान और नैतिक मूल्यों में एकीकरण होने के बजाए उनके असंबद्ध होने बल्कि एक दूसरे से विलग होने के अनेक प्रमाण मिल जाते हैं ।

विज्ञान का मूल्यों से यह पार्थक्य न केवल "दो संस्कृतियों" की रचना करता है बल्कि उन्हें उत्तरोत्तर विपरीत दिशा में अग्रसर करता है । विज्ञान की समस्त प्रौद्योगिकीय शक्ति के बावजूद यदि उस पर नैतिक मूल्यों का अंकुश न रखा गया तो चाहे उसकी कितनी ही महान् उपलब्धियाँ क्यों न हों वह मनुष्य जाति को अपूर्णीय क्षति पहुंचा सकता है । आज के युग में हम यह देख रहे हैं कि शस्त्रों की होड़ लग रही है, औद्योगीकरण से पर्यावरण का नाश हो रहा है, मानव स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाया जा रहा है और परमाणु बम जैसे जन संहारक शस्त्रों का अन्वेषण हो रहा है । इसलिए मनुष्य के अस्तित्व को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के सामाजिक तथा नैतिक स्वरूप को बनाए रखा जाए ।

पाश्चात्य परंपरा के प्रमुख चिंतकों, जो भारतीय परंपरा के विपरीत है, का यह विश्वास है कि प्रकृति और संस्कृति या मनुष्य और उसके भौतिक परिवेश के बीच विरोध बना रहना चाहिए । पश्चिम में कुछ विचारकों ने इसी मान्यता के आधार पर सांस्कृतिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों के बीच विभाजन रेखा खींची थी । उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों और सांस्कृतिक विज्ञानों में भेद किया था क्योंकि उनके मतानुसार प्राकृतिक विज्ञान में दृश्य-जगत का अध्ययन किया जाता है और सांस्कृतिक विज्ञान में परासत्ता सम्बन्धी या अज्ञात सत्ता (noumena) अध्ययन किया जाता है । यह भेद दृश्य जगत की वास्तविकताओं और संस्कृति की वास्तविकताओं के बीच संबंध की अपर्याप्त जानकारी पर आधारित था । आगे चलकर इसका परिणाम यह हुआ कि मूल्य-जगत (world of values) का विज्ञान प्रणाली (system of science) से संबंध विच्छेद हो गया । इसके विस्तार से दो संस्कृतियों के बीच कृत्रिम विभाजन हो गया । मूलत: विज्ञान और मानवता अंतर्ग्रथित (interwoven) है । प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के बीच कोई द्वैतभाव (Dichotomy) नहीं है ।

पाश्चात्य परंपरा के विपरीत भारतीय परंपरा का आरंभ ही से वैज्ञानिक ज्ञान और उसके सांस्कृतिक अथवा मूल्यगत ढांचे के बीच संबंध पर जैविक दृष्टिकोण रहा है । वस्तुत: विज्ञान नीतिशास्त्र के दायरे ही में आता था और सत्य की खोज मूलत: सुंदर तथा शिव के सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित होती थी । विज्ञान की भारतीय परंपरा और व्यवहार में पवित्र और अपवित्र के बीच की यांत्रिक और लोकोत्तर के बीच और विज्ञान और मूल्य के बीच किसी प्रकार के द्वित्व को स्थान नहीं दिया गया। सत्य, शिव तथा सुंदर, कीत्रीय से मूल्यों की एक संरचना का निर्माण होता है जिसे विज्ञान और मानवता दोनों ने ही ज्ञान वृक्ष की शाखाओं के रूप में आगे बढ़ाया है। इस प्रकार विज्ञान और मूल्य के बीच एक जैविक संबंध है—और यह सत्य, शिव और सुन्दर का संबंध है।

3.4.4 विज्ञान और मानवता का एकीकरण

आइए देखें कि विज्ञान और मानवता में एकीकरण किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है । विज्ञान और मानवता के एकीकरण की भारतीय धारणा में वैज्ञानिक और कलाकार की भूमिकाओं को एकीकृत किया गया है । दोनों के योग की लोकोत्तर एकता के तोरण से घिरी संरचना में साधक (पावन लक्ष्यों की सिद्धि करने वाले) और योगी (कर्म का प्रयोग में एकता के अन्वेषक) के रूप में कल्पना की गई है । लौकिक और धार्मिक में, विज्ञान और मूल्य में, व्यवसायी और जन साधारण में विभाजन जो पश्चिम में विज्ञान के सिद्धांत और व्यवहार के विकास की प्रारंभिक अवस्था में एक तात्विक पक्ष माना जाता था, भारतीय परंपरा में कभी था ही नहीं । इससे कुछ पाश्चात्य विचारकों में यह भ्रांत धारणा भी फैल गई कि भारत में विज्ञान की प्रायोगिक संस्थाएँ हैं ही नहीं और विज्ञान वहाँ पश्चिम से आया है ।

भारत में विज्ञान के यांत्रिक (प्रायोगिक) सिद्धांतों के मानकीय (मूल्य) सिद्धांतों के साथ एकीकरण का ठोस उदाहरण उसके परंपरागत विज्ञानों तथा शरीर विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वास्तुशिल्प, फलित-ज्योतिष

भौतिकी और रसायन है । जहाँ तक तर्कशास्त्र और गणित का संबंध है भारत संसार में अग्रगामी था । उदाहरण के लिए आर्यभट्ट वह पहला जाना-माना व्यक्ति था जिसने यह परिणाम निकाला था कि "पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर घूमती है"। गणित के क्षेत्र में उसी ने (π) और अनेक अन्य गणनाओं का मूल्य बताया। यह उसने 500 ई. में किया था । ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति हुई और उसमें उच्च से उच्चतर आविष्कार हुए हैं, विज्ञान में एकीकरण की प्रवृत्ति पश्चिम और विश्व के अन्य भागों में बलवती होती गई है । प्राकृतिक अथवा सांस्कृतिक सभी घटनाओं में एकता के सिद्धान्तों को मान्यता दी गई है । आज विज्ञान जिस प्रकार के ज्ञान-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसमें मन और पदार्थ या प्रकृति और संस्कृति के बीच विद्या का कोई अर्थ नहीं है । इसलिए प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों के बीच विद्या केवल अन्वेषणात्मक प्रणाली वैज्ञानिक या तर्कों पर आधारित भेद (स्पष्टीकरण के लिए किया गया भेद) का विषय रह गई है।

3.4.5 सत्य की प्रकृति : विज्ञान और धर्म

विज्ञान अन्वेषण और ज्ञान के स्वरूप में हुए परिवर्तन के साथ मनुष्य सत्य की प्रकृति का अपना बोध निरंतर बढ़ाता चला जा रहा है । सत्य के संबंध में जो भारतीय मत है उसमें यह माना गया है कि सम्पूर्ण सत्य को व्यक्ति पूर्णरूपेण समझ ही नहीं सकता । उसे आदि तत्व या ईश्वरतत्व माना गया है और इसे सम्पूर्ण रूप में समझ लेना मनुष्य की समझ से परे है। इसे तो साधना या योग के द्वारा केवल खंडों में थोड़ा-थोड़ा करके ही समझा जा सकता है ।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं भारतीय परंपरा में विज्ञान और धर्म के अभिसरण बिंदु (converging) इस धारणा में निहित हैं कि विज्ञान योग और साधना है और सत्य की संकल्पना प्रायोगिक या आंशिक होती है ।

विज्ञान यह मानता है कि सत्य की प्रकृति प्रयोगात्मक है उसमें नित-नए अन्वेषणों और प्रयोगों से संशोधन किया जा सकता है । इसीलिए ज्ञान की खोज चिर-स्थायी है । भारतीय परंपरा में विज्ञान (सत्य की खोज) और मूल्य (सत्य का मानकीय आधार) में कोई विरोध नहीं है । बल्कि उसमें तो सत्यम् शिवम् और सुंदरम् के सिद्धान्तों में एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है ।

धार्मिक तथा वैज्ञानिक निरूपणों में सत्य की कल्पना भिन्न प्रकार से की गई है । धर्म को परिभाषित करने के अनेक ढंग हैं जिनमें धार्मिक संप्रत्ययन वैज्ञानिक संप्रत्ययन से भिन्न है । मूलभूत नियामक सिद्धान्तों के स्तर पर धर्म और विज्ञान में एक अनुभवातीत एकता दिखाई पड़ती है । किन्तु यह धर्म के गौण प्रदर्शनों के बारे में सच नहीं है जिसमें मताग्रह, पुरातन सामाजिक संहिताएँ और अंधविश्वास शामिल हैं। इसके कुछ उदाहरण हैं: जाति-भेद और भेदभाव, स्त्रियों की गिरी हुई दशा (degradation of women) अपवित्रता और पवित्रता और सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में इनसे संबद्ध कुरीतियाँ । इस प्रकार का व्यवहार कई धर्मों में पाया जाता था । ऐसे विश्वासों का आधार न तो सत्य में है न वे शिव हैं और न ही सुंदर । वे संसार के किसी भी धर्म के मूलमंत्रों और संदेशों से भी मेल नहीं खाते ।

इतिहास और तुलनात्मक धर्म के विद्यार्थियों ने देखा है कि इस प्रकार के तत्वों का तो धार्मिक विश्वास प्रणालियों के मूल में कहीं उल्लेख ही नहीं है । ऐसे विचार तो अकसर इसीलिए उभरे हैं कि उनका सत्तारूढ़ वर्ग धर्म के नाम पर दूसरे वर्गों को अपने अधीन करने के लिए अस्त्र के रूप में प्रयोग कर सके ।

वैज्ञानिक ज्ञान की भांति सभी वर्गों के मूलभूत मानक सिद्धांत अनिवार्य रूप से मानवतावादी प्रकृति के हैं । इसका सभी जातियों, धर्मों और राष्ट्रों में मुख्य लक्षण रहा है विश्वजनीन सौंदर्य, मनुष्य जाति की गरिमा और समानता । विज्ञान मनुष्य के कल्याण और अच्छाई के लिए की गई सत्य की सभी खोजों के नैतिकीकरण में अपना योगदान करता है ।

बोध प्रश्न 2

1 दो संस्कृतियों" की धारणा इस विश्वास के कारण उभरी है । (सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से किसी एक पर निशान लगाएँ)

क) विज्ञान मनुष्य की समस्याओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त नहीं है ।

ख) विज्ञान और मानवतावादी सामाजिक विज्ञान के बीच अंतराल तीव्र हो गया है ।

ग) धनिक की संस्कृति निर्धन की संस्कृति से भिन्न है ।

घ) ग्रामीण और नागरिक समाजों की दो संस्कृतियाँ है ।

2 पश्चिम के कुछ चिंतक प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों के बीच कौनसा हेतु मानते थे । (सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से एक पर निशान लगाएँ)

क) विश्वसनीय और अविश्वसनीय ज्ञान का हेतु।

ख) तर्क बुद्धि और अनुभव का हेतु।

ग) दृश्य जगत और परासत्ता संबंधी जगत का द्वैत।

घ) प्रत्याशित और अप्रत्याशित का द्वैत।

3 साधक उसे कहते हैं जो:(सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से एक पर निशान लगाएँ)

क) अपनी महत्वाकांक्षा में दृढ हो

ख) भगवान का सच्चा भक्त हो

ग) पावन लक्ष्यों की सिद्धि करता हो

घ) अपने लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्ध हो

4 विज्ञान और धर्म के बीच संबंध पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें । (लगभग 150 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.5 धार्मिक तथा लौकिक ज्ञान

मनुष्य के ज्ञान का विस्तार अधिकतर मनुष्यों के प्रकृति के साथ, सह-संबंधों तथा इतिहास की शक्तियों के साथ हुई अन्योन्य क्रियाओं के माध्यम से हुआ है । इस प्रक्रिया में मनुष्य की अस्तित्वात्मक स्थिति और उनकी मूलभूत आवश्यकताओं तथा उन्हें पूरा करने की प्रणालियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । मनुष्य के अस्तित्वात्मक स्वभाव में दोनों नैसर्गिक प्रतिभाएँ, जैविक तथा मानसिक विशेषताएँ और सांस्कृतिक शैलियाँ और उपलब्धियाँ शामिल हैं ।

3.5.1 ज्ञान का जादू-टोना रूप

आरंभ में ज्ञान प्रकृति, मनुष्य के अपने तथा सह-मनुष्यों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों के द्वारा उभरा । उसने मनुष्य के प्रकृति और संस्कृति दोनों से संबंध निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया । पहले तो इसका विकास मायिक और धार्मिक रूपों में हुआ । माया जो आदिम मानव के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का ही समानार्थी कारण था कार्य संबन्ध के सिद्धांतों पर आधारित था जिसके दो नियम थे :

i) पहला नियम था "यथा कर्म तथा फल"—उदाहरण के लिए बादलों की गरज के साथ वर्षा होती है इसलिए यदि गरज के समान आवाज पैदा की जाय तो वर्षा होगी । कुछ जनजातियों में यह आमतौर पर होता था कि वे भारी शिलाखंड पहाड़ की चोटियों से नीचे लुढ़काते थे ताकि उससे गरज जैसी आवाज़ पैदा हो और बारिश होने लगे ।

ii) दूसरे नियम के अनुसार ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि किसी व्यक्ति के किसी अंग या उसमें से निकाले हुए पदार्थ में या उसकी प्रतिकृति में कुछ कर दिया जाए तो उससे होने वाला परिणाम उस व्यक्ति या पदार्थ पर ही पड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि मनुष्य का नाखून या बाल कहीं से लाकर जलाया या तोड़-फोड़ दिया जाय तो यह जलन या तोड़-फोड़ उस व्यक्ति को भी महसूस होगी जिसका वह नाखून था या यदि उसकी प्रतिमा बनाकर उसे कष्ट पहुंचाया जाय तो वह कष्ट उस व्यक्ति को भी पहुंचेगा।

जादू के इन नियमों ने कारण-कार्य संबंधों को साबित करने का प्रयास किया जो आधुनिक काल में विज्ञान कर रहा है किंतु इनका आधार मिथ्या आधार-वाक्य पर था। इनमें प्रामाणिकता के नियम का उल्लंघन किया गया था और इसीलिए जादू को मिथ्या विज्ञान कहा जाता है।

कुछ जादुई कर्मकांड और घटनाओं की व्याख्याएँ व्यावहारिक ज्ञान के साथ मिला भी दी गईं क्योंकि इनका विकास एक लंबे समय में प्रयत्न-त्रुटि के द्वारा हुआ था। जादुई कर्मकांड सभी आर्थिक क्रिया-कलाप जैसे आखेट, अन्न-संचय और कृषि में सामान्य रूप से किए जाते थे। जादू मृत्यु, जन्म विवाह और दीक्षा आदि संस्कारों

जादू टोने में बीमारी का कारण दुष्टात्माओं का मानव शरीर में प्रवेश	(दोनों बाह्य तत्व)	आधुनिक आयुर्विज्ञान में बीमारी का कारण जीवाणु, रोगाणु तथा वाइरस का शरीर में प्रवेश

का भी अभिन्न अंग था। मातृदेवीपंथ भी इन्हीं कर्मकांडों से जन्मा था। मनुष्य की सीखने की प्रक्रिया आदि-काल से ही प्रकृति, आत्मा और अतिप्राकृतिक शक्तियों के उनके संप्रत्ययों से जुड़ी हुई थी। जादुई विश्वासों के साथ-साथ धार्मिक विश्वास भी पनपते गए। कहीं-कहीं तो धार्मिक विश्वास तभी पैदा हुआ जब जादुई सिद्धांत विफल हो गए। कहा जाता है कि विज्ञान की ही भाँति जादू भी प्रकृति को वश में करने का प्रयास करता है। धार्मिक विश्वास तभी प्रबल होते हैं जब जादू प्रभावहीन हो जाता है। प्रकृति जिस पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है, (अतिप्राकृतिक संभ्रांति उत्पन्न करती है)। इसी को प्रतीकात्मक ढंग से देवताओं का रूप दे दिया जाता है और उन्हें पूजा या प्रार्थना की वस्तु बना दिया जाता है।

समाजशास्त्रियों का विचार है कि मनुष्य के जन्म और मृत्यु की घटनाओं का जादुई और धार्मिक विश्वासों के उत्थान से गहरा संबंध है। इन घटनाओं का संबंध अनेक जादुई तथा धार्मिक अनुष्ठानों से जोड़ा गया है। किसी भी मनुष्य की मृत्यु दूसरे मनुष्य में संभ्रान्ति उत्पन्न कर देती थी। अधिकांश अनुष्ठानों और विश्वासों का संबंध मरणोत्तर जीवन से जोड़ा जाता था। उदाहरण के लिये नरक और स्वर्ग का अस्तित्व, सर्व शक्ति मान ईश्वर और धार्मिक ब्रह्मांड विज्ञान (Cosmology) आदि का संबंध जन्म और मरण के द्वारा मानव

जीवनचक्र से मिलाया जा सकता है। यही कारण है कि कुछ नृविज्ञानी कहते हैं कि पहला मंदिर एक मकबरा था और पहला देवता मृत पूर्वज (मृतात्मा) था।

मनुष्य की मृतात्मा को जीवित मनुष्य से अधिक शक्तिशाली माना जाता था। देवताओं या एक परमात्मा के संबंध में जो विचार धीरे-धीरे उभरे उनका स्रोत मृत पूर्वज की आत्माएँ ही था। कालांतर में इसी को लोकोत्तर और अतीन्द्रिय घटना में परिणत कर दिया गया। कारण-कार्य, घटनाओं, अनुभवों और प्राकृतिक रूपों के प्रतीकात्मक प्रदर्शनों की धारणाएँ इन्हीं जादू-टोना विश्वास तंत्रों के माध्यम से मानव ज्ञान में समाकलित कर दी गई। सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ जैसे, नृत्य, गीत, नाटक और अधिकांश कलाकृतियों का उत्सव कुछ सीमा तक प्रारंभिक जादू-टोना अनुष्ठान माने जाते थे।

जैसे-जैसे मानव-संस्कृति और सभ्यता ने कृषि, उद्योग और प्रौद्योगिकी के माध्यम से उन्नति की, धर्म और जादू में अस्पष्ट विभाजन होता गया। यूरोप में धर्म एक अधिक संगठित सामाजिक संस्था—जैसे रोमन चर्च और अन्य विभिन्न संप्रदायों के रूप में विकसित हुआ, जादू पर जो प्रारंभ से ही कौशल और ज्ञान का अत्यंत व्यक्ति सापेक्ष रूप रहा था —विज्ञान और धर्म दोनों का दबाव पड़ा। मध्य युग में यूरोप में जादूगरों और जादूगरनियों पर हुए अत्याचार इसका प्रमाण है यह जहाँ भी शेष रहा वह किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के कौशल के रूप में ही विद्यमान रहा। न तो यह संस्था के रूप में विकसित हो सका और न ही इसका कोई सुसंगठित सामाजिक आधार बन सका। मोटे तौर पर देखा जाय तो समाज की आदिम अवस्था से सामंती अवस्था तक के विकास का युग ही जादू-टोने से धार्मिक संस्थाएँ, विश्वासों और प्रथाओं तक के सामाजिक संक्रमण का युग है।

3.5.2 विज्ञान और धर्म का पृथक्करण

सामाजिक राजनीतिक संगठन के उदय के साथ ही व्यापार, वाणिज्य, प्रौद्योगिकी और औद्योगिक उत्पादन में व्यापक स्तर पर वृद्धि हुई। यह बात भारत, चीन, मिस्र, यूनान और रोमन साम्राज्य की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास से जाहिर होती है। कुछ अपवादों को छोड़कर अब वैज्ञानिकों और धार्मिक या पुरोहिती वर्गों में विभाजित हो गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ज्ञान का उद्योग तथा युद्ध में इस्तेमाल होता था। नए साम्राज्यों की नींव इन्हीं पर पड़ी और उन्हें व्यापक संस्थागत रूप में संगठित किया गया। सामाजिक विकास के इस चरण में जादू-टोने की प्रथाएँ ज्यादातर व्यक्तियों तक ही सीमित होकर रह गई और विज्ञान तथा धर्म का संस्थागत गठन धीरे-धीरे अलग होता गया। यह विभाजन अक्सर अनिश्चित रहा लेकिन इन दोनों की विशिष्ट भूमिकाओं के कारण प्रकार्य की दृष्टि से भी इनमें भेद हो गया।

12 संत (बहुरंगी) लकड़ी से निर्मित, फ्रांस, 15वीं शती

यूनानी-रोमन सभ्यता के पतन और ईसाई मत के उत्थान के साथ यूरोप में चर्च का एक अत्यंत सशक्त सामाजिक तथा राजनीतिक संस्था के रूप में उदय हुआ । धार्मिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान के विभेदीकरण की प्रक्रिया को इससे भारी आघात पहुँचा । जैसे-जैसे मध्ययुगीन ईसाई मत के धार्मिक दृष्टिकोण ने चर्च के जरिए अपना प्रभाव बढ़ाया वैसे-वैसे वैज्ञानिक प्रयोगों और उसके मानवतावादी तथा युक्तिमूलक दृष्टिकोण का ह्रास हुआ । अब स्थिति यह हो गई कि सभी प्रकार के ज्ञान के लिए चर्च का अनुमोदन आवश्यक था क्योंकि धार्मिक प्राधिकार उसी में निहित थे । चर्च के विद्यालय ही वे शैक्षिक संस्थाएँ थीं जो ज्ञानोपार्जन तथा संप्रेषण के लिए मान्यता प्राप्त थीं । यह प्रणाली सदियों तक कायम रही तब जाकर पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण तथा धार्मिक सुधार आंदोलन की शक्तियों ने इसे चुनौती दी ।

गैलिलियो, कोपरनिक्स् और न्यूटन ने विज्ञान को जो योगदान दिया और लूथर तथा कैलविन ने धर्म के क्षेत्र में जो सुधार किए उनके फलस्वरूप ज्ञान के मानवतावादी, युक्तिमूलक और इन्द्रियानुभविक रूपों का अभ्युदय धीरे-धीरे संभव हो पाया । लूथर और कैलविन ने इस बात पर बल दिया कि धार्मिक मुक्ति के लिए चर्च से अधिक महत्व व्यक्ति की भूमिका का है । गैलिलियो और न्यूटन ने धर्मशास्त्रीय ब्रह्मांड विज्ञान के बजाय वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक साक्ष्य प्रस्तुत किए और मनुष्य को ब्रह्मांड की प्राकृतिक व्यवस्था में लाकर खड़ा कर दिया । शनै: शनै: विद्यालयों का स्वरूप भी बदल गया जो धार्मिक शिक्षा संस्थान थे । उन पर चर्च का नियंत्रण समाप्त करके उनके प्रशासन और ज्ञानदान का दायित्व नागरिकों की नगर परिषदों को सौंप दिया गया । इस प्रकार आधुनिक विश्वविद्यालय प्रणाली का जन्म हुआ जिसके गणन, ज्ञान-अर्जन तथा संप्रेषण का आधार धर्मनिरपेक्ष था । यूरोपीय समाज में ज्ञान को धर्मनिरपेक्ष बनाने की इस प्रक्रिया में सैकड़ों वर्ष लगे और यह उसी समाज के अपने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक रूपांतरण के सहयोग का फल था ।

3.6 ज्ञान का विभाजन

ज्ञान का प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और मानविकी आदि विधाओं में विभाजन यूरोपीय समाज में विश्वविद्यालय प्रणाली के उद्भव के दौरान हुआ । विभिन्न विधाओं में इस विभेदीकरण का विश्लेषण दो प्रकार से किया जा सकता है : ज्ञान-मीमांसीय और प्रशासनिक - व्यावहारिक अनुप्रयोग ।

I) ज्ञान के विभाजन का ज्ञान-मीमांसीय (Epistemological) आधार

ज्ञानमीमांसीय सार पर जो ज्ञान का विभाजन किया गया उसका आधार यथार्थ की प्रकृति के संबंध में दार्शनिक धारणाएँ थीं । जर्मन दार्शनिकों ने यथार्थ को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभक्त किया था दृश्य जगत तथा सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक यथार्थ । उनकी यह धारणा थी कि केवल प्राकृतिक यथार्थ का अध्ययन ही प्रायोगिक विज्ञानों की पद्धति से किया जा सकता है । सामाजिक या सांस्कृतिक यथार्थ समग्र रूप में केवल अंत: प्रज्ञा या अर्थ अथवा आत्मा (spirit/geist) को ग्रहण करके ही समझा जा सकता है। प्राकृतिक और सांस्कृतिक विज्ञानों के इस विभाजन के कुछ समय बाद प्रत्येक विभाजन के यथार्थ की सीमा के आधार पर उपविभाजन कर दिया गया ।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री आगस्त कॉम्ते (August Comte) ने ज्ञान के विभाजन की विकासात्मक व्याख्या प्रस्तुत की । उसके कथनानुसार ज्ञान का विभाजन गणित तथा भौतिकी जैसे सामान्य विज्ञानों से वनस्पति विज्ञान, रसायनविज्ञान और समाज शास्त्र या सामाजिक भौतिकी जैसे विशिष्ट विज्ञानों से हुआ था । उनका विचार था कि ज्ञान में भी जैविकी के क्षेत्र में हुए विकास की भाँति अधिक सामान्य, सजातीय रूपों जैसे दर्शनशास्त्र और गणित से समाज विज्ञानों और मानविकी की अलग-अलग विधाओं के अधिक विशिष्ट और विजातीय रूपों में विभेदीकरण हुआ है ।

II) ज्ञान का व्यावहारिक अनुप्रयोग और विभाजन

ज्ञान के विभाजन का एक कारण यह भी रहा कि अधिकांश विज्ञानों का उद्गम ज्ञान का मानव द्वारा किए गए उपयोगों पर अनुप्रयोग था । ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकांश विधाओं के सिद्धांत और दर्शन का जन्म समाज में लोगों के सामने पेश आने वाली विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिए उनके द्वारा उत्पन्न कौशलों के ठोस अनुप्रयोग से हुआ है । इसलिए ज्ञान का काम में आने वाला पक्ष ही पहले उभरा जिसे बाद में सुसंगत तर्कमूलक रूप में संहिताबद्ध किया तथा सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया गया । मनुष्यों ने तारों के इस्तेमाल की शुरूआत जहाज़रानी के प्रयोजनों के लिए बहुत पहले ही कर दी थी, खगोल विज्ञान या ब्रह्मांड विज्ञान को व्यवस्थित विज्ञान का रूप तो बाद में दिया गया । इसी प्रकार धनुष-बाण और अन्य प्रक्षेपास्त्र बल-विज्ञान या भौतिकी के अन्वेषण के बहुत पहले से व्यापक रूप से इस्तेमाल होते आए थे ।

सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न विधाओं का जैसे सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, रसायन, भौतिकी आदि समाज की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति की माँग पर ही आविष्कार हुआ था । वस्तुत : आवश्यकता ही आविष्कार की जननी रही है । लेकिन अकस्मात् हुई खोजों और सर्जनशीलता की प्रवृत्ति ने भी ज्ञान के विकास और विभेदीकरण में अपनी भूमिका निभाई है ।

3.6.1 प्रत्यक्षवाद (Positivism)

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं ज्ञान का प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और मानविकी में विभाजन अधिकांशत: यथार्थ के वर्गीकरण के अनुसार कतिपय दार्शनिक कारणों पर आधारित है । 'मन' और 'तत्व' या 'दृश्य जगत' और परमार्थ सत् (noumena) में जो भेद किया गया था वह इस धारणा पर आधारित था कि उनमें परस्पर पूर्ण पार्थक्य है । इस दृष्टिकोण को अपनाकर प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक अथवा सांस्कृतिक विज्ञानों का मिलन या समाकलन न तो प्रत्यय की दृष्टि से, न प्रणाली विज्ञान की दृष्टि से और न ही ज्ञान के उपयोग की दृष्टि से किया जा सकता था ।

इस प्रवृत्ति का स्थान आगे चलकर एक विरोधी धारणा ने ले लिया जिसके अनुसार आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या कलात्मक यथार्थ के भी वही सिद्धांत हैं जो प्राकृतिक यथार्थ पर लागू होते हैं और प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों तथा संप्रत्यय ज्ञान के इन रूपों पर भी समान रूप से लागू किए जा सकते हैं । ज्ञान की पश्चिमी परंपरा में 'प्रत्यक्षवाद' का यही युग था । कालांतर में यह बात स्वीकार कर ली गई कि प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों का सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ में सम्पूर्णतया उपयोग नहीं किया जा सकता था क्योंकि इनका अस्तित्व 'वस्तुओं' के रूप में न होकर 'मूल्यों' या 'अर्थों' के रूप में था । इस बात का भी पता लगा लिया गया कि जो सिद्धांत प्राकृतिक वस्तुओं के 'व्यवहारों' या 'प्रकार्यों' को नियमित करते हैं वे वही नहीं हैं जो जीवन के सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रवर्तनशील हैं ।

3.6.2 विषय-वस्तु : निर्देश-तालिका

जिन सिद्धांतों के आधार पर ज्ञान का विशिष्ट विद्याओं जैसे भौतिकी, रसायन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि में विभाजन किया गया था उनमें यह कल्पना की गई थी कि प्रत्येक विधा में अध्ययन के लिए एक पृथक् विषय-वस्तु है । यह विभाजन तथ्यों या विषयों के पृथक्करण पर आधारित था जिनका प्रत्येक विद्या में अध्ययन किया जाता था । जैसे-जैसे विभिन्न विज्ञानों में हुए शोधों के द्वारा ज्ञान की उन्नति हुई यह मालूम हुआ कि किसी विद्या विशेष का क्षेत्र उस 'विषय-वस्तु' के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता जिसका उसके अंतर्गत अध्ययन किया जाता है बल्कि इसका आधार संप्रत्यात्मक दृष्टिकोण या 'निर्देश तालिका' होना चाहिए जो यथार्थ को समझने के लिए किसी भी विधा में मिलती है ।

उदाहरण के लिए एक कुर्सी ही ले लीजिए जिसे विभिन्न विधाओं के लोग भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं । भौतिक पदार्थ के रूप में वह निम्नलिखित विषयों के विद्यार्थी के लिए विषय-वस्तु का काम दे सकता है :

- **भौतिकी** यदि कोई यह जानना चाहे कि वह सीधी क्यों खड़ी रहती है या गिर क्यों जाती है (गुरुत्वाकर्षण-नियम)।
- **रसायन** यदि कोई लकड़ी की बनावट का विश्लेषण करना चाहता हो ।
- **पुरातत्व विज्ञान** या **ऐतिहासिकता** यदि कोई उसकी आयु या इतिहास जानने का इच्छुक हो ।
- **अर्थशास्त्र** यदि कोई उसके बाजार और मूल्य का विश्लेषण करना चाहता हो ।
- **राजनीतिशास्त्र** यदि किसी की दिलचस्पी कुर्सी का शक्ति या प्राधिकार के प्रतीक के रूप में विश्लेषण करने में हो ।
- **समाजविज्ञान** क्योंकि कुर्सी को सामाजिक हैसियत का लक्षण माना जाता है।
- **कला** जो उसके सौंदर्यपरक गुणों आदि का विवेचन करना चाहता हो ।

अत : ज्ञान का विभाजन यथार्थ का कृत्रिम विभाजन करके या उसके एक-एक अंश को किसी विशिष्ट विधा से जोड़कर तार्किक ढंग से नहीं किया जा सकता । उसका आधार केवल संप्रत्यय और प्रणाली विज्ञान का परिप्रेक्ष्य ही हो सकता है जो सामान्य यथार्थ को समझने के लिए विधा-विशेष प्रदान करता है ।

बोध प्रश्न 3

1 **जादू को इसलिए मिथ्या विज्ञान कहा जाता है कि**
(सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से किसी एक पर निशान लगाएँ)

क) जादू अतिप्राकृतिक शक्तियों पर आधारित होता है ।

ख) जादू के दावों का कोई प्रमाण नहीं है ।

ग) जादू कारण-कार्य नियमों का आश्रय लेता है परन्तु वे गलत हैं ।

घ) जादू एक व्यक्तिगत प्रतिभा है ।

2 प्रत्यक्षवाद का आधार यह दृष्टिकोण है कि
(सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से किसी एक पर निशान लगाएं)

क) विज्ञान मनुष्य के भविष्य की पूर्वघोषणा कर सकता है ।

ख) विज्ञान इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि समाज में क्या संभव है और क्या असंभव है ।

ग) वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रत्येक यथार्थ पर समान रूप से लागू होती हैं चाहे वह सामाजिक हो या प्राकृतिक ।

घ) केवल विज्ञान ही सत् अथवा असत् की पूर्वघोषणा कर सकता है ।

3 ज्ञान के अनुप्रयोग और उसके व्यवस्थापन में ऐसा संबंध है कि
(सही उत्तर के लिए निम्नलिखित में से किसी एक पर निशान लगाएं)

क) ज्ञान का अनुप्रयोग उसके व्यवस्थापन से पहले हुआ ।

ख) पहले अनुप्रयोग हुआ और व्यवस्थापन कुछ समय बाद हुआ ।

ग) अनुप्रयोग और व्यवस्थापन में कोई संबंध नहीं है ।

घ) अनुप्रयोग और व्यवस्थापन केवल संकट काल में ही एक दूसरे से संबंधित थे ।

3.7 ज्ञान का समाकलन

यदि हम ज्ञान के विभाजन पर विषय-वस्तु के विभाजन की दृष्टि से नहीं बल्कि विभिन्न निदेश-नालिकाओं के रूप में दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञान के समाकलन के लिए अधिक स्थायी संभावना दिखाई देगी । इस प्रकार के समाकलन तक पहुँचने के लिए जो मार्ग अपनाया जा सकता है वह प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की प्रत्येक शाखा में किया जाने वाला गहन शोध है ।

किसी भी विषय का अध्ययन करते समय उसकी समस्या की प्रकृति में जितना गहरा उतरा जाएगा उतना ही इस बात का आभास होता जाएगा कि वास्तविकता को पूरी तरह समझने के लिए उसी समस्या के संबंध में अन्य विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य का कितना अधिक महत्व है ।

संप्रत्ययों का यह ऐसा अभिसरण है जिसने प्राकृतिक विज्ञानों की प्राचीन विद्याओं जैसे जीवविज्ञान, भौतिकी और रसायन के अतिरिक्त नई विद्याओं जैसे जीव-रसायन, जीव-विज्ञान, जीव-भौतिकी आदि को जन्म दिया । इन संप्रत्ययों की जो अलग-अलग विधाओं में भी शामिल थे अधिक व्यापक स्तर पर प्रासंगिकता होने के कारण ही ज्ञान के समाकलन की शुरूआत हुई ।

सामाजिक विज्ञानों में भी इसी प्रकार के विकास हुए हैं और उनमें से कुछ ये हैं :

i) राजनीतिशास्त्री आए दिन राजनीतिक 'समाजीकरण' और राजनीतिक 'संस्कृति' की बात करते रहते हैं और ये दोनों ऐसे संप्रत्यय हैं जिन्हें समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान से ग्रहण किया गया है ।

ii) समाजशास्त्री प्राय : 'शक्ति' और 'प्राधिकार' जैसे संप्रत्ययों का प्रयोग करते हैं जबकि इन शब्दों का संबंध राजनीतिशास्त्र से है ।

iii) अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न संस्कृतियों और समाजों में आर्थिक विकास के विभेदी प्रतिमानों और दरों की प्रक्रिया को समझने के लिए समाजीकरण प्रक्रिया, व्यक्तित्व-संरचना और नवप्रवर्तनकारी अभिरुचियों की प्रासंगिकता ढूँढ निकाली है ।

iv) सौंदर्यशास्त्र और कला के विद्यार्थी कला तथा संस्कृति के रूपों और शैलियों में आने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए प्राय: कलाकारों की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की प्रासंगिकता पर बल देते आए हैं ।

ज्यों-ज्यों ज्ञान की विशिष्ट शाखाओं में गहन शोध कार्य होता जाता है ज्ञान का समाकलन आगे बढ़ता है । इसी से संप्रत्यात्मक और प्रणालीतंत्रीय अभिसरण और पारस्परिकता की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है ।

वास्तव में ज्ञान का समाकलन वैज्ञानिकों में परस्पर विचार-विनिमय के स्तर पर करना इतना आसान नहीं है जितना संप्रत्यात्मक स्तर पर करना आसान है ।

प्रशासनिक बंधन, शिक्षेतर चिंताएँ —जैसे स्वभाव की असंगति, शोध के लिए कितने संसाधन कौन जुटाए, शोधादि के परिणामों का श्रेय किसको कितना मिले, ऐसे घटक हैं जो विभिन्न विधाओं के वैज्ञानिकों के परस्पर विचार-विनिमय में बाधा पैदा करते हैं । यह देखा गया है कि शोध के माध्यम से प्राप्त अंतर्दृष्टि का

जिससे ज्ञान का समाकलित स्वरूप पुष्ट होता है । वैज्ञानिकों ने सामूहिक शोधों में या विधाओं के बीच परस्पर शोधों में प्रयोग नहीं किया है क्योंकि या तो इनमें प्रशासनिक बाधाएँ आई हैं या मानवीय पूर्वाग्रहों का साथ रहा है, ज्ञानमीमांसीय कारण उनमें बाधक नहीं रहे हैं । यह मानवीय समस्या और विशेष रूप से विभिन्न विज्ञानों और वैज्ञानिकों में परस्पर आदान-प्रदान की समस्या ने ज्ञान के समाकलन के मार्ग में बड़ी रुकावट पैदा कर दी है । फिर भी तर्कशास्त्र, संप्रत्यय और पद्धति के क्षेत्र में विभिन्न कुछ दशकों के दौरान उल्लेखनीय उन्नति हुई है जिससे यह संभावना पैदा हो गई है कि अब ज्ञान का अधिकाधिक समाकलन हो पाएगा ।

बोध प्रश्न 4

1 ज्ञान के समाकलन से आप क्या समझते हैं ? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें ।

.....

.....

.....

.....

.....

2 ज्ञान के समाकलन में आने वाली कौन-कौन सी समस्याएँ हैं ? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.8 सारांश

चिंतन की क्षमता का अर्थ है अपने आत्मपरक अनुभव से बाहर की वास्तविकता का अलग से प्रस्तुतीकरण, प्रतीकों के इस्तेमाल द्वारा, करने की शक्ति । इसका अर्थ है अपने अनुभव और भावना का प्रस्तुतीकरण चिन्हों, तस्वीरों और बाद में भाषा द्वारा करके उन्हें वस्तुनिष्ठ बनाना । मनुष्य ने अपनी मानसिक क्षमता और सांस्कृतिक दाय में जो विकास किया है उसके परिणाम स्वरूप ही उसकी चिंतन क्षमता का विकास हुआ है । यह विकास अचानक ही नहीं हो गया, बल्कि इसका विकास मनुष्य की अनुपम जैविक विरासत और सामाजिकता के बीच पारस्परिक संबंधों द्वारा और बड़ी धीमी गति से हुआ है ।

चिंतन क्षमता ने धीरे-धीरे व्यवस्थित ज्ञान का रूप ले लिया । जादू, विज्ञान और धर्म का उदय सिद्धान्तों के रूप में हुआ, जिनके माध्यम से विश्व की वास्तविकता को व्यवस्थित रूप देने के आरंभिक प्रयास किये गये । बाद में धर्म ने यूरोप में व्यवस्थित चर्च का रूप धारण कर लिया और मानवीय स्थिति की व्याख्या की पद्धति बन गया । प्राकृतिक विज्ञान के विकास तथा यूरोपीय चर्च में सुधार के आंदोलनों ने सामाजिक और प्राकृतिक घटनाओं के स्वरूप के वैज्ञानिक परिदृश्य के रूप में विकसित होने में योगदान दिया :

- इससे विज्ञान का नैतिकीकरण हुआ और इसका प्रयोग समाज और मनुष्य की समस्याओं के समाधान के लिए किया जाने लगा ।
- इसने ज्ञान के विविध रूपों में अंतर करने और उनका एकीकरण करने की प्रक्रिया में योगदान दिया ।
- धीरे-धीरे इसने ज्ञान को धर्म निरपेक्ष रूप प्रदान किया और इसे अधिकाधिक अंतर्विधाश्रयी (inter-disciplinary) तथा एकीकृत बनाया ।

किंतु इस एकीकरण की प्रक्रिया में मानवीय घटक ज्ञान के व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों ही स्तरों पर चुनौतियाँ प्रस्तुत करते रहे हैं । विज्ञान तथा मानवता अथवा 'दो संस्कृतियों' के बीच परिदृश्यों में भेद की दरार की निरर्थकता को पहचान लिया गया है । किंतु उनके समुचित रूप का एकीकरण अभी किया जाना है ।

3.9 शब्दावली

नृविज्ञानी: मनुष्य का समग्रता में उसके शारीरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन करने वाला व्यक्ति जो अपने अध्ययन में प्राचीन और दुर्लभ वस्तुओं की मदद लेता है ।

द्विपदीय : दो पैरों वाला प्राणी।

ब्रह्मांड विज्ञान : समस्त चराचर (स्थावर और जंगम), इसकी संरचना और स्वरूप का अध्ययन करने वाला विज्ञान।

अंतर्विधात्रयी : एक से अधिक विषयों को परस्पर शामिल करते हुए अध्ययन या विश्लेषण

विरासत: पूर्वजों से प्राप्त संपत्ति, विचारधारा अथवा मूल्य ।

जीवाश्म : प्रागैतिहासिक प्राणी या वनस्पति का सख्त हो गया अवशेष जो चट्टान के भीतर पाया जाता है ।

नवजागरण : 14वीं, 15वीं, 16वीं शताब्दी में यूरोप में, खासतौर से इटली में, ज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण का युग ।

प्रत्यावाहन : पुन: स्मरण करना, वापस बुलाना ।

अभिसरण बिन्दु : भिन्न न रहने की स्थिति, मिल जाने या समान हो जाने की स्थिति ।

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

प्रश्न 1 (क)

प्रश्न 2 (ख)

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1 (ख)

प्रश्न 2 (ग)

प्रश्न 3 (ग)

प्रश्न 4 खंड 4.4.5 और 4.4.6 पढ़ें और अपनी धारणा बनाएँ ।

बोध प्रश्न 3

प्रश्न 1 (ग)

प्रश्न 2 (ग)

प्रश्न 3 (ख)

बोध प्रश्न 4

प्रश्न 1 देखें भाग 3.7

प्रश्न 2 देखें भाग 3.7

इकाई 4 सामाजिक परिवर्तन और विकास

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 परिवर्तन, विकास, अभिवृद्धि एवं संवृद्धि की संकल्पनाएँ
  4.2.1 सामाजिक परिवर्तन
  4.2.2 अभिवृद्धि
  4.2.3 संवृद्धि
4.3 सामाजिक रूपों के भेद
  4.3.1 सरल से जटिल समाज की ओर
  4.3.2 आंचलिक संस्कृतियाँ: प्रौद्योगिक उन्नति एवं सामाजिक भेद
4.4 वर्ग-विभाजनों का उदय
4.5 मानव-बस्तियों के निर्माण की प्रक्रिया
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

हम उस विकास-प्रक्रिया का अध्ययन कर चुके हैं जिसके दौरान मानव ने नये-नये औजार बनाये तथा सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रगति की। इस पाठ में आपका परिचय इसी विकास के अधिक विस्तृत पहलुओं से, अर्थात् सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिवर्तन से कराया जाएगा।

इसे पढ़ लेने के बाद आप इस स्थिति में होंगे कि:

- समाज में विकास, परिवर्तन एवं अभिवृद्धि की संकल्पनाओं में अंतर कर सकें,
- सरल से जटिल की ओर अग्रसर समाज की अभिवृद्धि को पहचान सकें,
- यह जान सकें कि इन तमाम वर्षों में मानव के बसने की प्रक्रिया का विकास कैसे हुआ है।

4.1 प्रस्तावना

हम अकसर सामाजिक परिवर्तन की बातें करते-सुनते हैं। आप जानते ही हैं समाज बहुत से परिवर्तनों से गुजरा है। ये परिवर्तन बदले हुए नैतिक मूल्यों एवं बदले हुए रीति-रिवाजों में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। किंतु क्या कभी आपने इस परिवर्तन की प्रक्रिया की ओर ध्यान दिया है? उदाहरण के लिए, क्या आपने कभी सोचा है कि रीति-रिवाज बदले हैं तो क्यों और कैसे? क्या यह परिवर्तन वांछनीय है? क्या यह परिवर्तन आवश्यक था?

ऐसे प्रश्न केवल कौतूहलवश ही नहीं पूछे जाने चाहिए। ये प्रश्न मानव समाज के भावी विकास एवं वृद्धि के संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। किसी भी समाज के जीवित रहने के लिए आवश्यक है कि वह अपने को बदलते हुए जैविक-सामाजिक तथा भौतिक परिवेश के अनुरूप ढाले। सामाजिक परिवर्तन की परिणति सामाजिक संस्थाओं के रूपों के विभेदीकरण में होती है। इन संस्थाओं का सरल रूप जटिल हो जाता है। सामाजिक संस्थाओं में होने वाले इन परिवर्तनों को ऐतिहासिक परिस्थितियाँ नियंत्रित करती हैं।

ऐसी बात नहीं है कि मानव-समाज में केवल परिवर्तन ही हो रहा है। मानव-जीवन से संबद्ध इसके विभिन्न क्षेत्रों में अभिवृद्धि भी हुई है। यह अभिवृद्धि सामाजिक संस्थाओं, कला-कौशल इत्यादि में परिलक्षित होती है। पर यह अभिवृद्धि आखिर है क्या?
अभिवृद्धि परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसे विभिन्न समाज सकारात्मक मूल्य से युक्त मानते हैं। इस इकाई का अध्ययन करके आप यह भी जानेंगे कि सरलतर ढाँचों एवं प्रकार्यों की ओर अग्रसर होने वाले समाजों में विभेदीकरण की प्रकृति क्या है। प्रौद्योगिकी एवं उत्पादन के साधनों में होने वाले

परिवर्तन इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । इस इकाई में व्यावसायिक विभेदीकरण के विकास तथा उससे उत्पन्न वर्ग-विभेदीकरण की चर्चा की जाएगी ।

साथ ही इस इकाई में कृषि-प्रधान अवस्था से औद्योगिक अवस्था तक मानव-समाज के विकास की प्रक्रिया, शहरी आवासों, सत्ता की संस्था आदि का वर्णन करने का प्रयास भी किया गया है ।

4.2 परिवर्तन, विकास, अभिवृद्धि एवं संवृद्धि की संकल्पनाएं

विकास-प्रक्रिया के दौरान सामाजिक ढांचा व्यापक विभेदीकरण से गुज़रता है । यह विभेदीकरण काम के प्रकारों, सामाजिक संगठन की प्रकृति, मूल्यों, विश्वासों तथा मानव-संस्थाओं के संपूर्ण क्षेत्र से जुड़ा होता है । किंतु, जैविक विकास प्रक्रिया के विपरीत, सामाजिक-विकास की प्रक्रिया को उल्टा जा सकता है । उदाहरण के लिए कोई गांव विकास की प्रक्रिया में कस्बे अथवा शहर का रूप धारण कर सकता है । किंतु यदि किन्हीं कारणों से वह स्थान आर्थिक लाभ के उपयुक्त न रह जाये तो संभव है कि वह कस्बा या शहर पुन: छोटे-से गांव में ही सिमट कर रह जाये । इसे विपर्ययी यानी ''उल्टी जा सकने वाली'' प्रक्रिया कहते हैं । किंतु जैविक विकास के क्रम में जब कोई जीव एक अवस्था से दूसरी ऊँची अवस्था में पहुंच जाता है तो इस प्रक्रिया को उल्टा नहीं जा सकता ।

4.2.1 सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सामाजिक संगठन, सामाजिक संबंधों एवं मूल्यों तथा लोगों के विश्वासों के रूप बदलते हैं । ये परिवर्तन या तो समाजों में आंतरिक परिवर्तनों, जैसे कि जनसंख्या के दबाव, प्रौद्योगिकी में बदलाव के फलस्वरूप या बाहरी दबावों के फलस्वरूप होते हैं। इन बाहरी दबावों में युद्ध तथा व्यापार आदि के माध्यम से अन्य समाजों से संपर्क शामिल है।

सामाजिक परिवर्तन का समय-मान (time scale) से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है । यहां हम छोटे पैमाने के सामाजिक परिवर्तनों का उदाहरण ले सकते हैं —जैसे कि किसी क्लब अथवा कारखाने जैसे छोटे समूह में किसी नेतृत्व का क्रमिक विकास । इसके अंतर्गत रोजगार की दर में परिवर्तन —जैसे थोड़े समय के परिवर्तन —हो सकते हैं । व्यावसायिक ढांचों के परिवर्तन —जैसे दीर्घावधि परिवर्तन —भी हो सकते हैं । चक्रीय परिवर्तन भी होते हैं —जैसे परिवर्तन किसी समाज के सांस्कृतिक जीवन में परिलक्षित होते हैं । किसी समय कोई फैशन अथवा जीवनशैली उतार पर होती है, किन्तु बाद में कभी उसका फिर से चलन हो जाता है। कुछ समाज शास्त्रियों की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन कालक्रम में मानव का सामाजिक व्यवसायों की अभिव्यक्ति के साथ जुड़ा होता है । अत: सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण सामाजिक व्यवस्थाओं में हुए कालक्रमिक परिवर्तनों, जनसंख्या के लक्षणों तथा समाज के सदस्यों के पारस्परिक क्रियाकलाप के प्रतिमानों पर केंद्रित किया जाना चाहिए । सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन का हिस्सा होते हैं । सांस्कृतिक प्रतिमानों के अंतर्गत किसी समाज के मूल्य, विश्वास, ज्ञान तथा उसकी विश्व दृष्टि —ये सब आते हैं ।

4.2.2 अभिवृद्धि

अभिवृद्धि सामाजिक परिवर्तन का ही एक रूप है । यह ऐसी दिशा में होने वाला परिवर्तन है जिसे समाज के सदस्य वांछनीय समझते हैं । एल.टी. हाबहाउस ने अपनी रचना **सोशल डिवेलपमेंट** (1924) में अभिवृद्धि की चतुर्मुखी कसौटी बताई है। इस कसौटी के आयाम हैं —पैमाने, कार्यकुशलता, पारस्परिकता तथा स्वतन्त्रता सब में बढ़ोतरी । ध्यान देने की बात है कि इन कसौटियों में से प्रत्येक का संबंध उन बातों से है जो समाज के अधिक वांछनीय तत्वों में वृद्धि करती हैं ।

आज के समाजशास्त्रीय लेखन में ''अभिवृद्धि'' शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि औद्योगिक रूप से अत्यंत विकसित समाजों तथा ग्रामों एवं कृषि-प्रधान विकासशील समाजों का अंतर स्पष्ट किया जा सके । दूसरे, इस शब्द में उस प्रक्रिया का भी निर्देश है जिसके द्वारा विकासशील समाज अब औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं । अभिवृद्धि की इस धारणा के दो मुख्य लक्षण हैं —

i) एक तो, इसका संबंध विकास के किसी सामान्य सिद्धांत से न होकर एक विशिष्ट प्रकार के परिवर्तन से है जो वर्तमान समय में देखा जा सकता है ।

ii) दूसरे, इसका संबंध मुख्यत : आर्थिक परिवर्तनों से है जिन्हें ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है तथा जिन्हें ठीक-ठीक मापना संभव है ।

अतः कहा जा सकता है कि अभिवृद्धि किसी विशिष्ट दिशा में होने वाला वह सामाजिक परिवर्तन है जिसे समाज के सदस्य वांछनीय समझते हों। परिवर्तन की यह दिशा विभिन्न समाजों में उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा राजनीतिक एवं भौगोलिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग हो सकती है। किन्तु मोटे तौर पर सभी समाजों में इसका अर्थ एक ही होता है। अभिवृद्धि का अर्थ है शिक्षा, कृषि, उद्योग इत्यादि के क्षेत्रों में प्रगति।

अभिवृद्धि के उद्देश निर्दिष्ट सामाजिक एवं राजनीतिक नीतियों के संदर्भ में तय किये जाते हैं। इसमें सामाजिक परिवर्तन की वांछनीय दिशा परिलक्षित होती है। इसी संदर्भ में आगे चलकर एक और शब्द, "आधुनिकीकरण" का प्रयोग किया जायेगा। आधुनिकीकरण शब्द से भी अभिवृद्धि के समान अर्थ का बोध होता है—अंतर यह है कि इसका प्रयोग "परंपरा" से वैषम्य दर्शाने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की विशिष्ट प्रक्रिया का दूसरा नाम ही अभिवृद्धि है। राज्य के कल्याणकारी होने की धारणा के साथ ही अभिवृद्धि की संकल्पना भी ज़ोर पकड़ती गई। यह माना जाने लगा कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को नियोजित और संगठित किया जाना चाहिए ताकि लोगों के कल्याण में अभिवृद्धि हो सके। उदाहरण के लिए भारत में आधुनिकीकरण, संवृद्धि स्वावलंबन तथा समानता को अभिवृद्धि के उद्देश्यों के रूप में निरूपित किया गया है। भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ परिवर्तन की आर्थिक, औद्योगिक एवं कृषि नीतियों के माध्यम से समाज में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं भौतिक लक्ष्यों का निरूपण करती है।

वैसे तो सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत समाज के रूपान्तरण में योजनाबद्ध एवं अनियोजित, अपेक्षित एवं अनपेक्षित, सभी प्रकार की प्रक्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। सामाजिक उथल-पुथल, असंतोष, यहाँ तक कि युद्धों की गणना भी इसके अंतर्गत की जा सकती है। किन्तु ऐसे परिवर्तन अभिवृद्धि की संकल्पना के क्षेत्र में नहीं आते। विकास का अर्थ है सामाजिक परिवर्तन की दिशा में योजनाबद्ध प्रयास। यहाँ इसके उद्देश्यों को भी स्पष्ट रूप से बताया गया है।

4.2.3 संवृद्धि

संवृद्धि की संकल्पना का संबंध सामाजिक परिवर्तन के किसी विशिष्ट रूप एवं ढांचे से है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से "संवृद्धि" का अर्थ है, समाज की अभिवृद्धि की प्रक्रिया में संसाधनों का इस अनुपात में सामाजिक एवं आर्थिक निवेश करना कि उत्पादन की एक निश्चित दर अथवा मात्रा बनायी रखी जा सके। इस सिलसिले में संवृद्धि की दर की बात की जाती है—जैसे जनसंख्या में वृद्धि की दर अथवा आर्थिक निवेशों में वृद्धि की दर, जिसकी मात्रा मापी जा सकती है। संवृद्धि अभिवृद्धि की अवधारणा का ही एक अंग है। संवृद्धि के बिना अभिवृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती।

बोध प्रश्न 1

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर उनके नीचे दिये गये स्थान पर लिखिए।

1 "सामाजिक परिवर्तन" से आप क्या समझते हैं? लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 संकल्पना के रूप में "अभिवृद्धि" कब से महत्वपूर्ण मानी जाने लगी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.3 सामाजिक रूपों के भेद

विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी सामाजिक अथवा जैविक व्यवस्था के प्रारंभिक स्वरूप में परिवर्तन आता है । इसके फलस्वरूप जीवन अथवा सामाजिक संस्थाओं के नये एवं अधिक जटिल रूप उत्पन्न होते हैं । वैसे अपने आप में यह प्रक्रिया जैविक होने के साथ-साथ सामाजिक भी है । समाज में इस प्रक्रिया के आरंभ होने के अनेक कारण होते हैं, जैसे जनसंख्या, भोजन एवं अन्य संसाधनों में वृद्धि होना, नई प्रौद्योगिकी का आविष्कार इत्यादि । इन परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पादन के पुराने साधनों एवं उद्योग-धंधों का स्थान उत्पादन के नये साधन एवं उद्योग-धंधे ले लेते हैं । इसके साथ ही नई संस्थाओं एवं नये सामाजिक संगठनों का उदय होता है । अत: कहा जा सकता है कि सामाजिक विभेदीकरण सामाजिक परिवर्तन की एक विकासात्मक प्रक्रिया है ।

4.3.1 सरल से जटिल समाज की ओर

आइए, अब हम एक नज़र इस बात की ओर डालें कि किस प्रकार मानव-समाज और उसकी संस्थाओं का विकास सरल से जटिल रूपों में हुआ । भोजन की खोज में भटकने वाले, वनवासी, आदि-मानवों के समाज ने किस प्रकार पहले ग्रामीण, कृषि-आधारित समाज का और अंतत: आज के महानगरों में बसने वाले अत्यंत विकसित औद्योगिक समाज का रूप धारण किया ।

यह सामाजिक विकास बहुत धीमी गति से हुआ तथा इसमें बहुत समय लगा । प्राक्-इतिहास एवं पुरातत्व से आपका परिचय हो चुका है । इन दोनों विषयों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार मानव और उसके समाज का विकास हुआ । नये-नये औज़ारों एवं प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं का विकास भी हुआ । आप जानते ही हैं कि किस प्रकार पाषाण-युग में मानव पहले छोटे-छोटे पत्थरों का औज़ारों के रूप में प्रयोग करता था और किस प्रकार बाद में उन्हें काट-छाँट कर सुधारे औज़ारों का रूप दिया जाने लगा । मनुष्य ने अग्नि की खोज कर ली थी और पाषाण-युग की समाप्ति होते-होते वह अपने लिए घर भी बनाने लगा था । भूख मिटाने के लिए अब भी वह शिकार करता था अथवा आहार के लिए भटकता था किंतु संपत्ति की भावना तथा वस्तुओं के विनिमय की प्रणाली का भी सूत्रपात होने लगा था —भले ही इनका रूप कितना ही आदिम क्यों न रहा हो ।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस युग में विकास हुआ । लोग अब मृतकों को गाड़ने लगे थे तथा उन्हें भेंट-पूजा भी अर्पित की जाने लगी थी । जादू-टोनों का प्रयोग आरंभ हो गया था तथा ऐसे आस्था-विश्वास जन्म लेने लगे थे जिन्होंने आगे चलकर धर्मों का रूप ग्रहण कर लिया । अब लोग छोटे-छोटे समूहों में संगठित जीवन जीना सीख गए थे। लिंगभेद तथा आयुवर्ग के अनुरूप श्रम का कुछ विभाजन, कुछ साथ ही विभिन्न कौशलों में विशेषज्ञता प्राप्त करने की शुरूआत भी हो चुकी थी।

पाषाण-युग के पश्चात आया मध्य पाषाण-युग । इस युग में मानव को जलवायु के घोर परिवर्तनों का सामना करना पड़ा । उसने अपने रहन-सहन का ढंग बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया । हिमयुग की समाप्ति पर यूरोप में नये जंगलों का उदय हुआ, एशिया तथा अफ्रीका के क्षेत्रों में अर्ध-मरुभूमियों का विस्तार हुआ । इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया तथा नई-नई प्रौद्योगिकी विकसित कीं । विकास की इस प्रक्रिया से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार समाज एवं संस्थाएँ सरल से जटिल होती गयीं ।

4.3.2 आंचलिक संस्कृतियाँ: प्रौद्योगिक प्रगति एवं सामाजिक भेद

इस युग में जो भी सामाजिक इकाईयाँ विकसित हुईं उनमें से हरेक की अपनी विशिष्ट संस्कृति थी । उदाहरण के लिए, आदि गुहा-मानव तथा झाड़ियों में रहने वाले मानव अपने भोजन, औज़ारों तथा शरण-स्थलों के अलग-अलग ढंग के होने के कारण एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे । गुहा-मानव (Cave-man) ने चित्र बनाना सीख लिया था । वह जो कुछ बाहर देखता था उसे अपनी गुफा की दीवारों पर अंकित कर लेता था । सौभाग्य से गुहा-मानवों द्वारा बनाए गए ऐसे चित्र प्रकाश में आए हैं । यहाँ इन चित्रों के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं —

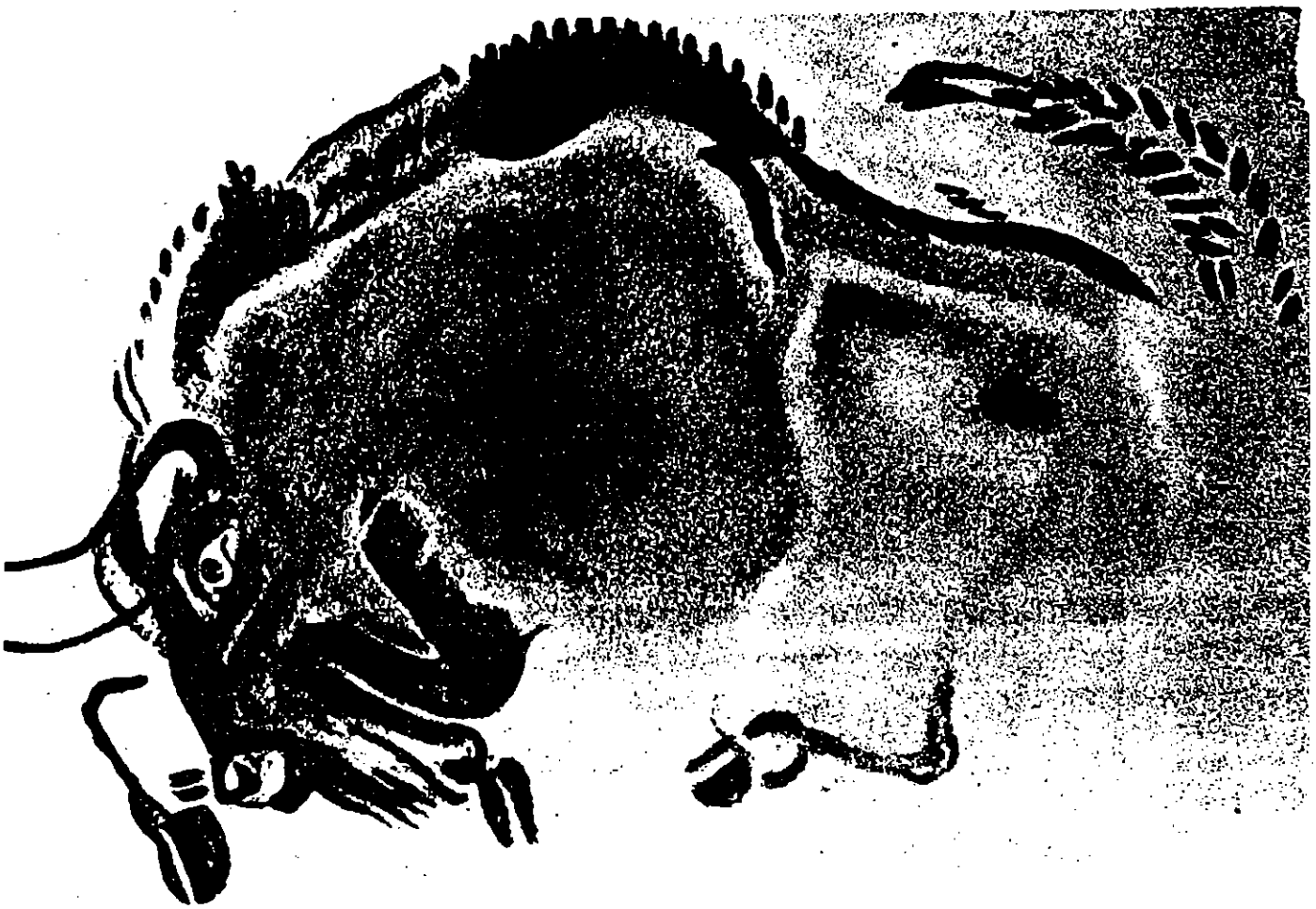

13. गुफा चित्र तथा रेखांकन (अल्तामीरा, स्पेन)

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न संस्कृतियों की विकास-प्रक्रियाओं के पीछे भौगोलिक विभिन्नताएँ निहित थीं। उदाहरण के लिए, जब एशिया में लकड़ी के लट्ठों को नाव के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, तब अफ्रीका में मछली पकड़ने के लिए लकड़ी को खोखला करके बनाई गई नाव का प्रयोग होता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि सभी क्षेत्रों में सांस्कृतिक विकास एक साथ और एक सा नहीं हुआ। जब स्पेन का गुहा-मानव बढ़िया गुहा-चित्र बनाता था तब संभव है कई क्षेत्रों में गुहा-मानव चित्र अंकित करना ही नहीं जानते थे। परिणामस्वरूप स्पेन के गुहा-मानवों की सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी तो हमें है किन्तु अन्य कई क्षेत्रों के गुहा-मानवों की सांस्कृतिक गतिविधियों के संबंध में हमें कुछ भी पता नहीं है।

सामाजिक विकास के अगले चरण —अर्थात् उत्तर पाषाण-युग में आधारभूत सामाजिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति हुई। आखिर यह क्रांति थी क्या? यह क्रांति थी कृषि का आहार-उत्पादन के प्रमुख साधन के रूप में अपनाया जाना। अब मनुष्य प्रकृति पर अपेक्षाकृत कम आश्रित था। अब वह अपने भोजन का उत्पादन स्वयं करने लगा था और समाज बनाकर एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगा था।

आज हमारी दृष्टि में यह बातें नगण्य हो सकती हैं क्योंकि आज समाज ने बहुत सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति कर ली है। किंतु पचास हजार वर्ष पूर्व के मानव के लिए यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी। प्रौद्योगिकी के विकास, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक संबंधों की व्यवस्थाओं के बीच अत्यंत घनिष्ठ संबंध हैं। यह बात मानव के सामाजिक इतिहास से स्पष्ट होती है। यहाँ हम इसे संक्षेप में समझाने का प्रयत्न करेंगे।

आदिम-युग में जब मानव अपनी प्रौद्योगिकी एवं उत्पादन के साधनों को विकसित कर रहा था तब उसके समाज की बनावट सरल थी। उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार थे :

- प्रौद्योगिकी अर्थात् पत्थर एवं हड्डी के औज़ारों का प्रारंभिक ज्ञान,
- मान्यताओं, पारस्परिक संबंधों एवं पारिवारिक संगठनों की मूल बातों का ज्ञान,
- एक दूसरे तक अपनी बात पहुँचाने के लिए यानी अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों, संकेतों तथा किसी न किसी तरह की भाषा का प्रयोग (जिसके संबंध में हमें कोई जानकारी नहीं है)।

इस युग में अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था । अत: वर्ग अथवा श्रेणियों के विभेदीकरण का प्रश्न ही नहीं था । लोग छोटे-छोटे समूहों में रहते थे । वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुए खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते थे । उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना इस बात पर निर्भर था कि खाना कहाँ मिलता है ।

ऐसी स्थिति में कृषि का ज्ञान हो जाने से क्या अंतर आया ? वास्तव में कृषि की जानकारी ने सामाजिक विकास की प्रक्रिया को एक नया ही मोड़ दे दिया ।

यह ठीक-ठीक कहना बड़ा कठिन है कि मानव ने वास्तव में अन्न उगाना कैसे सीखा । बहुत संभव है कि प्राकृतिक रूप से उगने और फलने-फूलने वाले पेड़-पौधों को देख कर ही उसने खेती करना सीखा हो । जब वह एक स्थान पर रहकर अन्न उगाने लगा तो उसके रहन-सहन में भारी परिवर्तन आया । अब मनुष्य खानाबदोशों का जीवन छोड़कर स्थायी रूप से सामाजिक जीवन बिताने लगा । मानव इतिहास में यह उपलब्धि अनुपम थी । वह वस्तु: मानव की जीवन-शैली में एक क्रान्ति थी ।

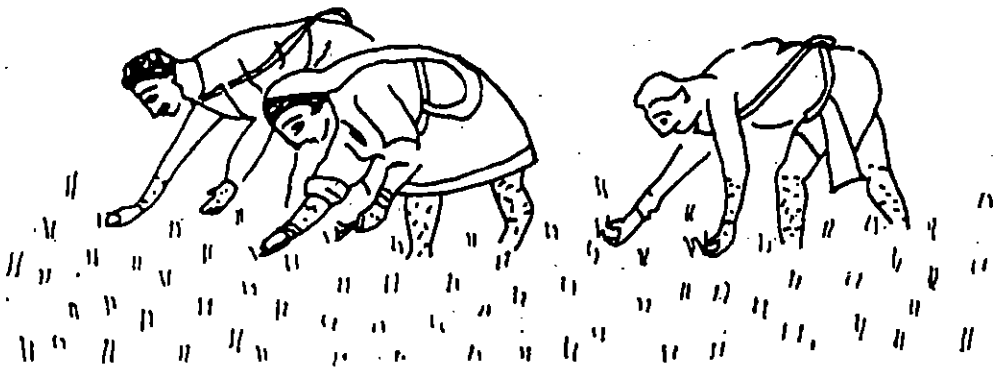

14. बुवाई करते हुए किसान

मानव के खानाबदोश जीवन को छोड़कर स्थायी सामाजिक जीवन अपना लेने के क्या परिणाम हुए ?

- स्थायी होने के कारण अब घरों को अधिक मजबूत बनाना आवश्यक हो गया होगा । फलस्वरूप झोपड़ी-नुमा घर बनने शुरू हो गए होंगे ।
- आवश्यकतामर भोजन का उत्पादन कर लिया जाता होगा । अत: भोजन के लिए भटकने और शिकार करने की आवश्यकता एक साथ ही समाप्त हो गयी होगी ।
- भोजन का उत्पादन बढ़ाने के लिए मानव ने प्रयोग किये होंगे और नये औज़ारों का निर्माण किया होगा । उदाहरण के लिए आठ से दस हजार वर्ष पूर्व दराँतीनुमा ज्यामितीय औजार के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं । भारत में ऐसे सूक्ष्माक्ष्म-उपकरण (microlithic stone tools) गुजरात में मिले हैं । ये उपकरण पत्थर को लकड़ी अथवा हड्डी के टुकड़े में बिठाकर दराँती जैसे मिश्रित उपकरण की भाँति बनाये जाते थे ।
- अनुमान है कि आरंभ में बुवाई के लिए खोदने वाला दराँतियों का प्रयोग किया जाता था । बाद में कुदाल और हल का आविष्कार हुआ ।

15. एकाश्म (मोनोलिथिक) ज्यामितीय औज़ार (गुजरात 8000–1000 ई.पू.)

- पशु पालने और उनका उपयोग करने की प्रक्रिया आरंभ हुई ।
- कृषि के आरंभ का अर्थ था कि भोजन जैसे भौतिक संसाधनों को अधिक श्रम करके बढ़ाया जा सकता था । यह स्थिति पहले नहीं थी । इसके अतिरिक्त उत्पादन अर्थात् आवश्यकता से अधिक उत्पादन का सूत्रपात हुआ । अतिरिक्त उत्पादन की धारणा ने जन्म लिया । यहीं से वस्तुओं के विनिमय की प्रणाली आरंभ हुई ।
- फलस्वरूप श्रम-विभाजन का भी सूत्रपात हुआ । यह विभाजन न केवल कौशल अपितु स्त्री या पुरुष होने के आधार पर भी हुआ ।
- श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप स्पष्ट सामाजिक संस्थाओं एवं प्रशासन के विभिन्न रूपों का उदय हुआ ।
- श्रम-विभाजन से व्यापार एवं कृषि के क्षेत्रों में कौशल की विशेषज्ञताओं का विकास हुआ । भोजन के अतिरिक्त उत्पादन के कारण अब सब लोगों को भोजन उत्पादन के ..र्य में नहीं लगना पड़ता था ।
- जो लोग भोजन के उत्पादन के कार्य में नहीं लगे थे वे अन्य कौशलों को हासिल करने में लग गए ।
- यह तथ्य कला-कौशलों एवं उपकरणों के निर्माण आदि में सहायक हुआ ।

लोगों में पारस्परिक संपर्क बढ़ने एवं ज्ञान में वृद्धि के कारण सामाजिक विकास की गति में भी तेज़ी आई । जनसंख्या-वृद्धि आस्था-विश्वासों एवं सामाजिक नियमों के उदय तथा सामाजिक ढाँचों के विभेदीकरण ने विकास की इस गति को और तीव्र किया ।

बोध प्रश्न 2

1 निम्न कथनों में से कौन से सही है ? (✓ या × का निशान लगाइये)

i) कृषि का विकास सारे संसार में एक साथ हुआ । ( )

ii) नव पाषाण युग में ज्यामितीय उपकरण ताँबे के बने होते थे । ( )

iii) सामाजिक विकास की प्रक्रिया में कृषि का आविष्कार एक महान उपलब्धि थी । ( )

i) पाषाण-युग के मानव की अपनी एक अलग संस्कृति थी । ( )

2 लगभग सौ शब्दों में लिखिए कि सामाजिक जीवन में स्थिरता आ जाने का सामाजिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा । अध्ययन-केंद्र के सलाहकार महोदय के साथ अपने उत्तर का विवेचन कीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.4 वर्ग-विभाजनों का उदय

विकास की प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण योगदान था धातु की खोज और उसके प्रयोग का प्राक्-इतिहास के प्रमुख विद्वान प्रो. वी. गॉर्डन चाइल्ड अपनी प्रसिद्ध रचना "मैन मेक्स हिमसेल्फ" (Man Makes Himself) में लिखते हैं:

> "पत्थर की कुल्हाड़ी एक ऐसा औज़ार था जिसे कोई भी बनाकर प्रयोग कर सकता था । यह समाज कृषकों और शिकारियों का आत्मनिर्भर-समाज था । इसमें न तो श्रम की विशेषता निहित थी, न उस समाज का व्यापार बाहर फैला हुआ था । पाषाण कुल्हाड़ी के स्थान पर ताँबे की कुल्हाड़ी का आना न केवल यह दर्शाता है कि एक श्रेष्ठ औज़ार काम में आने लगा अपितु अधिक जटिल आर्थिक एवं सामाजिक बनावट की ओर भी इंगित करता है । ताँबे को ढालकर औज़ार बनाने की प्रक्रिया इतनी सरल नहीं थी कि उसे हर कोई अन्न उगाने, शिकार करने अथवा बच्चों के पालन-पोषण के साथ कर सकता। इस कार्य के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता थी जो अपने भोजन इत्यादि अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए अतिरिक्त उत्पादन पर निर्भर थे। यह अतिरिक्त उत्पादन करने वाले भी विशेषज्ञ होते थे।"

ताम्र-युग में धातु का प्रयोग सीमित रूप से ही किया जाता था — शस्त्रों, उपकरणों एवं आभूषणों के निर्माण के लिए । किंतु जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, लोहे की खोज तथा इसे ढालने की प्रक्रिया ने मानव के इतिहास में एक और क्रांति को जन्म दिया । कठोर धातु होने के कारण लोहे के बने हल जैसे उपकरणों ने कृषि के विस्तार में अधिकाधिक योग दिया ।

16. लोहे का औज़ार (तक्षशिला, 1-5 ईसवी शती)

मनुष्य ने सिंचाई के बेहतर तरीकों का विकास किया जैसे पानी के एक स्थान पर इकट्ठा करना आदि । धीरे-धीरे वह अपनी ज़रूरत से काफी अधिक अनाज उपजाने लगा ।

चक्र या पहिए के आविष्कार ने यातायात और व्यापार की गति को पहले ही तीव्र कर दिया था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ताम्र-युग की अधिकांश संस्कृतियों में पारस्परिक संपर्क था । सिक्कों के रूप में मुद्रा के प्रयोग ने वस्तु-विनिमय की प्रणाली को समाप्त कर दिया । ताम्र-युग में ही बाटों एवं भाषा का प्रयोग आरंभ हुआ । मानव-समाज सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर था ।

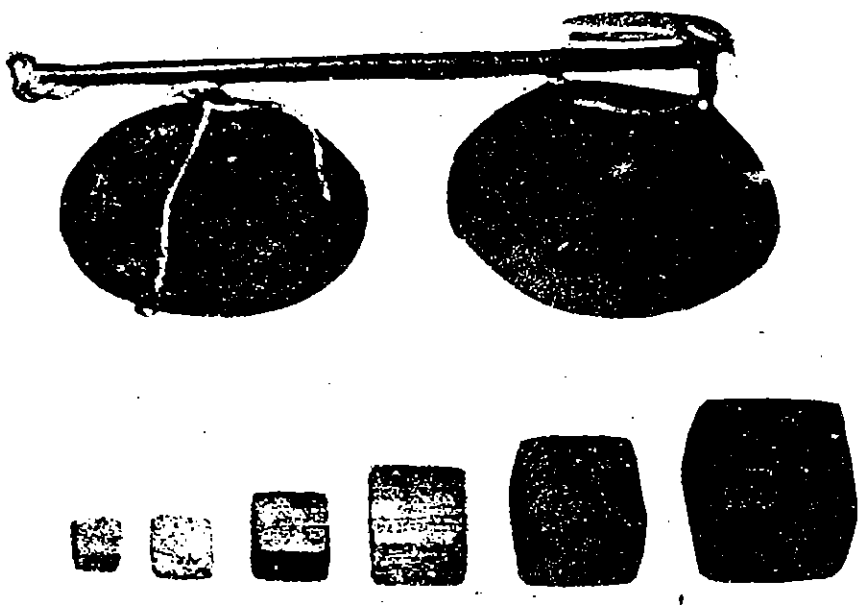

17. तराजू एवं बाट (सिंधु घाटी 3500–2500 ईसवी पूर्व)

समाज में इस परिवर्तन के साथ ही मानवों के पारस्परिक संबंधों में भी बदलाव आ रहा था । अब मनुष्य को भोजन के लिए जितना अन्न चाहिए था वह उससे अधिक उत्पन्न कर सकता था । इस तरह वर्ग-भेदों का उदय हुआ । एक ओर उत्पादन के साधनों के स्वामियों का वर्ग था, तो दूसरी ओर उत्पादकों और श्रमिकों का वर्ग था जो इन स्वामियों के सेवक थे ।

प्राचीन मिस्र एवं यूनान जैसे समाजों में दास-प्रथा भी विकसित हो रही थी । शीघ्र ही इस प्रथा ने उत्पादन के एक नये साधन का रूप ले लिया । अब अन्य वस्तुओं की भाँति मनुष्य को भी खरीदा और बेचा जाने लगा ।

यूरोप के कुछ हिस्सों में कृषि दासता एवं सामंती-प्रथा का उदय हुआ । इस संबंध में आप अगले खंडों में पढ़ेंगे ।

4.5 मानव-बस्तियों के निर्माण की प्रक्रिया

आपका परिचय पहले ही उन आधारभूत घटकों से कराया जा चुका है जिनका सामाजिक परिवर्तन, विकास तथा मानव बस्तियों के बसने में योगदान रहा है । ये घटक थे : उत्पादन के तौर-तरीके, प्रौद्योगिकी तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ इत्यादि। इस परिच्छेद में हम कुछ अन्य बातों का विवेचन करेंगे जिनकी मानव-बस्तियों के बसने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

i) मानव बस्तियों के बसने में स्त्रियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी । प्राक्-इतिहास के अध्येता जानते हैं कि सबसे पहले स्त्रियों ने ही पेड़-पौधों एवं फल-सब्जियों को उगाने का कार्य किया । स्त्रियाँ भूमि जोतती थीं, पौधे लगाती थीं एवं आहार के लिए पशुपालन करती थीं । सेक्स पर आधारित श्रम विभाजन के साथ ही यह प्रक्रिया शुरू हुई होगी । अनुमान है कि जब कबीले के पुरुष शिकार के लिए निकल पड़ते थे तो स्त्रियाँ घर पर रह कर इन कार्यों में लग जाया करती थीं ।

ii) परिवार, वंश, कबीले जैसी सामाजिक संस्थाओं का विकास भी मानव-बस्तियाँ बसाने में सहायक हुआ । आगे चलकर इन्होंने छोटे-छोटे गाँवों का रूप ले लिया । इन बस्तियों के लिए स्थान का चुनाव करने में अनुकूल भौगोलिक स्थिति, पानी के संसाधन एवं जलवायु की परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका होती थी ।

iii) इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आरंभिक मानव-बस्तियाँ नदी-घाटियों के प्रदेश में ही बसीं । प्राचीन विश्व की सभी महान् सभ्यताएँ नदी-किनारे ही फली-फूलीं ।

iv) यह तो हम देख चुके हैं कि मानव-बस्तियाँ बसाने में कृषि ने प्रमुख भूमिका निभाई ।

v) श्रम-विभाजन की प्रणाली, जो शायद स्त्री पुरुष के भेद के कारण उत्पन्न हुई होगी, धीरे-धीरे फैलकर विशिष्ट समूहों पर भी लागू होने लगी । भारत में व्यवसायों का विभाजन आनुवंशिक हो गया और इसने जाति-प्रथा का रूप ले लिया ।

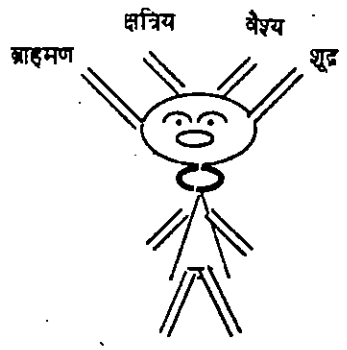

जाति-प्रथा के विकास के चरण

चरण-1 जाति केवल व्यवसाय के आधार पर, जन्म के आधार पर नहीं । व्यवसाय में परिवर्तन के साथ जाति में भी परिवर्तन संभव । व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता ।

चरण-2 जाति का आनुवंशिक अर्थात् जन्म पर आधारित होना, किंतु व्यवसाय की स्वतंत्रता अब भी। उदाहरण के लिए शूद्र ब्राह्मण का कर्म करता था यद्यपि कहलाता शूद्र ही था ।

चरण-3 जाति और व्यवसाय दोनों ही आनुवंशिक । जाति अनुसार ही व्यवसाय ।

चरण-4 जातियों का उप-जातियों में विभाजन ।

vi) सामाजिक परिवर्तन एवं मानव-बस्तियाँ बसने की प्रक्रिया में ग्राम-समिति, ग्राम-प्रधान, राजा और उसके मन्त्रिमंडल जैसी राजनीतिक संस्थाओं का जन्म हुआ । मानव-बस्तियों के निर्माण में इनका बहुत बड़ा योगदान रहा ।

vii) व्यापार, प्रौद्योगिकी तथा विशेषज्ञता वाले कौशलों के विकास के साथ मानव-बस्तियों ने कस्बों और शहरों का रूप ले लिया । शहरी सभ्यताओं का जन्म हुआ । ग्रामीण समाज की शहरी समाज में परिणति के कुछ मुख्य कारण थे :

- व्यापार-केंद्रों के रूप में कस्बों का उदय हुआ ।
- कस्बे सत्ता एवं प्रशासन के केंद्र हो गए ।
- कुछ शहरों की स्थापना एवं विकास तीर्थ-स्थानों के रूप में हुआ ।
- कुछ औद्योगीकृत समाजों में तो औद्योगिक क्रांति ने शहरों की काया ही पलट दी ।

शहरी और ग्रामीण बस्तियों के बीच व्यावसायिक ढाँचे के आधार पर विभेदीकरण किया जाने लगा ।

- अधिकांश शहरी लोगों के व्यवसाय कृषि पर आधारित नहीं होते जबकि ग्रामीण लोग मुख्यत: कृषि पर ही निर्भर होते हैं ।
- शुद्ध रूप से कृषि पर आधारित ढाँचे का व्यापार, उद्योगों एवं नौकरी-चाकरी पर आधारित ढाँचे में परिवर्तित हो जाना शहरी जीवन के उदय एवं विकास की पहचान है ।

इन पहलुओं के संबंध में आप विस्तार से इसी पाठ्यक्रम के अगले खंडों में पढ़ेंगे । यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने सामाजिक विकास की गति को आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा दिया है । आज हम औद्योगिक रूप से विकसित समाज के उद्योगोत्तर चरण में प्रवेश कर रहे हैं । कुछ समाजशास्त्रियों का विचार है कि इस युग में उद्योगतंत्रवादी, वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी समाज में सर्वोपरि होंगे ।

मानव बस्तियों के विकास की प्रक्रिया

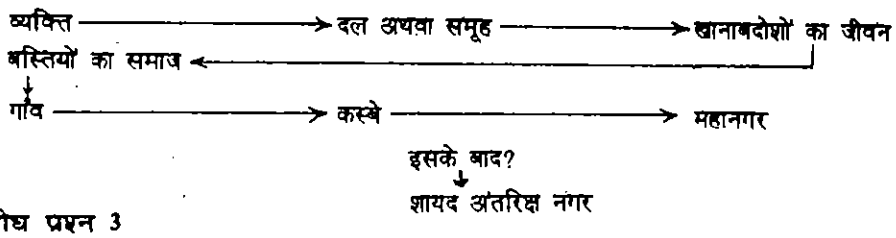

बोध प्रश्न 3

1 नीचे दिए गए कथनों में से कौन सा सही है ?
(✓) या (✗) का निशान लगाकर उत्तर दीजिए ।

i) मानव समाज के विकास में धातु की खोज का कोई महत्व नहीं है । ( )

ii) प्राचीन यूनान में दासता उत्पादन का एक तरीका था । ( )

iii) पेड़-पौधों को लगाने का कार्य स्त्रियों ने शुरू किया । ( )

iv) सभी बड़ी सभ्यताओं का विकास रेगिस्तानों में हुआ । ( )

2 मानव बस्तियों के विकास में स्त्रियों के योगदान के बारे में पाँच पंक्तियों में बताइए ।

.....

.....

.....

.....

.....

3 जाति-व्यवस्था के विकास की तीन अवस्थाएँ कौन-कौन सी थीं ? लगभग 100 शब्दों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

4. ग्रामीण और शहरी बस्तियों के बीच अंतर बताइए। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.6 सारांश

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सभी समाजों का अंग होती है। फिर भी इसके विभिन्न रूपों को समझने के लिए आवश्यक है कि इसे संकल्पना के रूप में समझा जाये तथा इसे विकास, अभिवृद्धि एवं संवृद्धि की संबद्ध संकल्पनाओं से अलग करके देखा जाय। जैविक विकास परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे उल्टा नहीं जा सकता और जो जीवन के सरल से जटिल रूपों की ओर अग्रसर होती है। सामाजिक परिवर्तन भी विकास की प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होता है किंतु इसकी प्रक्रिया को उल्टा जा सकता है। वृद्धि, विकास एवं प्रगति सामाजिक परिवर्तन के आदर्शीकृत पहलू हैं जो सामान्यत: मानव-प्रयास एवं योजना के परिणाम होते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया में समाज के रूप में बदलाव आ जाता है तथा सामाजिक संगठनों, कार्यपद्धतियों एवं सांस्कृतिक संरचनाओं में भिन्नता आ जाती है। इस परिवर्तन के द्वारा ही अग्रसर समाज सरल से जटिल अवस्थाओं की ओर बढ़ा है। इस प्रक्रिया में प्रौद्योगिक विकास ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण किया, अतिरिक्त उत्पादन संभव हो पाया, मानव बस्तियों एवं संचार संसाधनों का एवं कस्बों और शहरों का विकास हुआ। सत्ता की नई संस्थाओं का जन्म हुआ। सामाजिक वर्गों एवं शासन के रूपों का विकास आदि अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भी इसी परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण संभव हो पाए हैं।

4.7 शब्दावली

योजनाबद्ध : योजना बनाकर उसके आधार पर की जाने वाली कार्यवाई आदि।

गुहा-मानव : वह अवस्था जब मनुष्य गुफाओं में रहता था।

खानाबदोश : किसी एक स्थान पर बस कर न रहने वाले लोग जिनका कोई स्थायी घरबार न हो।

पुरातत्व : प्राचीन काल के विषय में अध्ययन अनुसंधान से संबंधित विद्या।

प्राक् : इतिहास में वर्णित काल से पहले का।

4.8 बोध-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 देखिए अनुच्छेद 4.2.1

2 देखिए अनुच्छेद 4.2.2

बोध प्रश्न 2

1 (i) × (ii) × (iii) ✓ (iv) ✓

2 देखिए अनुच्छेद 4.3.2

बोध प्रश्न 3

1 (i) × (ii) ✓ (iii) ✓ (iv) ×

2 देखिए अनुच्छेद 4.5 (i)

3 देखिए अनुच्छेद 4.5 (v)

4 देखिए अनुच्छेद 4.5 (vii)

कुछ उपयोगी पुस्तकें

गार्डन, डी.एच. **भारतीय संस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि** (अनु.) बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना

अलेक्सेयेव, वलेटी, 1987, **मानव जाति की उत्पत्ति**, प्रगति प्रकाशन, मास्को

पाठक, सुशील माधम, **विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास**, (तृतीय संस्करण), बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना

चाइल्ड, बी. गार्डन, **प्राचीनतम प्राच्य सभ्यता पर नया प्रकाश** (अनु.) बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना

ह्यूम, डेविड, **मानव-बुद्धि-संबंधी विवेचन**, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना

चाइल्ड, बी.गार्डन, **मानव प्रगति की कहानी**, (अनु.) उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ

दूबे, श्यामाचरण, **मानव और संस्कृति**, राजकमल, नई दिल्ली

वानलून, हेंड्रिक विलेम, **मनुष्य जाति की कहानी**, (अनु.) उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ

Notes

खंड

2

सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

इकाई 5

पशुपालन तथा कृषि का प्रारंभ 5

इकाई 6

नदी घाटी सभ्यता 17

इकाई 7

सामंतवादी समाज 37

इकाई 8

पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन 52

इकाई 9

औद्योगिक क्रांति 77

खंड 2 सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

इस खंड में पाँच इकाइयाँ हैं जिनमें बताया गया है कि क्रमश: किस प्रकार मानव का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास हुआ। मानव की सामाजिक और सांस्कृतिक संभावनाओं में उस समय आधारभूत परिवर्तन आया जब उसने घुमन्तू जीवन छोड़कर स्थायी जीवन बिताना आरंभ किया तथा कृषि एवं पशुपालन करने लगा। जंगली गेहूँ और जौ के पौधों को उसने उगाना आरंभ किया तथा भेड़-बकरियों को पालतू बनाया। इस कारण धीरे-धीरे मानव बंजारे का जीवन त्याग कर एक स्थान पर रहने लगे थे। इस संबंध में आप पाँचवीं इकाई में पढ़ेंगे जहाँ कृषि के आरंभ और पशुओं का पालतू बनाये जाने के बारे में बताया गया है। ये बातें मनुष्य के लिए अत्यधिक सामाजिक महत्व की थीं। कृषि ने लोगों के बीच सहयोग की भावना को जन्म दिया। फसलों को देखरेख की आवश्यकता थी अत: लोग एक ही स्थान पर रहने लगे और इस प्रकार लोगों में अपनी जमीन के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। सामूहिक जीवन के संबंधों तथा राजनीतिक संस्थाओं का उदय एक साथ ही हुआ। साथ ही रीति-रिवाजो और धार्मिक विश्वासों ने भी जन्म लिया।

समय बीतने के साथ ही कृषि में विकास हुआ। छठी इकाई में आपका परिचय "नदी घाटी की सभ्यताओं" से कराया जाएगा जिसमें आपको इन सभ्यताओं के ऐतिहासिक एवं पुरातत्व संबंधी प्रमाण मिलेंगे। इन बातों से आप यह जान सकेंगे कि ये सभ्यताएँ किस प्रकार की थीं। नदी घाटियों की भौगोलिक स्थिति एवं पारिस्थितिकी (ecology) ऐसी थी कि वे कृषि, सिंचाई एवं मानव बस्तियों के लिए आदर्श सिद्ध हुई। सामाजिक विकास के इस चरण में स्थायी सामूहिक जीवन की स्थापना के साथ ही सामाजिक संस्थाओं का भी उदय हुआ किन्तु इन सभ्यताओं की सबसे बड़ी विशेषता थी शहरी सभ्यता का विकास, व्यापार एवं वाणिज्य का उदय तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रवीणता और विशेषज्ञता का आरंभ। नदी घाटी सभ्यताओं में प्रमुख हैं—मेसोपोटामिया, मिस्र तथा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यताएँ।

सभ्यता के विकास तथा विभिन्न कौशलों में प्रवीणता और विशेषज्ञता के साथ ही आरंभ हुई दासता की प्रथा। लोगों को खेतों, खदानों, जहाजों तथा घरों में श्रम के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। इस प्रकार दास प्रथा ने उत्पादन के साधन का रूप धारण कर लिया। इसके परिणामस्वरूप अतिरिक्त संसाधनों का जन्म हुआ, समृद्ध सभ्यताओं का विकास हुआ तथा वास्तुकला, विज्ञान, साहित्य एवं व्यावसायिक कौशलों के क्षेत्र में उन्नति हुई किन्तु इसके पीछे निहित शोषक व्यवस्था तथा इसके आधार सैन्य-राजों में विघटन के कारण इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह भी हुए।

अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन तथा नई-नई प्रौद्योगिकियों के विकास ने भी इस व्यवस्था के ह्रास में योगदान दिया। दासों का स्थान धीरे-धीरे कृषि-दासों ने ले लिया। ये कृषि-दास उस भूमि को छोड़ने के लिए स्वतंत्र नहीं थे जिसे ये जोतते थे। इस बंधन का आधार कर्त्तव्यों एवं अधिकारों की एक पारस्परिक व्यवस्था थी। मानव समाज के विकास के इस चरण को इतिहासकारों ने "सामंतवादी समाज" का नाम दिया है। इस अवस्था के विकास एवं सामाजिक लक्षणों का विवेचन इसी खंड की सातवीं इकाई में किया गया है। सामंतवाद के उद्भव के संबंध में अनेक सिद्धांत हैं किन्तु इसके सामाजिक एवं आर्थिक कारण बहुत स्पष्ट हैं परन्तु अभी भी विद्वान इस संबंध में एक मत नहीं हैं कि भारत में सामंतवाद था अथवा नहीं।

प्रौद्योगिकी में निरन्तर नई-नई खोजो ने कृषि को भी पूँजी प्रधान बना दिया। कई किसानों के लिए कृषि बूते से बाहर की बात हो गई। कई सामंत और जमींदार भी नई प्रौद्योगिकी के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सके। इसके साथ ही चौदहवीं सदी के यूरोप की जलवायु में बहुत भारी परिवर्तन हुए। इन सबके परिणामस्वरूप सामंतवाद का पतन हो गया। शक्तिशाली सम्राटों ने छोटे-छोटे सामंतों के समूहों को अपनी सैन्य एवं राजनीतिक शक्ति के अधीन कर लिया। इस काम में शहरी व्यापारियों एवं पेशावरों ने राजाओं की मदद की। राजा ने चर्च पर भी अपनी प्रभुता स्थापित की और इस तरह अपनी शक्ति को और सुदृढ़ किया। चर्च के भीतर भी महत्वपूर्ण सुधारवादी परिवर्तन हो रहे थे। यूरोपीय इतिहास का यह काल "पुनर्जागरण और धर्मसुधार" का काल कहलाता है। इस युग की सामाजिक सांस्कृतिक एवं संस्थागत विशेषताओं का विवेचन इस खंड की आठवीं इकाई में किया गया है। इस काल को पुनर्जागरण का युग इसलिए कहा जाता है कि इस समय मानववाद, उदारवाद तथा दार्शनिक तर्कणा की स्वतंत्रता आदि प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही थीं। इनमें से कई प्राचीनकाल से ली गई प्रवृत्तियाँ थीं जिनका इस युग में पुन: पुनर्जागरण हुआ और ये खूब फूलीं-फलीं। यह युग क्रांतिका[illegible] युग भी

था। प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन इसी समय चला तथा यूरोपीय शक्तियों का उपनिवेशवादी विस्तार भी इसी काल में हुआ।

इस खंड के अंत में नवीं इकाई में आपको यूरोप में हुए सामाजिक परिवर्तन के बारे में बताया जाएगा। यह परिवर्तन "औद्योगिक क्रांति" के नाम से प्रसिद्ध है। यह क्रांति प्रौद्योगिकी शक्ति के नये संसाधनों, कपड़ा उद्योग की नई मशीनों तथा उद्योग की अन्य वस्तुओं के उत्पादन में तीव्र प्रगति का परिणाम थी। इससे समाज में एक नए श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग था पारिश्रमिक कमाने वाला मजदूर वर्ग जो अपनी आजीविका के लिए पूर्णरूपेण कारखानों पर निर्भर था। साथ ही उत्पादन के साधनों के स्वामियों, पूँजीपतियों का भी एक नया वर्ग उभरा। इस वर्ग का औद्योगिक उत्पादन पर पूर्ण प्रभुत्व था। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन प्रणाली कल-कारखाने प्रधान हो गई। इसमें पूँजी तथा प्रौद्योगिकी का बहुत महत्व था। नई-नई सामाजिक संस्थाओं एवं मूल्यों, विशेष रूप से उदारवाद, जनतंत्र तथा सरकार की संवैधानिक प्रणाली का उदय हुआ। औद्योगिक विकास के पूँजीवादी रूप तथा आर्थिक एवं प्रौद्योगिक शक्तियों ने एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका के देशों को अपना उपनिवेश बना लिया। उपनिवेशों को यूरोप ने अपने तैयार माल का बाजार बनाया तथा यहीं से कच्चा माल तथा अन्य संसाधन भी प्राप्त होते थे। इसी काल को आधुनिक युग का आरंभ माना जाता है। इस खंड से सम्बंधित एक आडियो "प्राचीन भारत में दास प्रथा" भी बनाया गया है जो विश्वविद्यालय के अध्ययन केन्द्रों में उपलब्ध है।

इसके अलावा हमने आपके लिए दो वीडियो कार्यक्रम बनाए हैं। ये आपको इतिहास के ऐच्छिक कार्यक्रम (EHI-02) के तहत मिलेंगे। इनसे आपको इकाई 5 तथा 6 समझने में मदद मिलेगी। इनके शीर्षक हैं : पुरातत्व और इतिहास भाग (1) पुरावशेषों की खोज (2) अतीत का पुनर्सृजन।

आभार

इटली के नई दिल्ली स्थित सांस्कृतिक केन्द्र एवं स्पेन की चांसरी तथा पैरिस स्थित फ्रांसीसी पुरातत्व मिशन ने हमें कतिपय चित्र प्रदान किए हैं।

उनके इस सहयोग के लिए हम हृदय से आभारी हैं।

इकाई 5 पशुपालन तथा कृषि का प्रारंभ

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 मानव : शिकारी और भोजन संग्रहकर्ता के रूप में
5.3 पशुपालन और कृषि के पुरातात्विक प्रमाण
5.4 पश्चिम एशिया के पहले किसान
5.5 भारत में कृषि तथा पशुपालन का विकास
5.6 कृषि तथा पशु-पालन के परिणाम
5.7 शिकारी तथा कृषक समाजों की सामाजिक संरचना
5.8 सामाजिक जटिलता का विकास
5.9 सारांश
5.10 शब्दावली
5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

खण्ड 1 में आपने मानव और उसकी संस्कृति के विकास की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों के विषय में जानकारी प्राप्त की। नई सामाजिक गतिविधियों और उत्पादन के नये साधनों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उत्पादन की एक पद्धति के रूप में कृषि का मानव समाज के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस इकाई में हम कृषि के इसी महत्व के विषय में अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- पशुपालन और कृषि द्वारा मानव के भोजन संग्रहकर्त्ता (food gatherer) से कृषक बनने की प्रक्रिया समझ सकेंगे,
- इस विकास में योगदान देने वाले जलवायु संबंधी तथा पारिस्थितिकी संबंधी कारकों को समझ सकेंगे,
- इस विकास के स्वरूप को स्थापित करने वाले पुरातात्विक और ऐतिहासिक प्रमाणों के बारे में जान पाएँगे,
- व्यवस्थित कृषि के सामाजिक परिणामों—जैसे व्यवस्थित सामाजिक जीवन, भूमि के लिए लगाव, सामूहिक गतिविधियाँ और जटिल सामाजिक ढाँचे का विकास आदि को समझ सकेंगे, और
- यह जान सकेंगे कि किस प्रकार व्यवस्थित कृषि की उत्पत्ति ने प्रौद्योगिकी को बेहतर बनाया और राजनीतिक संगठनों को जन्म दिया।

5.1 प्रस्तावना

मानव जाति ने लगभग 10,000 वर्ष पूर्व अपनी अर्थ-व्यवस्था को भोजन संग्रह के स्तर से खेती तक धीरे-धीरे विकसित किया। यह विकास सबसे पहले पश्चिम एशिया में तुर्की, ईरान, इराक, सीरिया और फिलीस्तीन में हुआ। धान की खेती भारत में विंध्य पठार की बेलन घाटी और गेहूँ तथा जौ की खेती अफगानिस्तान के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र और पाकिस्तान में शुरू हुई। गेहूँ और जौ की खेती के प्रमाण 6500 से 5000 ईसा पूर्व तक प्राप्त होते हैं। जबकि धान की खेती लगभग 2000 ईसा पूर्व गंगा की घाटी में आरंभ हुई थी।

जो पुरातात्विक प्रमाण विकास की इस प्रक्रिया का संकेत देते हैं उनमें पालतू बनाये गये पशु, बीज, घरेलू सामान, विशेषकर परिवेशी शैल के औजार और मिट्टी के बर्तन आदि शामिल हैं। व्यवस्थित कृषि और पशुपालन का विकास साथ-साथ हुआ। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।

कृषि के विकास से व्यापक सामाजिक परिवर्तन हुए। इसने व्यवस्थित ग्राम्य समुदायों की स्थापना की, कृषि तकनीकों जैसे हल, कुदाल आदि के विकास में योगदान दिया। इसने प्रकृति पर अधिक नियंत्रण स्थापित करने में सहायता की, नयी सामाजिक संस्थाओं जैसे सामूहिक क्रिया-कलाप,

बधुता संगठन, राजनीतिक संस्थाओं तथा नयी सांस्कृतिक प्रथाओं और विश्वासों को जन्म दिया। इस प्रकार कृषि का प्रारंभ एक अधिक जटिल सभ्यता के फलने-फूलने की शुरुआत थी।

5.2 मानव : शिकारी और भोजन संग्रहकर्ता के रूप में

जैसा कि हमने पहले बताया कि मानव जाति लगभग सत्रह लाख वर्षों से पृथ्वी पर है। इस अवधि के 99% से अधिक समय तक मानव जाति शिकारी तथा भोजन संग्रहकर्ता रही है। केवल 10,000 वर्ष पहले मानव ने पशुपालन और खेती शुरू की।

मानव जाति जब तक आखेटक तथा भोजन संग्रहकर्ता रही प्रकृति से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती रही। वे कंद-मूल और फल इकट्ठा करके तथा पशु-पक्षी तथा मछलियाँ पकड़कर अपना भोजन आदि प्राप्त करते थे। इसके लिए वे पत्थर के औजार, तंतु जाल, हड्डी के औजार आदि प्रयोग में लाते थे।

आदिकालीन मानव के कंकाल और पत्थरों के औज़ार पूर्वी अफ्रीका में तन्ज़ानिया और केन्या में पाये गये हैं। जैसा कि स्पष्ट है आदिकालीन पत्थर के औज़ार आकार में साधारण तथा शिल्पकारी में अनगढ़ थे। मानव जाति की सैकड़ों पीढ़ियाँ इन औज़ारों को परिष्कृत करने में लग गयीं। जैसे-जैसे मानव जाति अधिक कुशल शिकारी होती गयी मानव समूह धीरे-धीरे यूरोप, एशिया और बाद में अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया तक फैल गए। इस तरह लगभग 8000 ईसा पूर्व तक विश्व के लगभग सभी देशों में शिकारियों तथा भोजन संग्रहकर्ता के समूह फैल गये। प्रत्येक समूह में मानव समुदाय ने वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल दिया, इसलिए उनके औज़ार तथा भोजन स्थानीय संसाधनों पर निर्भर हो गए।

शिकारी और भोजन संग्रहकर्ता सामाजिक संगठन

मानव जाति शिकारी और भोजन संग्रहकर्ता के रूप में एक विशिष्ट सामाजिक संगठन थी। यद्यपि भोजन के लिए शिकार आवश्यक था, फिर भी कुछ व्यक्ति जैसे गर्भवती महिलाएँ, शिशुओं वाली महिलाएँ, और छोटे बच्चे शिकार करने में असमर्थ थे। दूसरी तरफ संग्रह करना कम परिश्रम का काम था और अधिकांश लोगों द्वारा किया जा सकता था। इसलिए केवल वही मानव समूह जीवित रह पाए जो सफलतापूर्वक अपने समुदाय में कार्यविभाजन कर सके।

शिकारी तथा भोजन संग्रहकर्ता, जन समुदाय दुनिया के अलग-अलग इलाकों में अब भी मौजूद हैं। इनका अध्ययन दर्शाता है कि जीवन गतिशीलता पर निर्भर है। कभी-कभी लगातार कई दिनों तक पुरुषों को शिकार अभियान पर जाना पड़ता है जबकि महिलाएँ, बच्चे और बूढ़े डेरे के आस-पास की वनस्पतियों से भोजन इकट्ठा करते हैं (फल, कन्द-मूल इत्यादि)। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि समूहों को मौसमी परिवर्तनों के अनुसार अपने को ढालना पड़ता है। जैसे गर्मी में जब तालाब और झीलें सूख जाती थीं तो डेरे को स्थायी जल स्रोतों के पास ले जाना पड़ता है। ये समुदाय समूहों में बार-बार टूटते बनते रहते हैं इसलिए प्रत्येक परिवार अपनी इच्छानुसार समूह का चयन कर सकता है।

हम देखेंगे कि इन लोगों ने [illegible]कार शिकार तथा भोजन संग्रह करने का कार्य छोड़कर कृषि और व्यवस्थित आवासी जीवन [illegible] किया। सबसे पहले यह देखना होगा कि कृषि का प्रारंभ कैसे और कहाँ हुआ। यदि यह 10,000 वर्ष पहले हुआ है तो हम इसके बारे में कैसे जान पाए हैं।

5.3 पशुपालन और कृषि के पुरातात्विक प्रमाण

जब यह कहा जाता है कि मानव जाति ने अपनी आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पौधे उगाए और पशुओं को पालतू बनाया तो इसका अर्थ यह है कि उन्होंने कुछ निश्चित पौधों और पशुओं की प्रजातियों के विकास तथा प्रजनन को नियंत्रित किया। उन्होंने तैयार किये गये खेतों में वन्य घास के बीजों की बुवाई की। उन्होंने पौधों की उन किस्मों का चयन किया जो क्षेत्र विशेष में अच्छी विकसित हो सकें। इसी प्रकार उन्होंने कुछ वन्य जीवों के बच्चों को पकड़ लिया उन्हें बाड़े में रखा तथा उनके प्रजनन को नियंत्रित किया। यहाँ पर भी मानव जाति ने केवल उन्हीं पशुओं का चयन किया जिनको पालतू बनाना उन्होंने सर्वाधिक आसान समझा या जो अधिक दूध देते थे।

इस तरह जब पौधों और पशुओं का प्रजनन नियंत्रित किया गया तो कई प्रजातियों में स्वत: शारीरिक परिवर्तन हुए। कई पीढ़ियों के प्रजनन के बाद पौधे अपने पूर्वजों से बहुत भिन्न हो गए।

प्राग-ऐतिहासिक गाँवों के टीलों में पुरातत्वविदों ने पशुओं की अस्थियाँ प्राप्त की। इन अस्थियों से वे ये बता सकते हैं कि ये जानवर वन्य थे या पालतू। उदाहरण के लिए पालतू भेड़ के सिर का आकार वन्य भेड़ से भिन्न होता है और पालतू भेड़ के दाँत तथा सींग छोटे होते हैं।
प्राग-ऐतिहासिक मलबे के ढेर में बीज सुरक्षित रह सकते हैं यदि वे जलकर कार्बनीकृत हो जाएँ। प्राग-ऐतिहासिक लोगों द्वारा बर्तनों या घरों की मिट्टी में बीजों के दाब चिह्न (impressions) रह सकते हैं और इन दाब चिह्नों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जा सकता है। इस अध्ययन के आधार पर पुरातत्वविदों के लिए यह बताना सम्भव है कि प्राग-ऐतिहासिक काल के पौधों या पशुओं के अवशेष पालतू थे या वन्य।

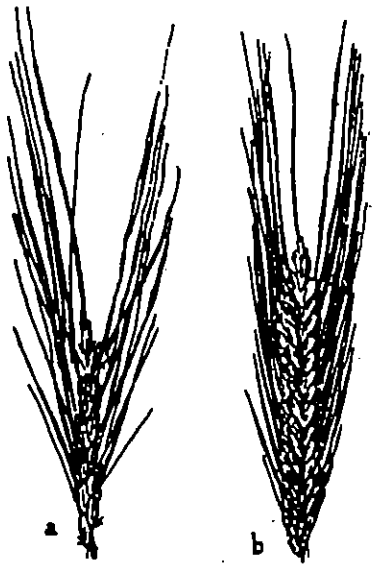

1. (अ) जंगली और (आ) उगाया जाने वाला गेहूँ

पुरातत्वविद उन घरेलू उपकरणों को भी ढूँढ़ते हैं जो पशुपालकों या कृषकों के लिए उपयोगी रहे हों। एक शिकारी किसी पशु का कोई भाग अलग कर सकता है और इसे आग पर भून कर खा सकता है परन्तु अनाज पहले हाथ की चक्की ओखली में पीसा जाना चाहिए और जब तक उपयुक्त बर्तन न हो उसे गूँधना और रोटी के रूप में पकाना अथवा दलिया बनाना संभव नहीं था। इसलिए दुनिया के अनेक भागों में (यद्यपि सभी भागों में नहीं) जब से कृषि का आरंभ हुआ, मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग किया जाने लगा था।

कृषि के लिए पहले खेत की सफाई करके बीज बोने के लिए तैयार करना होता है इसलिए उन्हें पेड़ों को काटने के लिए लम्बे तथा उपयुक्त धार वाले औज़ार तथा बीज बोने के लिए नुकीले पत्थर के औज़ार बनाने पड़े। यह उन्होंने पत्थर के औज़ारों को घिस कर तेज करके तथा उपयुक्त धार बनाकर किया। इसी प्रकार परिवेशी शैल के औजार (ground stone tools) कृषि अर्थव्यवस्था के सूचक हैं।

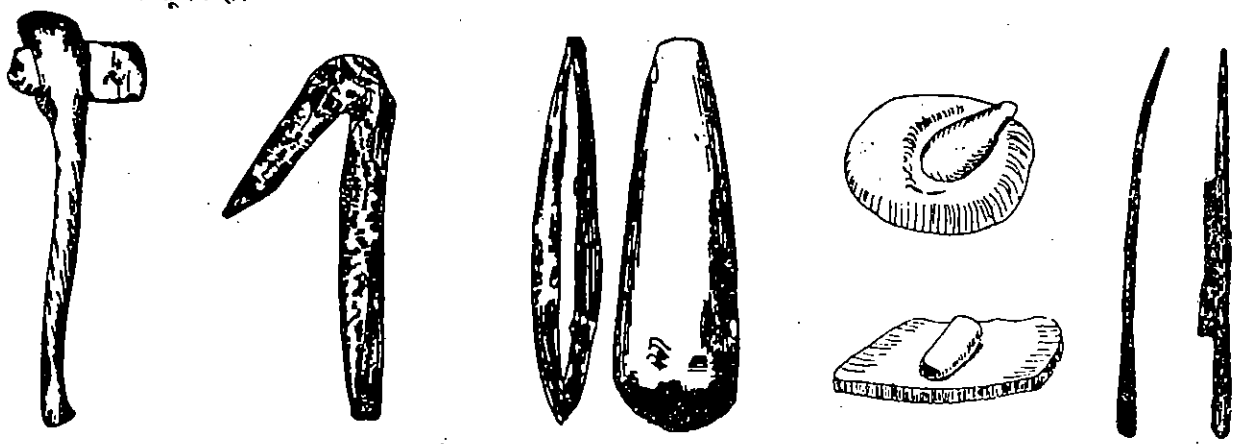

2. पुरातन कृषीय औज़ार

बोध प्रश्न 1

1 पालतू भेड़ को जंगली भेड़ से अलग पहचाना जा सकता है क्योंकि पालतू भेड़
   i) आकार में बड़ी और वज़नी होती है।
   ii) के दाँत और सींग छोटे होते है।
   iii) की खान-पान की आदतें भिन्न होती है।
   iv) की खाल का रंग भिन्न होता है।

2 शिकारी संग्रहकर्ता समाज के सामाजिक संगठन पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए?

.....

.....

.....

.....

.....

3 परिनेशी शैल के औज़ारों से यह कैसे पता चलता है कि समाज कृषि प्रधान था?

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 पश्चिम एशिया के पहले किसान

सबसे पहले पशुपालन जिन क्षेत्रों में शुरू हुआ, पश्चिम एशिया उनमें से एक था। आप मानचित्र 1 में आधुनिक देश देख सकते हैं जिनमें सबसे पहले आदिकालीन गाँव बसे थे। ये देश हैं तुर्की, इराक, ईरान, सीरिया और फिलिस्तीन। इस मानचित्र में जागरोज पहाड़ों की शृंखला पश्चिम से पूर्व तक और दक्षिण पूर्व में देखी जा सकती है। मानचित्र में दी गयी ऊँचाई से स्पष्ट होगा कि लेबनान में पूर्व और जागरोज के दक्षिण तथा पश्चिम में स्थित निचला क्षेत्र है।

पश्चिम एशिया के क्षेत्र शरद्कालीन वर्षा की मात्रा अपनी ऊँचाई के आधार पर भू-मध्य सागरीय हवाओं से पाते हैं। ऊँचे पहाड़ों पर बहुत अधिक बर्फ पड़ती है और वर्षा होती है। पर्वत मालाओं से घिरी घाटियों में कम तथा पठारों पर उससे भी कम वर्षा होती है तथा टिगरी-यूफ्रटेज में सबसे कम वर्षा होती है। वनस्पतियों की सघनता और किस्म शरद्कालीन वर्षा पर निर्भर करती है। इस कारण ऊँचे पर्वत के ढाल चीड़-देवदार सहित अनेक वृक्षों से ढके हैं जबकि पठार और निम्न भू शुष्क क्षेत्र हैं इसलिए इनमें ज्यादा पेड़ पौधे नहीं होते। अक्सर वे केवल घास से ढके रहते हैं। समुद्र तल से 700 से 1500 तक मीटर ऊँचे पहाड़ी क्षेत्र हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं जहाँ बलूत और पिस्ता के जंगल होते हैं। यहाँ वन्य गेहूँ और जौ की घास स्वत: उगती है। यहाँ जंगली भेड़, बकरी तथा सूअर आदि जानवर भी रहते हैं। यह प्राकृतिक वास क्षेत्र भी कहलाता है। यह पूरब की तरफ ईरान और अफगानिस्तान के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र में फैला है। ऊपर उल्लेख किये गये पशुओं एवं पौधों की प्रजातियाँ मानव द्वारा उगायी और पाली जाने वाली सबसे पहली प्रजातियाँ हैं।

अब हमें देखना चाहिए कि पुरातत्वविदों ने आदिकालीन कृषि स्थलों के बारे में क्या जानकारी प्राप्त की है। कृषि अर्थव्यवस्था की ओर परिवर्तन क्रमिक था। उत्तरी इराक के ओक के वृक्षों से ढके क्षेत्रों जैसे जावी, केमी तथा करीम शाहिर जैसे स्थलों पर हमें आखेटकों के मौसमी डेरों (seasonal camps) के अवशेष मिले हैं। ये लोग वन्य घास के बीजों को तैयार करते थे।

लगभग 7500 ईसा पूर्व के काल से दक्षिण ईरान में अलीकोश में प्राचीन कालीन मानव के शरद्कालीन डेरे मिलते हैं। यह लोग भेड़ पालने और भोजन संग्रह करने के साथ-साथ सम्भवतया कृषि के क्षेत्र में प्रयोग करने लगे थे क्योंकि इस क्षेत्र से गेहूँ और जौ के बीज मिलते हैं। अलीकोश के शुष्क क्षेत्र में इनका स्वत: उगना संभव नहीं। यद्यपि यह शुष्क प्रदेश गेहूँ और जौ रहित है परंतु जाड़ों में बहुत बढ़िया हरित क्षेत्र होता है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि जाड़े में पहाड़ों से पशुपालक अपने पशुओं को चराने के लिए यहाँ उतर आया करते थे। जब हर

वर्ष नीचे आते होंगे तब अपने साथ बोने के लिए गेहूँ और जौ के बीज अवश्य लाते होंगे जिन्हें अलीकोश के आस-पास तैयार किये गये खेतों में बोया जाता था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इस काल में कृषि लगभग प्रारंभ हो चुकी थी। साथ ही कृषि और पशुपालन का एक दूसरे से परस्पर गहरा संबंध था।

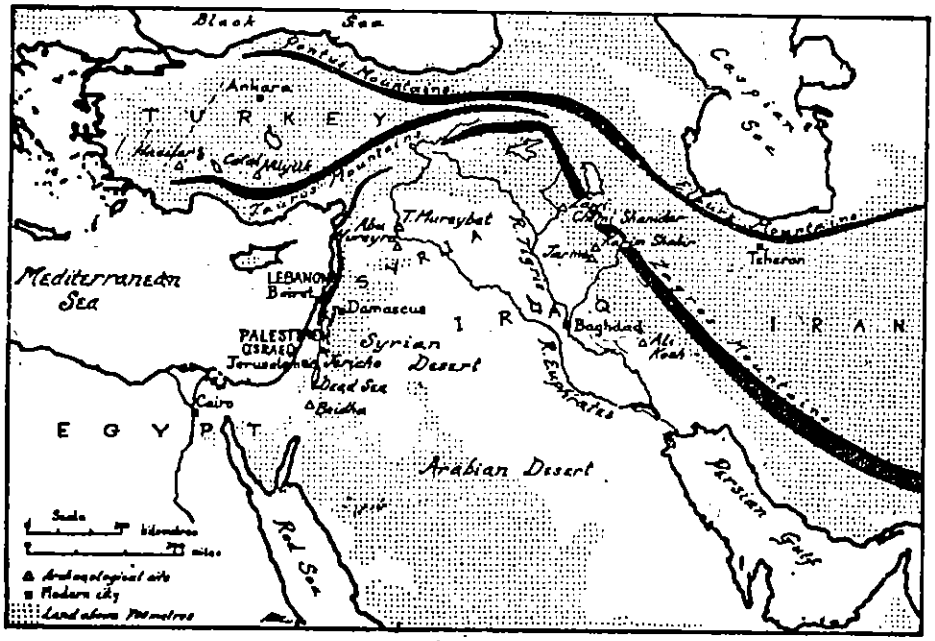

मानचित्र 1.

सीरिया और फिलिस्तीन में थोड़ी भिन्न प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। बलूत की अरण्य पट्टी तथा उसके किनारे बहुत से आदिकालीन स्थल पाये गये हैं। ये दर्शाते हैं कि लोग अभी भी मूलत: मौसम के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान भटकना छोड़ चुके थे। सोचने की बात है कि यह कैसे संभव हुआ। ऐसा लगता है कि शिकारी समुदाय लगभग 10,000 ईसा पूर्व के बाद ही इस क्षेत्र में बस गया था, क्योंकि इसने अपने निकटवर्ती क्षेत्रों का अधिक क्षमता के साथ उपभोग करना शुरू कर दिया था। वे लोग विभिन्न जातियों के जीव-जन्तुओं, छोटे-बड़े जानवरों तथा सभी प्रकार के जल जीवों, पक्षियों, चूहों की प्रजातियों तथा पौधों से भोजन प्राप्त करते थे। भोजन की इस विविधता ने उनकी भ्रमण करने की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। सीरिया में गेहूँ और जौ के प्राकृतिक-स्थल से 150 कि.मी. पूर्व में यूफ्रेटेज के ऊपरी शुष्क क्षेत्र आबू हुरेपर में इन पौधों के बीज पाये गये। सम्भव है कुछ लोग प्राकृतिक वास स्थल से बोने के लिए बीज ले आये हों क्योंकि जंगलों और तटीय क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में खाद्य वनस्पतियों और पशुओं की कम किस्में पायी जाती थीं।

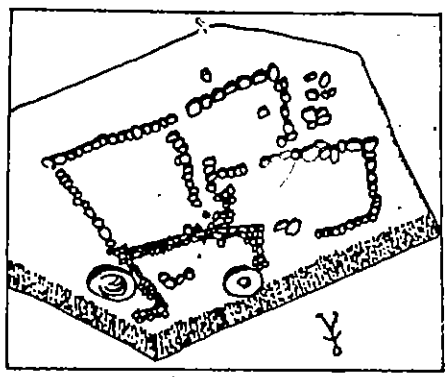

3. शिलाखंड, जानवरों में घर का आधार

इस प्रारंभिक अवस्था के बाद हम पश्चिम एशिया में बहुत से खेतिहर गाँवों को स्थायी रूप से बसा हुआ पाते हैं उदाहरण के लिए इराक में जरमों (6500-5800 ईसा पूर्व) लगभग 20-30 मिट्टी के घरों का गाँव था। घर-घर में आँगन, कई कमरे और परिवेशी शैल के पत्थर की कुल्हाड़ी, हस्त चालित चक्की और मिट्टी के बर्तन पाये गये। लोग भेड़, बकरी रखते और गेहूँ, जौ पैदा करते थे। 8300-7300 ई.पू. के मध्य में फिलीस्तीन में जेरिको एक बड़ा गाँव था जहाँ पर कृषि तो प्रत्यक्ष रूप से थी, किन्तु पशुपालन नहीं था (जो बाद में विकसित हुआ)। जेरिको गोल दुर्ग के साथ पत्थर की दो मीटर चौड़ी दीवार से घिरा था जो विश्व में किलेबंदी के प्राचीन उदाहरणों में से एक है। इस अत्यंत शुष्क स्थान में गाँव के निकट सतह पर जल ले जा रहे एक भूमिगत सोते ने प्राचीन कृषि को सम्भव बना दिया किन्तु सबसे बड़ा गाँव दक्षिण तुर्की में कटल हुयुक था जहाँ पर भेड़, बकरियाँ तथा अन्य मवेशी पाले जाते थे और गेहूँ, जौ तथा मटर उगायी जाती थी। दो कमरों वाले मिट्टी के घर एक दूसरे के विपरीत दिशा में एक दीवार से जुड़े हुए बने थे। परिणामस्वरूप कोई गली या सड़क नहीं थी। हर घर में छत से प्रवेश किया जाता था (कोई नहीं जानता ऐसा क्यों?)। मिट्टी के बर्तन, पत्थर की कुल्हाड़ी, पाषाण के साधारण आभूषण, अस्थि औज़ार, टोकरियाँ तथा लकड़ी के प्याले बनाए जाते थे। बहुत से घरों पर अनोखे चित्र जैसे चीते, फूट रहे ज्वालामुखी या मानव शरीर छिन्न-भिन्न कर रहे गिद्ध आदि मिलते हैं। संक्षेप में पश्चिम एशिया में भेड़-बकरी पालने तथा गेहूँ, जौ और फली (legumes) पैदा करने पर आधारित अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे परिवर्तित हो रही थी। कुछ क्षेत्रों में कृषि और पशुपालन साथ-साथ विकसित हुए दूसरे क्षेत्रों में खेती पशुपालन से पहले शुरू हुई। अब हमें देखना है कि भारत में क्या स्थिति थी।

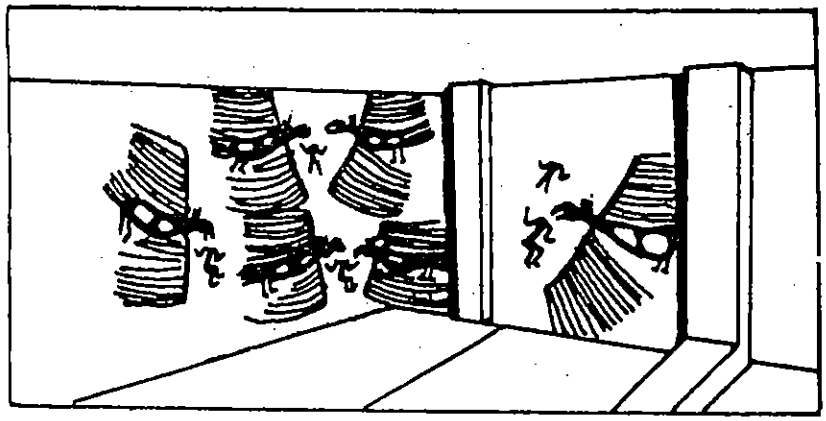

4. कटल हुयुक (catal huyuk) में कमरे का अंदरूनी हिस्सा (सर विहीन मनुष्यों के शरीर को नोंचते हुए गिद्धों का चित्र)

5.5 भारत में कृषि तथा पशुपालन का विकास

हमारे उप-महाद्वीप में जलवायु, जमीन तथा कृषि करने के ढंग में बहुत विविधता है। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आदिकाल में पशु पालन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न समयों पर और भिन्न प्रवृत्तियों पर आधारित था। विविध क्षेत्रों में विकसित हुए गाँव भिन्न प्रकार के थे।

i) पहले हम उप-महाद्वीप के उत्तरी-पश्चिमी किनारे को देखते हैं। जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि गेहूँ, जौ और भेड़-बकरी के प्राकृतिक वास क्षेत्र अफगानिस्तान अंचल में फैले थे। उत्तरी अफगानिस्तान में उन गुफाओं में जहाँ शिकारी और भोजन संग्रहकर्त्ता रहते थे वन्य भेड़ों, पशुओं और बकरियों के अस्थियों के अवशेष मिले हैं। लगभग 7000 ईसा पूर्व अफगानिस्तान में भेड़-बकरियाँ पाली जाती थीं। आधुनिक पाकिस्तान के मेहरगढ़ क्षेत्र में खेतिहर गाँव लगभग 6000-5000 ईसा पूर्व स्थापित किए गए। उप-महाद्वीप की पश्चिमी पर्वतीय सीमा बहुत दूर नहीं है। इसमें मिट्टी के आयताकार घर थे। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि इसमें पालतू बनाये गये पशु और उगाए गए पौधे पश्चिमी एशियाई गाँवों के पौधों के समान थे। यही पशु और पौधे सिन्धु सभ्यता की अर्थव्यवस्था का आधार बने।

ii) लेकिन हम जानते हैं कि उप-महाद्वीप का अधिकांश भाग केवल मानसून की वर्षा पाता है और धान पर आधारित है। भारत में आदिकालीन धान की खेती का प्रमाण बेलन घाटी से मिलता है। बेलन नदी विंध्य पठार के किनारे बह कर टोंस नदी में मिलती है और फिर इलाहाबाद के

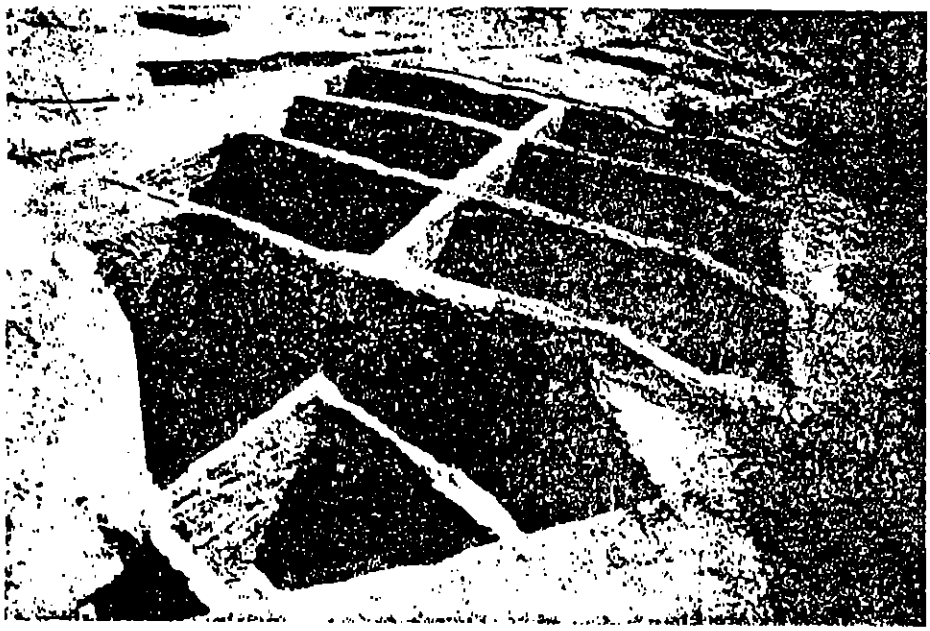

5. मेहरगढ़ में नवप्रस्तर घर

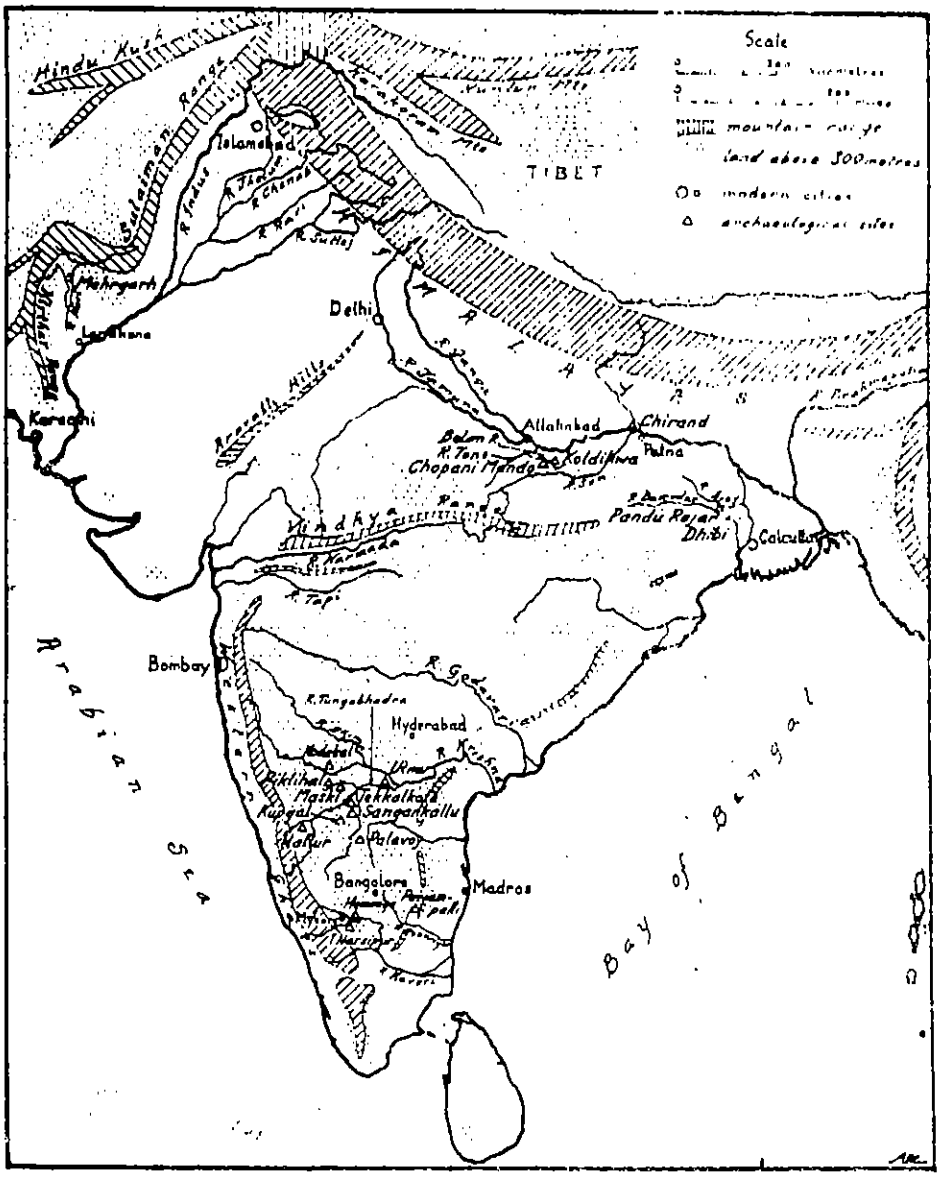

मानचित्र 2

निकट गंगा से मिलती है। मूलत: इस भू-भाग में सागौन, बाँस और ढाक के घने जंगल थे और इस जंगल में सघन घास और वन्य धान पैदा होते थे। इसमें शेर, नील गाय और हिरन तथा अन्य जंगली पशु रहते थे। इस क्षेत्र में शिकारियों के डेरों के अतिरिक्त आदिकालीन खेतिहर गाँव पाये गये हैं। चपानी मंडो क्षेत्र में लोग वन्य जानवरों का शिकार करते थे और हाथ से चलने वाली चक्की से वन्य घासों के बीज पीसकर और उन्हें हाथ से बनाए गए बर्तनों में पकाते थे। बाद में कोल डिहवा नामक स्थान पर पुरातत्वविदों को छप्पर से ढके लकड़ी के लट्ठों से बने गोल घर, जानवरों के बाड़े, पालतू पशुओं की अस्थियाँ तथा उगाये गये धान के बीज प्राप्त हुए हैं।

iii) लगभग 2000 ईसा पूर्व में गंगा घाटी और छोटा नागपुर पठार के पूर्वी किनारे पर धान उत्पादक गाँव बसे। वहाँ मवेशी भी रखे जाते थे और अब तक दालें आदि अन्य फसलें भी उगाई जाने लगी थीं। आज भी जब ऊपरी गंगा घाटी में गेहूँ महत्वपूर्ण है तो इलाहाबाद से नीचे की ओर चावल मुख्य फसल है। यह इस कारण से है कि पूर्व की ओर वर्षा अधिक होती जाती है। लौह युग में गंगा सभ्यता जिसने अन्तत: मगध के विकसित राज्य को जन्म दिया कि अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार धान और पशुपालन था। तमिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश के तटीय राज्य धान की खेती पर आधारित थे।

iv) पहाड़ी और सामान्यतया शुष्क दक्षिणी पठार में सबसे अधिक उपजाऊ भूमि रायचूर तथा शोरापुर पठार के आस-पास भीम, कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों द्वारा निर्मित दोआब के क्षेत्र में हैं। प्रायद्वीपीय भारत में प्रारंभिक गाँवों (2400-1700 ईसा पूर्व) में से अनेक गाँव इन दोआबों के आस-पास स्थित थे। **मस्की, टेक्कलकोटा** तथा **हन्तुर** गाँवों में लकड़ी और छप्पर के घर थे जिनमें पत्थर की चक्कियाँ और अनाज की खत्तियाँ थीं। ये गाँव कई सौ वर्षों तक बसे रहे। परिवेशी शैल के पत्थर के कुदाल, रागी, मूंग, और चना उगाने में इस्तेमाल किए जाते थे।, पालतू पशुओं में भेड़-बकरी और भैंस प्रमुख थे जो आर्थिक रूप से काफी उपयोगी रहे होंगे। उटनूर, कुपकला और कोडेकल में राख के तीन मीटर ऊँचे टीले मिले हैं। पुरातत्वविदों का अनुमान है कि यह राख गोबर जलाने के कारण बनी होगी। इसलिए निश्चित ही यह स्थान रहे होंगे जहाँ लोग शायद अपने किसी रीति रिवाज के रूप में गोबर को इकट्ठा करके जलाते थे।

ज्वार, बाजरा आसानी से पैदा होने वाली फसलें हैं। ये संपूर्ण प्रायद्वीपीय भारत, गुजरात, राजस्थान और मालवा के गाँवों में महत्वपूर्ण फसलें रही हैं। हम देख चुके हैं कि रागी उपर्युक्त स्थानों पर सबसे पहले उगायी गई थी। अभी तक ज्ञात नहीं है कि जंगली रागी भारत में उगी थी या अफ्रीका से आयी थी। लगभग 1700 ईसा पूर्व से प्रायद्वीपीय भारत तथा गुजसत में बाजरे की खेती प्रारम्भ हुई। ज्वार की खेती 1500 ईसा पूर्व में महाराष्ट्र, मालवा और राजस्थान तथा पाकिस्तान में प्रारम्भ हुई।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित पश्चिमी एशियाई देशों के सामने उनके प्राचीन गाँवों के नाम लिखिए जो पुरातत्वविदों ने खोजे हैं।

देश	गाँव
i) फिलिस्तीन	
ii) इराक	
iii) तुर्की	

2 पश्चिमी एशियाई देशों से पुरातत्वविदों ने ऐसे कौन से प्रमाण प्राप्त किए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वहाँ खेती होती थी?

.....

.....

.....

.....

.....

3 भारत में धान पैदा करने वाले प्रमुख क्षेत्र कौन से थे?

.....

.....

.....

5.6 कृषि तथा पशु-पालन का परिणाम

मानव जाति के शिकारी तथा भोजन संग्रहकर्ता के स्तर से कृषक बनने की प्रक्रिया ने मानव समाज के सामाजिक संगठन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। यहाँ हम ऐसे कुछ परिवर्तनों पर विचार करेंगे।

i) पशु और फसलें : हम यह जानते हैं कि विश्व के कुछ भागों में पशुपालन कब प्रारंभ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बड़े भागों में जहाँ जलवायु बहुत कड़ी थी और शुष्क थी और कृषि उत्पादन वहाँ रहने वाले लोगों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहा था वहाँ लोगों ने कृषि छोड़कर पूरी तरह पशुपालन को अपना लिया। वे अपने पशुओं को चराने के लिए विभिन्न भागों में लेकर घूमते थे। आज तक पश्चिमी एशिया और पश्चिमी भारत में बहुत से समुदाय अपने भेड़-बकरियों के झुंड के साथ भ्रमण करते हैं परन्तु हमारे उप-महाद्वीप के दूसरे भाग और यूरोप के ग्रामीण समुदाय कृषि और पशुपालन दोनों ओर उन्मुख हैं।

जिन क्षेत्रों में पशुपालन पर पूर्ण निर्भरता थी वे क्षेत्र भी किसानों के लिए महत्वपूर्ण होते गए। शक्तिशाली पशु भारी हल खींचने, मिट्टी के ढेलों को तोड़ने तथा गहरी जुताई करने के लिए बहुत उपयोगी थे। कुदाल से की जाने वाली गुड़ाई की अपेक्षा इस जुताई से अधिक उत्पादन किया जा सकता था।

ii) स्थान बद्धता : पशुओं का जो भी महत्व हो, यदि कोई समूह कृषि पर निर्भर है, तो उसके लिए खानाबदोश पशु-पालकों और शिकारियों के विपरीत एक स्थान पर बसना आवश्यक होता है। आपने ध्यान दिया होगा कि आदिकालीन सभी फसलें जिनका हमने वर्णन किया, वर्ष में एक बार बोई जाती थीं और तीन चार महीने में पककर तैयार हो जाती थीं। जिस समय फसल बढ़ रही हो उसकी सिंचाई करना और पशुओं तथा खरपतवार से सुरक्षित रखना होता था। धान के खेतों में रोपाई और निराई विशेष रूप से मेहनत का काम है। इस तरह जब मनुष्य भूमि पर काम करने लगता है तो वह इससे जुड़ जाता है।

जब हर वर्ष केवल एक ही बार गेहूँ या धान की फसल हो तो वर्ष की शेष अवधि में खाने के लिए तथा अगली बुआई के बीज के लिए अनाज का भण्डारण करना जरूरी हो जाता है। इस आवश्यकता ने भी खानाबदोशी को काफी कम किया। बहुत से प्राग-ऐतिहासिक खेतिहर गाँवों में भण्डारण कोठे तथा चक्की जैसा अचल सामान था जिससे पता चलता था कि इन स्थानों पर लगातार कई पीढ़ियाँ बसी रहीं। जेरिस्को जैसा स्थान वास्तव में अपनी पत्थर की दीवार से सुरक्षित घेरे में अवश्य ही स्थायी रहा होगा।

जमीन से लगाव : जब किसी निश्चित भूखण्ड पर अपने कौशल और श्रम के साथ मानव लम्बी अवधि व्यतीत कर देता है तो इस बस्ती को आसानी से छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। जमीन से उसका लगाव मात्र भौतिक ही नहीं बल्कि भावनात्मक भी होता है। यही कारण है कि उसे अपने अधिकार में रखने के लिए वह लड़ने को भी तैयार रहता है।

पारिस्थितिकी : हमने यह भी देखा है कि मानव जाति ने ऐसे पौधों को भी, जो उन क्षेत्रों में पहले नहीं पाये जाते थे, लगाना शुरू कर दिया। इस तरह से ये पौधे पृथ्वी के पारिस्थितिकी संतुलन में परिवर्तन का कारण बन गये।

5.7 शिकारी तथा कृषक समाजों की सामाजिक संरचना

यह कहना कठिन है कि प्राचीन कृषक आखेटकों तथा संग्रहकर्ताओं से अधिक अच्छा खाते थे और न ही यह कह सकते हैं कि खेती जीविका का अधिक विश्वसनीय साधन थी क्योंकि आदिकालीन कृषक को हमेशा फसल की बीमारियों, मृदा अपक्षय (soil depletion), बाढ़ या सूखे का सामना करना पड़ता था। इसके बावजूद कृषि से ऐसे परिवर्तन आए जो काफी जटिल थे।

पहले हमने तर्क दिया था कि कृषकों का एक स्थान पर बसना महत्वपूर्ण है। हम यह भी देखते हैं कि कृषकों ने शिकारियों की अपेक्षा अधिक निकट पारिवारिक संबंध स्थापित किए। इसका मुख्य

कारण परिवारों के बीच सहयोग की प्रकृति है। बड़े जानवर का शिकार करने के लिए कई लोगों को एक दल बनाकर साथ जाना होता था परन्तु जब एक बार शिकार कर लिया जाता और मांस बाँट दिया जाता तो यह दल बिखर जाता था। दूसरी बात शिकार पहले के कुछ सदस्यों तथा कुछ नये सदस्यों द्वारा किया जा सकता था इसलिए शिकारी समाजों में सहयोग की आवश्यकता थोड़े समय के लिए ही थी।

परन्तु कृषक समाज में फसल के पकने तक सहयोग बनाये रखना जरूरी होता है। कृषकों को जुताई, बुआई और कटाई निश्चित अवधि में पूरी करनी होती है इसलिए यह निश्चित करने के लिए कि कार्य उसी समय में पूरा हो जाय, परिवारों को एक साथ काम करना जरूरी होता है। इस प्रकार के नियत कार्य दल कुछ समय के लिए नहीं होते क्योंकि आखेट की भाँति इसके परिणाम कभी तत्काल प्राप्त नहीं होते, वे फसल पक जाने के बाद ही प्राप्त होते हैं। इसलिए कृषि समुदाय में परस्पर निर्भरता शिकारी समुदाय की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है।

प्रारंभिक कृषि ने इन परस्पर निर्भरता को बंधुता में व्यक्त किया इसलिए यह जनजातीय समुदाय कहलाये। जनजाति समाज का हर सदस्य अपने को एक व्यक्ति का वंशज मानता है इसलिए जनजाति के समस्त सदस्यों में बंधुता का संबंध था। इसीलिए वे जनजातीय भूमि के संयुक्त स्वामी भी होते थे। घर का बड़ा या अनुभवी व्यक्ति मुखिया होता था जो विवादों का समाधान करने या विवाह की व्यवस्था करने या सदस्यों के बीच भूमि कैसे बाँटी जायेगी आदि को निश्चित करने का अधिकार रखता था परन्तु उनके पास जनजाति के अन्य सदस्यों से अधिक भूमि नहीं होती थी। जनजातियाँ ऐसे साधारण समाज हैं जो विशिष्ट व्यवसायों पर आधारित नहीं हैं। लोग एक साथ काम करते हैं और मौलिक संसाधनों (भूमि, पशु या जलाधिकार) पर समान रूप से अधिकार रखते हैं।

5.8 सामाजिक जटिलता का विकास

एक बार जब कृषक जनजातियाँ स्थापित हो गईं, कुछ नये परिवर्तन होने शुरू हुए। सर्वप्रथम गाँव प्रायः ऐसे स्थानों पर स्थापित हुए जहाँ पर भूमिगत जल ने छोटे-छोटे सिंचित भू-भागों पर कृषि को आसान बना दिया। जरिको इसी प्रकार के भूमिगत सोते द्वारा भूमि के निकट लाये गये जल पर निर्भर था। दूसरे गाँव पास की छोटी नहरों या नदियों पर निर्भर रहे होंगे। ऐसी परिस्थिति में दूरस्थ खेतों की अपेक्षा जल उद्गम के निकट स्थित खेत बेहतर रहे होंगे। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गयी या कृषि के लिए जल क्षेत्र से दूर की कम उपजाऊ भूमि को जोतने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा, वे व्यक्ति जिनके पास अच्छी जमीन थी अधिक अन्न उत्पादन करने और दूसरों को भोजन आदि देने में सक्षम रहे होंगे। फलस्वरूप उन्हें उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और दूसरे लोग उनके अधीन हो गये। आदिकालीन मानव का मानना था कि संपत्ति

6. मेहरगढ़ में अनाज भंडार गृह

पूर्वजों या देवताओं की कृपा का परिणाम थी। इसलिए बार-बार अच्छी फसल प्राप्त करने वाले अपने को पूर्वजों या ईश्वर के अधिक निकट होने का दावा कर सकते थे।

इस प्रकार जनजातियों के मुखिया सबके बंधु होने के साथ-साथ एक विशेष प्रकार का अधिकार रखते थे। अपने अन्य बंधुओं से अधिक भूमि अथवा पशु न होने पर भी संकट में फँसे परिवारों की मदद करने की स्थिति में थे और वे ईश्वर को भेंट भी चढ़ा सकते थे। उन्हें सारे विवादों का समाधान करने, समस्त भूमि को आवंटित करने, उपासना पद्धति को सुसंगठित करने तथा समस्त समुदाय के लिए हितकारी काम के लिए लोगों को एकत्रित करने का अधिकार मिल गया। जेरिको नगर की विशाल दीवार किसी मुखिया के नेतृत्व, व्यवस्था और कार्य में सहयोग के बिना नहीं बन सकती थी।

इसी प्रकार 3000 ईसा पूर्व के मेहरगढ़ में पत्थर की नक्काशी और सीपी तराशने के काम का (shell cutting) एक कला के रूप में विकास हुआ। यहाँ सामान्य घरों के साथ संभवतया अनाज भंडारण के रूप में प्रयोग किये जाने वाले दो भंडारण भवन भी मिले हैं। सामुदायिक भंडार संकेत देते हैं कि कोई मुखिया अनाज संग्रह को नियंत्रित करता था।

बोध प्रश्न 3

1 कृषि ने व्यवस्थित मानव समुदायों को जन्म दिया क्योंकि (सही उत्तर के लिए किसी एक पर निशान लगाएँ)
   i) इसमें कठिन परिश्रम की आवश्यकता थी।
   ii) इसमें बेहतर प्रौद्योगिकी की जरूरत थी।
   iii) इसमें फसल की सुरक्षा करने की आवश्यकता होती थी जिसे तैयार होने में समय लगता था।
   iv) यह जीवन-स्तर बेहतर बनाती है।

2 शिकार पर आधारित समाज में सहयोग की प्रकृति कृषि पर आधारित समाज से भिन्न होती है क्योंकि (सही उत्तर के लिए किसी एक पर निशान लगाएँ)
   i) शिकार पर आधारित समाज में सहयोग भावनात्मक होता है।
   ii) शिकार पर आधारित समाज में सहयोग अस्थायी होता है।
   iii) शिकार पर आधारित समाज में सहयोग आंशिक होता है।
   iv) शिकार पर आधारित समाज में सहयोग धर्म और जादू पर निर्भर करता है।

5.9 सारांश

भोजन संग्रहण तथा शिकार की अवस्था से व्यवस्थित कृषि में परिवर्तन पौधे उगाने एवं पशुओं को पालतू बनाने के साथ-साथ शुरू हुआ। यह परिवर्तन लाने वाले पहले मानव पश्चिम एशिया के कृषक थे जहाँ पर्वतीय ढालों तथा नदी घाटियों में गेहूँ और जौ की खेती के लिए पारिस्थितिकी और जलवायु सहायक थी। भेड़ तथा बकरियों को पालतू बनाने के बाद अन्य मवेशियों को पालतू बनाया गया। तुर्की, इराक, फिलिस्तीन, ईरान, पाकिस्तान और भारत में खेतिहर गाँवों के पुरातात्विक स्थलों से यह प्रक्रिया स्पष्ट होती है। पारिस्थितिकी और जलवायु की भिन्नता के कारण भारत में कृषि विविध प्रकार की थी। कृषि के विकास ने व्यवस्थित आवासी जीवन को जन्म दिया और भूमि और संपत्ति के प्रति मानव प्रेम बढ़ाया, शिकारी समाज के तदर्थ व अस्थायी सहयोग की अपेक्षा अधिक स्थायी सहयोग स्थापित किया। व्यवस्थित कृषकों में नयी बंधुता व एकता उभर कर आयी और सामंती तथा राजशाही जैसी राजनीतिक संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। इस प्रकार मानव और उसके पर्यावरण के बीच परस्पर संबंधों ने दोनों में ही बदलाव उत्पन्न किया। इन बातों के प्रमाण मिलते हैं कि जैसे मानव द्वारा उगाये गये पौधे और पालतू पशुओं में परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार मानव के रहन-सहन, सामाजिक संबंध और चिंतन में भी परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों ने जटिल सामाजिक संगठन को जन्म दिया और समय के साथ सभ्यता का विकास हुआ।

5.10 शब्दावली

पुरातत्व विज्ञान : मनुष्य के अतीत अथवा इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन इसके अंतर्गत खुदाई से प्राप्त वस्तुओं अथवा अवशेषों का अध्ययन किया जाता है।

बंधुता : जन्म अथवा विवाह पर आधारित नातेदारी।

ज्वालामुखी : वह पहाड़ जिससे लावा, पानी, पिघला हुआ गर्म पत्थर, गैस, भाप और राख निकलती है। धरती के भीतर से निकलने वाले ये पदार्थ जिस गड्ढेनुमा छिद्र से बाहर आते हैं उसे ज्वालामुखी पर्वत का मुख कहते हैं।

अर्थव्यवस्था : वह व्यवस्था जिसके द्वारा किसी देश की मुद्रा, उद्योग और व्यापार का नियमन और संगठन होता है। व्यवसाय और व्यापार से देशों को मिलने वाला धन उसकी अर्थव्यवस्था होता है।

पारिस्थितिकी : पारिस्थितिकी विभिन्न जीवों के बीच संबंधों तथा भौतिक पर्यावरण के साथ जीवों के संबंध का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ii
2) भाग 5.2 देखें
3) भाग 5.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1) जेरिको, जरमों, कटल हुयुक
2) भाग 5.4 देखें
3) भाग 5.5 देखें

बोध प्रश्न 3

1) iii
2) ii

इकाई 6 नदी घाटी सभ्यता

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 आरंभिक सभ्यताओं के विकास के कारक तत्व
6.3 तीन प्रमुख नदी-घाटी प्रदेश
6.4 निचले मैसोपोटामिया के शहरी निवासी
6.4.1 सुमेरियन सभ्यता
6.4.2 राजा की शक्ति के स्रोत
चार्ट-1 मैसोपोटामिया का घटना कालक्रम
6.5 मिस्र
6.5.1 मिस्र की संस्कृति
6.5.2 प्रशासन
चार्ट - 2 मिस्र का घटना कालक्रम
6.6 हड़प्पन शहरों की सभ्यता
चार्ट - 3 उत्तर-पश्चिमी उप-महाद्वीप का घटना कालक्रम
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको प्रारंभिक कृषि समाजों का सभ्यता की अवस्था में होने वाले संक्रमण से अवगत कराना है। सभ्यता के विकास का अर्थ था अधिक जटिल सामाजिक संगठन, शहरी विकास तथा उन्नतिशील व्यापार व बाजार तंत्र तथा राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रणालियों का विकास है।

इस इकाई को पढ़कर आप

- नदी घाटी में विकसित होने वाली मैसोपोटामिया, मिश्र तथा हड़प्पा की प्रमुख सभ्यताओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- इन सभ्यताओं की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रणालियों और उनकी सामान्य तथा अनोखी विशेषताओं को जान सकेंगे,
- प्रत्येक प्रमुख नदी-घाटी सभ्यता में होने वाले सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के घटना कालक्रम को समझ सकेंगे, तथा
- राजनीतिक संस्थाओं, शहरी केन्द्रों तथा संस्कृति के प्रतिरूपों के बीच होने वाली आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का स्वरूप जान पाएँगे।

6.1 प्रस्तावना

इन नदी-घाटी सभ्यताओं का कृषि समाजों पर अत्याधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रक्रिया में बहुत समय लगा और 2600 ईसा पूर्व अर्थात् सिंधु सभ्यता के उदय होने तक इसका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सामान्य कृषि समाजों में सभ्यता का विकास नहीं हो सकता था क्योंकि सभ्यता के विकास के लिए नई-नई संस्थाओं के उदय की आवश्यकता थी जैसे कबीलाई सरदारों के वंशीय राजनीतिक संगठन के स्थान पर संगठित राज्यों तथा शहरी केन्द्रों की स्थापना। साथ ही साथ नागरिक सरकारों, सांस्कृतिक विशेषज्ञों, लिखित अभिलेखों, बाजार, व्यापार तथा व्यवसाय इत्यादि की भी आवश्यकता थी। इन कृषि समाजों में इन सभी संस्थाओं का अभाव था। इनका आधार सरल सामुदायिक अर्थव्यवस्था थी।

प्रमुख नदी-घाटी सभ्यताएँ मैसोपोटामिया, मिस्र तथा हड़प्पा की हैं। इनका उदय तिगरीज़ यूफ्रेटस, नील तथा सिंधु नदियों की घाटियों में हुआ था। इन नदियों से मैदानी भागों में बाढ़ आई जिससे वहाँ भी जमीन उपजाऊ हो गई और खेती के कारण आर्थिक बचत होने लगी। इन

घाटियों में विशाल नगरीय सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ जिसके परिणामस्वरूप कला, शिल्प कला, व्यापार तथा एकीकृत संयुक्त राजनीतिक प्रणाली को बढ़ावा मिला। इन सभ्यताओं के विकास व उद्भव के कालक्रम से आपको पता चलेगा कि प्रमुख सामाजिक परिवर्तन होने में हजारों वर्ष लगे। संस्कृति के आधुनिक प्रतिरूपों के विकास के अतिरिक्त इनसे परिवहन, नौपरिवहन, और वास्तुकला के क्षेत्रों में भी प्रौद्योगिक परिवर्तन हुए।

6.2 आरंभिक सभ्यताओं के विकास के कारक तत्व

सबसे पहले हम उन कारणों पर विचार करते हैं जिनकी वजह से आरंभिक सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ। मानचित्रों को देखने से पता चलता है कि प्रथम आरंभिक सभ्यताओं का आविर्भाव उन क्षेत्रों में नहीं हुआ था जिन क्षेत्रों में सबसे पहले खेती की शुरुआत हुई। तथापि यदि हम यह भी मान लें कि उत्तर-पश्चिमी भारत में खेती का प्रारंभ 5000 ईसा पूर्व तक हो पाया था, तो भी 2600 ईसा पूर्व तक ही जाकर सिंधु सभ्यता का उदय हुआ। इस तरह मात्र कृषि को ही सभ्यता के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। साथ ही, दुनिया के अनेक प्रारंभिक व बाद के कृषि समाजों का सभ्यताओं से सम्पर्क नहीं हो पाया था अर्थात् ये सभ्यता के प्रभावी क्षेत्र से दूर ही रहे।

लेकिन एक बात सुनिश्चित है कि शिकारी संग्रहकर्ता समाज में सभ्यता का विकास, स्थानबद्धता, स्थायी संगठित समुदायों के विकास तथा भंडारण योग्य खाद्य पदार्थों के उत्पादन के बिना नहीं हो सकता था। हम सभी जानते हैं कि चावल और गेहूँ को तो वर्षों तक रखा जा सकता है किंतु मांस और फलों को तो थोड़े दिनों तक भी सुरक्षित नहीं रखा जा सकता क्योंकि ये कुछ दिनों में ही नष्ट हो जाते हैं। भंडारण योग्य खाद्य पदार्थों और सभ्यता के विकास से उनके संबंधों के महत्व की चर्चा हम बाद में करेंगे।

इतिहास में सभ्यता उस अवस्था को दर्शाती है जब अनेक जनजातीय समुदाय राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में बँध जाते हैं अर्थात् राजनीतिक और आर्थिक संबंध जनजातीय सीमाओं को लांघ जाते हैं। इस तरह की प्रक्रिया शासक की केन्द्रीय स्थिति से शुरू होती है, शासक के कर्मचारी व अधिकारी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, क्योंकि वे ऐसा करने के लिए बाध्य होते हैं। यह संरचना समुदायी जीवन के आपसी संबंधों की तुलना में बिल्कुल भिन्न है। यहाँ पर हम शासक या राजा के एक राजनीतिक संस्था के रूप में उभरने व विकसित होने से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि केन्द्र में शासक (राजा) की राजनीतिक गतिविधियाँ इसलिए प्रभावी होती हैं क्योंकि इन्हें सामाजिक स्वीकृति व मान्यता प्राप्त होती हैं। जनता सेना में भर्ती होने या राजा के लिए महल बनाने या राजा के अधिकारियों को अपनी फसल का लगान देने के आदेश का तब तक पालन नहीं करेगी जब तक कि वह ऐसा करने के लिए राजी नहीं होती या फिर उसके पास ऐसा करने के अलावा कोई चारा नहीं होता। इस प्रकार शासकों को व्यापार संगठित व आयोजित करने, सेना बढ़ाने, या शिल्प-उत्पादन को प्रायोजित करने का अधिकार होता है।

इससे शासक के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले प्रदेश में जनता व वस्तुओं का आवागमन बढ़ जाता है। नील, यूफ्रेटस, व सिंधु की सभ्यताओं में नगरों या शहरों (शहरी केन्द्रों) का प्रादुर्भाव हुआ। शहरी केन्द्रों में अनेक लोग प्रशासन, शिल्प या लेखन कार्य, व्यापार या व्यवसायी पादरियों या पुजारियों जैसे गैर खाद्य-उत्पाद-व्यवसायों में लग जाते हैं। इस समय मुद्रा बनाने वाले या लेखक खाद्य पदार्थों का उत्पादन तो नहीं करते थे लेकिन वे इसका उपभोग करते थे और इसके लिए खाद्यान्न की निरन्तर आपूर्ति करनी पड़ती थी और यह आपूर्ति गाँव से की जाती थी।

ऐसे समाज में जब तक खाद्यान्न को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता तब तक न तो कोई शासक ही शासन करने में सफल हो सकेगा और न ही कोई शहर ही बच सकेगा। इसके साथ ही साथ शहर व गाँव के बीच आवागमन (परिवहन) की लागत भी कम होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि 6 बैलों या गधों का समूह 1000 कि.ग्रा. अनाज को एक गाँव से शहर ले जाता है और इसकी कीमत 1005 कि.ग्रा. अनाज के बराबर आती है (क्योंकि यात्रा के दौरान जानवरों और उनके चालकों को खिलाने-पिलाने में खर्च होता है) तो इससे शहरी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (i) विश्वसनीय कृषि आधार और (ii) प्रकृति प्रदत्त सुगम परिवहन के बिना सभ्यताओं का विकास नहीं हो सकता। अगर आप मानचित्रों पर एक

ऊपरी निगाह डालें तो आपको पता चलेगा कि जिन तीन सभ्यताओं का हम अध्ययन करने जा रहे हैं वे अपेक्षाकृत समतल घाटियों में स्थित हैं जहाँ से बड़ी-बड़ी नदियाँ गुजरती हैं। प्राचीन काल में भू-परिवहन की तुलना में जल परिवहन कहीं अधिक सस्ता था। ऐसा इसलिए होता था कि नावें हवाओं या नदियों की लहरों की ऊर्जा से चलती थीं, उनमें जानवरों का इस्तेमाल नहीं होता था जिन्हें खिलाने-चराने की आवश्यकता पड़े। पहिए ने भी परिवहन के लिए पशुओं से अपेक्षित ऊर्जा में कमी की। जिन तीन क्षेत्रों का हम अध्ययन करने जा रहे हैं उन तीनों ही क्षेत्रों में नाव और पहिए वाली गाड़ी सभ्यता के विकसित होने से बहुत पहले से ही प्रयोग में लाई जा रही थी।

इन तीनों ही सभ्यताओं में औज़ारों का निर्माण पत्थर, ताँबे और काँसे से किया जाता था, हालाँकि आभूषणों और शिल्प-कार्य के लिए विभिन्न प्रकार के पत्थरों, शंखों, चाँदी तथा सोने का इस्तेमाल किया जाता था। धातु और कीमती रत्न नील, यूफ्रेटस और सिंधु घाटियों में उपलब्ध नहीं थे और इनको केवल व्यापार के माध्यम से या अभियानों द्वारा प्राप्त किया जा सकता था, साथ ही जहाँ ये प्राप्य थे वहाँ पर उनके संसाधनों व स्रोतों के नजदीक बस्तियों की स्थापना करके उन्हें प्राप्त किया जा सकता था।

ये तीनों ही नदी घाटियाँ उपजाऊ और विस्तृत थीं, ये सभी क्षेत्र कम वर्षा वाले क्षेत्र थे जिनमें होकर नदियाँ बहती थीं जो अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों और पहाड़ी क्षेत्रों से जल को लाती थीं और इस तरह अपनी घाटियों को निरन्तर पानी देती थीं और उपजाऊ मिट्टी प्रदान करती थीं। इन तीनों सभ्यताओं में गेहूँ और जौ मुख्य फसलें थीं तथा चौपाये, भेड़ और बकरी पशुधन थे।

6.3 तीन प्रमुख नदी-घाटी प्रदेश

हम देखते हैं कि यहाँ इनकी आपसी समानताएँ समाप्त हो जाती हैं। तीनों नदियों में नील (संसार की सबसे लम्बी नदी) ही एक ऐसी नदी है जिसे हम भरोसेमंद कह सकते हैं तथा इस पर आसानी से काबू पाया जा सकता है। यह नील नदी मिस्र में आसवान (Aswan) में प्रवेश करती है और उसके बाद एक संकरी घाटी से होकर बहती है जो पूर्वी और पश्चिमी ओर से बड़े-बड़े मरुस्थलों से घिरी हुई है। काइरो (Cairo) के पास यह बहुत चौड़े डेल्टा (मुहाने) में बदल जाती है जहाँ खेती योग्य जमीन बहुतायत में उपलब्ध है। डेल्टा के मुहाने के समीप प्राचीन मिस्र के घने बसे हुए क्षेत्र थे। सितम्बर में यह नील नदी मिस्र में अपने किनारों को तोड़कर बाहर बहने लगती है, जिसके कारण एक बहुत बड़ी झील बन जाती है और ऐसा लगता है कि गाँव द्वीपों की तरह पानी में तैर रहे हों। इस संकरी घाटी को पूरी तरह नमीयुक्त व उपजाऊ बनाने के बाद अक्तूबर में यह बाढ़ शांत हो जाती है और किसान खेत जोतने के लिए तैयार हो जाते हैं। मिस्र में बहुत ही कम, लगभग नगण्य, बरसात होती है लेकिन नील की बाढ़ के कारण सिंचाई नहरों का निर्माण बिल्कुल अनावश्यक समझा गया।

मैसोपोटामिया से होकर दो बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं—तिगरीज (Tigris) व यूफ्रेटस (Euphrates) सुमेरियन सभ्यता की आबादी यूफ्रेटस के किनारों पर बसी हुई थी क्योंकि तिगरीज बहुत ही तेजी से बहने वाली नदी है और इसमें बहुत जल्दी ही बाढ़ आ जाती है। सुमेर में प्रवेश करने के बाद यूफ्रेटस धीमी गति से बहती है और इसकी कई शाखाएँ हो जाती हैं जो आगे चलकर फिर दो हिस्सों में बँट जाती हैं। मिस्र में बाढ़ फसल आने से पहले आती है लेकिन यूफ्रेटस तो दिसम्बर में बढ़ना शुरू होती है और अप्रैल में यह अपनी पराकाष्ठा पर होती है। चूँकि बारिश फसलों के लिए अपर्याप्त होती है और फसल के समय नदियों का जल स्तर ज्यादा ऊँचा होता है, अतः मनुष्य द्वारा निर्मित तालाबों व नहरों तथा नदियों की प्राकृतिक शाखाओं का खेतों में पानी देने के लिए उपयोग किया जाता है। मैसोपोटामिया में नहरों के खोदने व उनके अन्दर जमी हुई कीचड़, काई आदि को निकालकर साफ करने में काफी परिश्रम करना पड़ता है।

नील नदी की तरह ही सिंधु नदी में भी जुताई के समय से पहले ही बाढ़ आती है; और यह बाढ़ अक्सर अगस्त में आती है। लेकिन सिंधु पर काबू नहीं पाया जा सकता है। सिंधु नदी में नील की तुलना में दुगना पानी होता है और यह बहुत द्रुत गति से बहती है। अतः सिंधु की बाढ़ का पानी आस-पास के क्षेत्रों में नहीं फैलता क्योंकि इसके बाढ़ का पानी पूर्वी नारा व पश्चिमी नारा जैसी नदियों में बँट जाता है और ये नदियाँ भी सिंधु की तरह ही बाढ़मय हो जाती हैं। ये नदियाँ जल्दी-जल्दी कई बार अपना रास्ता बदल देती हैं। इस प्रकार यह विस्तृत सिंधु घाटी अपने जुताई पूर्व जल और उपजाऊ प्रक्रिया को बहुत ही अनियमित रूप से प्राप्त करती है। परिणामतया कुछ भागों को तो अच्छी मात्रा में पानी मिल जाता है जबकि दूसरे क्षेत्र सूखे ही रह जाते हैं। यह स्थिति

हर वर्ष अलग-अलग तरीके से सामने आती है। इस प्रकार सिंधु घाटी सभ्यता के निवासियों को कृषि उत्पाद के लिए बड़ी-बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ा होगा।

इस विषय को स्पष्ट करने तथा भौगोलिक समानताओं व असमानताओं का मूल्यांकन करने के बाद अब हम तीनों सभ्यताओं में से प्रत्येक की विभिन्न विशेषताओं पर विचार करते हैं, इनमें हर एक अद्वितीय व अनुपम है तथा अध्ययन के लिए उपयोगी है।

6.4 निचले मैसोपोटामिया के शहरी निवासी

मैसोपोटामिया का इतिहास स्रोतों व संसाधनों की दृष्टि से काफी समृद्ध है तथा मैसोपोटामिया का दुनिया के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यहाँ सबसे पहले शहरों व राज्यों की स्थापना हुई। प्राचीन काल में यहाँ की कृषि अर्थव्यवस्था सबसे अधिक समृद्ध थी। इसने साहित्य, गणित, और खगोल विद्या के क्षेत्र में दुनिया को बहुत बड़ी विरासत प्रदान की है। हमने जो चार्ट दिया है उसमें मात्र कालक्रम की रूपरेखा ही दी है, और इस छोटे से पाठ में हम केवल तीसरे सहस्राब्द (millennium) में मैसोपोटामिया सभ्यता के प्रथम काल के बारे में ही बता पाएँगे। आज हम मैसोपोटामिया के इतिहास को इतनी अच्छी तरह समझते हैं, इसका क्या कारण है? कई दशकों से पुरातत्वविद इसके प्राचीन कस्बों की खुदाई कर रहे हैं जिससे कि अब तक हमें मन्दिर की योजनाओं, बर्तनों, मूर्ति कला, मुद्राओं, धातु शिल्पकारी, कब्रों तथा मिट्टी की पट्टियों का ज्ञान हो सका है। लिखने के लिए मिट्टी की पट्टियाँ (Clay tablets) तैयार कर लीं जाती थीं। मैसोपोटामिया के लोग गीली मिट्टी की पट्टियों पर नरकट (Reed) या लकड़ी की कलम से (जो कि खूँटी के आकार वाली नोंक लिए होती थी) लिखा करते थे। लिखने के पश्चात् वह उस पट्टी को या तो सुखा लेते थे या फिर पका लेते थे। जैसा कि आप जानते हैं कि पकी हुई मिट्टी को पृथ्वी में गाड़ दिया जाए तो वह शताब्दियों तक टिकी रह सकती है जबकि कागज, पेड़ की छाल या काठ के तख्ते कार्बनिक पदार्थ होते हैं अतः वे जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। इन पट्टियों की लिखावट का अध्ययन करने के बाद हमें इस युग के बारे में बहुत कुछ पता चल जाता है।

इस मिट्टी पर आदिकालीन राजाओं के बारे में महाकाव्यात्मक कहानियाँ लिखी जाती थीं, देवताओं के कार्यकलाप तथा संसार की रचना व सृजन के बारे में दन्तकथाएँ लिखी जाती थीं। इसके अलावा,लोक-कथाएँ, राजाओं द्वारा घोषित नियम और कानून, राजाओं द्वारा अपने अधिकारियों के लिए लिखे गए पत्र तथा सभी शासकीय कार्यों का विस्तृत विवरण भी लिखा जाता था।

मैसोपोटामिया के इतिहास में मात्र तीन राजा ऐसे हुए जो कि पढ़ व लिख सकते थे, लेकिन 2000 ईसा पूर्व में राजकीय कार्यों को सुव्यवस्थित रखने के लिए लिखना अपरिहार्य हो गया था। राजा द्वारा अपने अधीनस्थों को लिखे गए सभी पत्रों की प्रतियाँ रखी जाती थीं और जब उनका उत्तर प्राप्त हो जाता था तो उन्हें प्रतियों सहित नत्थी किया जाता था, और इन्हें बक्सों (सन्दूकों) या अभिलेखागारों की अलमारियों में रखा जाता था। आर्थिक इतिहास के बारे में भी बहुत अधिक जानकारी मिल सकती है क्योंकि हमें व्यापारियों के लेन-देन के कागजात, राजकीय पशुओं को रखने के बाड़ों, मंदिरों के साथ संलग्न शिल्पगृहों जहाँ लोगों को कताई और बुनाई के लिए रखा जाता था के बारे में जानकारी मिलती है। मन्दिरों की भूमि पर होने वाले सभी कार्यों का लेखा-जोखा रखा जाता था। इसके साथ ही लोगों द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्य, उनको सौंपे गए जुताई और बोआई के साधन विभिन्न खेतों के माप व आकार और उन से काटी गई फसल की मात्रा आदि का हिसाब भी रखा जाता था।

6.4.1 सुमेरियन सभ्यता

सबसे पहले जिन लोगों ने शहरों में बसना शुरू किया वे सुमेरियन भाषा बोलते थे। अतः हम इसे सुमेरियन सभ्यता कहते हैं। प्रत्येक लिखा हुआ चिह्न या तो शब्दांश का प्रतीक होता था या फिर पूरे शब्द का। जबकि आज की वर्णमाला में एक चिह्न केवल एक स्वर या एक व्यंजन का बोध कराता है। चूँकि उन्हें कलम के छोर से दबाया जाता था अतः ये चिह्न (प्रतीक) रेखागणितीय आकार के होते थे। कालक्रम के चार्ट से हमें मैसोपोटामिया में प्रयोग की जाने वाली दूसरी भाषा का भी पता चलता है और साथ ही वे तिथियाँ भी ज्ञात हो जाती हैं जब यह भाषा चलन में थी। दोनों भाषाओं की लिखाई कील की आकार की होने के कारण कीलाक्षर कही जाती है।

7. कीलाक्षर वर्णों में अक्कादीयन लिखावट

सुमेरियन सभ्यता का विकास गाँवों के रूप में हुआ (घटना के कालक्रम चार्ट में प्रथम कॉलम देखें)। लेकिन 2500 ईसा पूर्व तक इसने शहरों का रूप ले लिया था। पुरातत्व के गहन सर्वेक्षणों से पता चलता है कि आजकल के सिंधु व मिस्र के शहरों की तुलना में ये शहर कहीं अधिक बड़े व विशाल थे। कृषि कार्य के लेखे मन्दिर में रखे जाते थे उनसे पता चलता है कि जमीन की उत्पादकता काफी अधिक थी शायद प्राचीन व मध्य कालीन दुनिया में सबसे अधिक। अत: किसानों द्वारा किए गए उत्पादन से शहरों में रहने वाली खाद्यान्न का उत्पादन न करने वाली जनसंख्या की आवश्यकताओं और जरूरतों की पूर्ति हो जाती थी।

प्रत्येक शहर एवं स्वतंत्र शहरी राज्य का एक राजनीतिक व धार्मिक केन्द्र हुआ करता था। सुमेर में कई राज्य ऐसे थे जिनमें अक्सर आपस में युद्ध हुआ करता था। एक शहरी राज्य में उसका शहरी केन्द्र, आसपास के गाँव व कृषि भूमि, तथा भेड़ और बकरी पालने वालों के लिए चरागाह शामिल रहते थे। शहर में सबसे भव्य इमारतें शासकों के महल व मुख्य धर्माधिकारियों के मन्दिर हुआ करते थे।

यद्यपि देवता स्वर्ग में रहते थे फिर भी भू-लोक में भी उनकी सम्पदा हुआ करती थी। मूलत: मन्दिर ईश्वर का पृथ्वी पर घर होता था और यहाँ पर उसे नियमित रूप से भोजन, अच्छे-अच्छे कपड़े और आभूषण भेंट किए जाते थे। मन्दिर के अधीन आने वाले खेत, मछलियाँ, पशु व कारखाने ईश्वर की सम्पदा होते थे। मैसोपोटामिया के लोगों के विश्वास के अनुसार मनुष्य का जन्म देवताओं की सेवा करने के लिए होता था ताकि देवता इस सेवा का आनन्द भोग सकें। मन्दिर में गायक तथा मंत्रों का उच्चारण करने वाले पुजारी देवताओं को खुश किया करते थे, सामान्य जन मन्दिर में खाद्य पदार्थों की भेंट लेकर आते थे; शिल्पी देवताओं के लिए साज-सामान व सजावट की वस्तुएँ बनाते थे तथा पशुओं व जानवरों की नियमित रूप से बलि दी जाती थी।

मन्दिर की कुछ भूमि काश्तकारों को फसल के 10 प्रतिशत के बदले में दे दी जाती थी और कुछ पुजारियों को उनकी सेवाओं के बदले में दे दी जाती थी। पशुओं को पाला जाता था और मन्दिर के नौकर भेड़ की ऊन से वस्त्र बुनकर तैयार करते थे। इस कार्य के बदले इन नौकरों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आटे, तेल तथा कपड़ों के रूप में पर्याप्त गुजारे की वस्तुएँ दी जाती थीं। इस समय जनजातीय समाजों की तुलना में समाज में एक वर्ग उभरा जिसके पास उत्पादन के अपने कोई भी साधन नहीं होते थे और अपनी मेहनत व श्रम के बदले में उसे केवल गुजारे भर की चीजें ही मिलतीं।

इन सभी कार्यों में राजाओं की भूमिका संदिग्ध हुआ करती थी। अपने शिलालेखों में राजा इस बात की शेखी बघारते थे कि अमुक-अमुक देवताओं ने उन्हें राज्य करने के लिए राजा के रूप में चुना है और उनसे देवताओं के लिए सम्पत्ति इकट्ठा करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार राजा देवताओं के सबसे बड़े भक्त हुआ करते थे। बस इतना था कि वे स्वयं को देवता नहीं कहते थे। वे मन्दिरों के निर्माण में बहुत अधिक पैसा खर्च करते थे। किन्तु राजाओं को उन वास्तविक पुजारियों का अधिकार प्राप्त नहीं होता था जो केवल धार्मिक अनुष्ठान व मन्दिर प्रशासन में ही संलग्न होते थे। मन्दिर के निर्माता राजा की आज्ञा ही कानून होती थी तथा वे ही मुख्य प्रशासक, व्यापार को संगठित करने वाले और बहुत बड़ी व्यक्तिगत सम्पदा के मालिक होते थे। उनके महल मन्दिरों से विशाल होते थे तथा उनकी कड़ी सुरक्षा रहती थी। अनेक लोगों को महल में काम करने के लिए रखा जाता था तथा उनसे राजाओं की व्यक्तिगत रियासतों पर भी काम करवाया जाता था।

आरंभिक राजाओं को हमें केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए। सुमेरियन राजा अपनी सैनिक शक्ति भी बढ़ाते थे। साथ ही मन्दिर निर्माण व प्रशासन में भी लगे रहते थे क्योंकि वे अपने इस प्राधिकार को वैध व उचित ठहराना चाहते थे कि वे जनता की निगाह में सर्वश्रेष्ठ हैं और साथ ही वे मन्दिर की सम्पत्ति (धन) पर भी कब्जा करना चाहते थे। आरंभिक राजवंश युग तक मन्दिरों में काफी धन जमा हो चुका था और उनके पास काफी जमीन थी। मौलिक रूप से यह सारा धन जनता का था लेकिन सुमेरियन राजाओं के पास आवश्यक शक्ति होने के कारण वे इस धन का इस तरह इस्तेमाल करते थे मानो यह धन उनकी निजी सम्पत्ति हो। प्रारंभिक राजवंशी मन्दिरों के अभिलेखों में देवता की जगह राजाओं के ही नाम मिलते हैं और उन्हीं को मन्दिर की भूमि का मालिक दर्शाया गया है।

6.4.2 राजा की शक्ति के स्रोत

लेकिन यह प्रश्न किया जा सकता है कि राजाओं को ऐसी शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई जिसकी वजह से उन्होंने मन्दिर के पुजारियों की स्थिति को क्षति पहुँचाई।

पचास वर्ष पूर्व पुरातत्ववेत्ताओं को ऊर (Ur) शहर की खुदाई करते समय एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान (शमशान) मिला। उन्हें इस कब्रिस्तान में हजारों साधारण लोगों की कब्रें मिलीं, ये लोग इन कब्रों में कुछ आभूषणों व बर्तनों के साथ गढ़े हुए मिले। उन्हें 16 कब्रें ऐसी भी मिलीं जो, अपने आप में विशिष्ट थीं। ये कब्रें राजाओं और रानियों की थीं तथा जमीन के अन्दर ईंटों के बड़े-बड़े कमरों जैसी बनाई गई थीं। कुलीन व शाही लोगों को अनेक आभूषणों, संगीत-यंत्रों, सोने व चाँदी के बर्तनों व सोने व चाँदी के बने औपचारिक हथियारों सहित दफनाया जाता था। कुछ कब्रों में राजा और रानी अपने दरबारियों, सुरक्षाकर्मियों, बैलों से चलने वाले रथों और उनके चालकों के साथ दफनाए गए थे। इन कब्रों की विशाल सम्पत्ति पर आश्चर्य तब होता है जब हमें मालूम होता है कि सुमेर में तो धातु या कीमती रत्न ही नहीं उपलब्ध थे और इन्हें जाग्रोस, सीरिया, तुर्की तथा भारत से आयातित करना पड़ता था। इस प्रकार राजाओं के पास काफी धन इकट्ठा हो गया था क्योंकि वे सुदूर के देशों से व्यापार का आयोजन करते थे तथा खनिजों के बदले में सस्ते अनाज, तेल तथा कपड़ों को भेजा करते थे, अतः वे शक्तिशाली भी बन गए थे। एक महल में मिले दस्तावेजों से पता चलता है कि व्यापारी राजाओं के एजेंटों के रूप में विदेश जाते थे तथा वहाँ से काफी धन लेकर वापस लौटते थे और अक्सर हम यह पाते हैं कि राजा अपने मन्दिर के शिलालेखों में अपने विदेशी व्यापार की सफलताओं का बढ़ा-चढ़ाकर उल्लेख किया करते थे।

आर्थिक समृद्धि (धन) और सैन्य शक्ति दोनों का साथ-साथ विकास हुआ होगा। तीसरी सहस्राब्दि के आरंभ में सुमेर में युद्ध भी लगातार होता रहता था। जमीन के उपजाऊ होने पर भी खेती असंतुलित थी। यूफ्रेटस की नहरों का अचानक रास्ता बदल जाता था जिसके परिणामस्वरूप वहाँ पर बसी हुई जातियाँ पानी से वंचित रह जाती थीं। नहरें बहुत ही अल्पकालिक हुआ करती थीं क्योंकि उनमें बहुत जल्दी ही कीचड़ व मिट्टी जम जाती थी और कुछ वर्षों के बाद उन्हें प्रभावी ढंग से साफ नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार जातियों व समुदायों में समय-समय पर भूमि और पानी के लिए युद्ध हुआ करते थे।

सफल सैनिक नेता व सरदार युद्ध बंदियों को अपने अधीन कर लेते थे जिनसे उनकी सेना में बढ़ोत्तरी हो जाती थी और वे और भी अधिक शक्तिशाली हो जाते थे। अपने दुश्मनों के, विशेषकर धनी व समृद्ध शहरों से माल लूट कर वे धन की प्राप्ति करते थे। कुछ सुमेरियन मन्दिरों को दुश्मनों द्वारा पूरी तरह नष्ट कर दिया गया था जो कि पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा उनके फर्शों पर पाई गई राख व टूटे-फूटे खंडहर व वस्तुओं तथा पदार्थों से स्पष्ट हो जाता है। जो राजा हथियार बनाने के लिए जितना अधिक ताँबा और काँसा आयातित कर सकता था, वह राजा युद्ध में उतना ही सफल होता था।

एक सुमेरियन कहावत है, "सुमेर में केवल गरीब ही शान्त है"। साधारण किसानों और बर्तन बनाने वालों (कुम्हार) के बारे में हमें ज्यादा जानकारी नहीं है। साधारण जनता मन्दिरों में नियमित रूप से भेंट व चढ़ावा ले जाती थी तथा राजा के लिए परिश्रम करना या सेना में भर्ती होना उनके लिए अनिवार्य था। साहित्य में हमें जहाँ तहाँ ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनमें जनता राजा के प्रति शिकायत करती नजर आती है लेकिन मजे की बात यह है कि ये शिकायतें कर लगाने के बारे में नहीं बल्कि उस कड़ी मेहनत के बारे में हैं जो मन्दिर बनाने, शहर की दीवारें बनाने, या अभियानों पर जाने में करनी पड़ती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गाँव में रहने वाले लोगों पर फसल कर या लगान नहीं लगता था। राज्य को राजस्व की प्राप्ति मन्दिरों व महल सम्पदा से तथा बेगार (श्रम) और विदेशी व्यापार से होती थी।

साथ ही हमें कई कानूनी दस्तावेजों से पता चलता है कि उस समय किसान शायद गरीबी के कारण अपनी जमीन को राजसी परिवारों या कुलीन परिवारों को बेच रहे थे। यद्यपि राजाओं के दृष्टिकोण से देखा जाए तो हमें इन दस्तावेजों (संविदाओं) से पता चलता है कि ये लोग इस जमीन पर अपना अधिकार नहीं कर रहे थे वरन् इसके बदले किसानों को अनाज, रोटी, मछली, तेल या ताँबा देते थे।

चार्ट-1 मैसोपोटामिया का घटना कालक्रम

4500 से 2900 ईसा पूर्व	उबेद उरक और जमदात नसर युग	निचले यूफ्रेटस में सबसे पहले मछुआरे और किसान बसे। शेष मैदानी इलाके में धीरे-धीरे जनवृद्धि हुई। बस्तियों में छोटे-छोटे मन्दिर बनाए गए। ताँबे और काँसे की धातु के काम में सुधार हुआ। आगे चलकर लिखने का कार्य भी शुरू हुआ; सिलेण्डर मुद्राओं का चलन हुआ और मन्दिरों की आकृति विशाल होने के साथ-साथ सजावटी भी हो गई। सुमेरियन शहरी राज्यों और प्राचीनतम सभ्यता के युग की जानकारी के लिए, पाठ देखें।
2900 से 2300 ईसा पूर्व	आरंभिक राजवंश युग	सुमेरियन शहरी-राज्यों और प्राचीनतम् सभ्यता के युग की जानकारी के लिए पाठ देखें।
2300 से 2000 ईसा पूर्व	अक्काद का राजवंश और ऊर का तीसरा राजवंश	सुमेरियन भाषा का स्थान धीरे-धीरे अक्कादी भाषा ने लिया। वह सरकारी व घरेलू भाषा के रूप में प्रयोग होने लगी लेकिन सुमेरियन को तब भी स्कूलों में पढ़ाया जाता था और इसकी लेखन पद्धति पूर्ववत ही रही। अक्काद के सारगॉन ने एसीरिया, और सीरिया के कुछ हिस्सों पर विजय प्राप्त की और वह संसार का सबसे पहला शासक (राजाधराज) बन गया। ऊर (Ur) के तीसरे राजवंश ने पूरे सुमेर के प्रशासन भार को संभाल लिया।
2000से 1600 ईसा पूर्व	प्राचीन बेबीलॉनियन युग	मैसोपोटामिया में अनेक बाहरी देशों से आए लोग बसने लगे पर वे अक्कादी भाषा का ही प्रयोग करते थे। बेबीलॉन के हामुराबी सहित कई राजाओं ने प्रभुसत्ता के लिए लड़ाई लड़ी लेखन स्कूलों में कई प्रलेखों की नकल की गई।
1600 से 1150 ईसा पर्व	कासिट युग (Kassite Period)	जाग्रोस के लोगों ने बेबीलॉन का राज्य सिंहासन हथिया लिया और मैसोपोटामिया की सभ्यता को अपना लिया। सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में अक्कादी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की भाषा बन गई।
छोटे र.जवंश		लौह युग का आरंभ। ऊंट को पालतू बनाना शुरू।
1000 से 612 ईसा पूर्व	आसीरियन राजवंश	750 ईसा पूर्व तक आइसीरिया ने अपनी विशाल व सक्षम सैन्य शक्ति से दक्षिण सीरिया फिलिस्तीन तथा जाग्रोस के पहाड़ी राज्यों तक अपना राज्य स्थापित किया। आसीरियन राजाओं ने संसार का सबसे पहला चिड़ियाघर व पुस्तकालय बनाया। उनकी राजधानी निनवेह (Nineveh) 612 ईसा पूर्व में बेबेलॉन और मीडिस (Medes) के अधिकार में चली गई।
625 से 539 ईसा पूर्व	नव बेबीलॉनियन युग	बेबीलॉन जो अब तक आइसीरिया का सबसे बड़ा दुश्मन था, मैसोपोटामिया सबसे बड़ी शक्ति बन गया। बेबीलॉन संसार का सबसे बड़ा शहर बन गया। यह अपने धन व समृद्धि के साथ-साथ अपनी बौद्धिक परंपराओं के लिए भी प्रसिद्ध हो गया। शायद शून्य का चिह्न (0) भी इसी युग में खोजा गया होगा।। बेबीलॉन अकामेनिद पारसियों के हाथ में 539 ईसा पूर्व में चला गया।
539 से 331 ईसा पूर्व	अकामेनिद शासन	बेबीलॉन ईरानी साम्राज्य की खत्ती (अन्न भंडार) थी। पारसी राजाओं ने बेबीलॉन को अपना शरद ऋतु निवास स्थान बनाया।
331 ईसा पूर्व	सिकंदर का आक्रमण	ईरानी साम्राज्य के विजेता सिकंदर ने बेबीलॉन जैसे सार्वभौम परिष्कृत राज्य से विस्मित होकर उसे अपनी एशियायी राजधानी बनाने का निश्चय किया पर यह कर पाने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गई।
311 से	सिल्यूसिड राजवंश	छोटे-छोटे ग्रीक शासक मैसोपोटामिया के साहित्य और खगोल

विज्ञान में अधिक रुचि लेने लगे। अक्कादी भाषा व कीलाक्षर 75 ईसवी के बाद चलन से बाहर हो गए और बेबीलॉन, जो अब तक संसार का शक्ति केन्द्र था, अवनति की ओर उन्मुख हो गया।

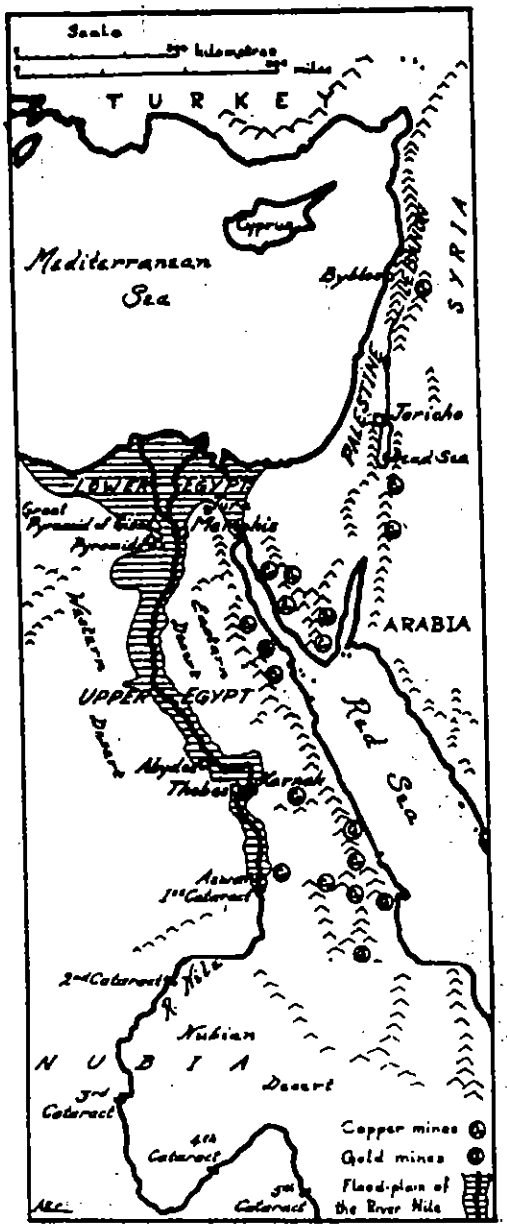

मानचित्र 3

बोध प्रश्न 1

1 सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2 मैसोपोटामिया सभ्यता इनमें से किस नदी घाटी में विकसित हुई (सही उत्तर पर निशान लगाएँ)।

क) सिंधु
ख) गंगा
ग) टिगरिस और यूफ्रेटस
घ) नील

3 मैसोपोटामिया के राजकाज को चलाने के लिए लेखन कब अनिवार्य हुआ (सही उत्तर पर निशान लगाएँ)।
क) 5000 ई.पू.
ख) 2000 ई.पू.
ग) 1000 ई.पू.
घ) 505 ई.पू.

4 सुमेरियन सभ्यता में धर्म की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

5 हमें सुमेरियन सभ्यता में पुजारियों पर राजा के प्रभुत्व का सबूत इनमें से किन पुरातत्व स्थलों से मिलता है (सही उत्तर के लिए किसी एक पर निशान लगाएँ)।
क) यूफ्रेटस
ख) निनीवेह
ग) ऊर
घ) बेबीलॉन

6.5 मिस्र

अब हम मिस्र के प्राचीन राज्य व उसकी सभ्यता की चर्चा करेंगे। उप-भाग 6.5.2 में कालक्रम के माध्यम से मिस्र में घटनाओं के कालक्रमिक विकास के बारे में आपको थोड़ी सी-जानकारी मिल सकती है।

प्राचीन मिस्र फैरोअ (राजाओं) के नामों व उत्तराधिकार के क्रम को बड़ी ही समृद्ध परम्परा के रूप में याद किया जाता था और अक्सर इस सूचना तथा शासन के दौरान महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना को या तो इतिहास में अभिलिखित किया जाता था या फिर मन्दिर और कब्र की दीवारों पर अभिलिखित किया जाता था। फैरोअ की यह परम्परा थी कि वे अपने शाही पूर्वजों का सम्मान करते थे। एक फैरोअ साठ या पच्चहत्तर मृतक राजाओं के लिए बलि का इन्तजाम कर सकता था। इस अवसर पर इन सभी पूर्ववर्ती राजाओं के नामों को मन्दिर की दीवारों पर लिख दिया जाता था और यह मन्दिर वह स्थल होता था जहाँ पर ये अनुष्ठान (संस्कार) सम्पन्न किए जाते थे। इस प्रकार हमारे पास अनेक अभिलेखों व शिलालेखों से प्राप्त राजाओं के उत्तराधिकार, शासन आदि के विश्वसनीय कालक्रम हैं।

आपको इस बात को जानकर आश्चर्य हो सकता है कि पुरातत्व से हमें प्राचीन मिस्र के बारे में केवल सीमित जानकारी ही मिलती है। मिस्र का वातावरण अत्यधिक शुष्क होने के कारण प्राचीन अवशेषों को सुरक्षित रखा जा सका है—यहाँ तक कि मृतक फैरोअ के रासायनीकृत शवों को मिट्टी में सुरक्षित रखा गया है। लेकिन शुष्क उजाड़ भूमि में केवल मृतक स्मारक व मन्दिर ही बनाए जाते थे।

मिस्र के कस्बे और गाँव नील नदी के कृषि वाले मैदानी क्षेत्र में स्थित थे। यह बहुत ही छोटा व सँकरा मैदानी इलाका है और यहाँ हर साल बाढ़ आ जाती है। मध्यकालीन व आधुनिक बस्तियाँ अक्सर प्राचीन घनी आबादी वाले ग्राम स्थलों पर ही बसती गईं। इसीलिए सामान्य गाँव के घर, या ग्राम्य मन्दिर यहाँ तक कि कस्बों की महत्वपूर्ण इमारतें या तो बाढ़ से नष्ट हो गई हैं या फिर गीली मिट्टी में दबी पड़ी हैं अथवा बाद की बस्तियों के नीचे दब गई हैं। हमें गाँवों और कस्बों के स्थलों, सामान्य घरों तथा किसानों के जीवन के बारे में बहुत ही कम जानकारी है।

6.5.1 मिस्र की संस्कृति

यह सौभाग्य की बात है कि मिस्र का इतिहास केवल फैरोअओं के नामों व युद्धों की सूची नहीं है। मन्दिर व कब्र की दीवारों पर दैनिक जीवन को दर्शाते चित्र मिलते हैं; इनमें खेत को जोतते किसान, लकड़ी का काम करते बढ़ई, लिखाई करते लिपिक (scribes), अपने रखवालों को काटते बंदरों के चित्र मिलते हैं। हमें लिखित विवरण; लोगों की कब्रों पर खुदी हुई उनकी जीवनियाँ, पेपीरस पर पत्र तथा कहानियाँ मिलते हैं।

मिस्र की लिखावट चित्रलिपि (hieroglyphic) में होती थी जिसमें चित्रवत् चिह्न होते थे। एक चित्र का मतलब वही होता था जिसके लिए उसे बनाया गया होता था अर्थात् जैसे घर के लिए अलग चिह्न होता था तो अन्य वस्तुओं के लिए अलग चिह्न। इसी प्रकार एक ध्वनि के लिए एक चिह्न होता था जैसे 'न' और 'द' ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न होते थे। इस प्रकार, उस समय अर्थ से सम्बद्ध तथा ध्वनि से सम्बद्ध चिह्न होते थे। मिस्र के लोग जब पेपीरस (अगला पैरा देखें) पर लिखते थे (इसी से पेपर (कागज) शब्द की उत्पत्ति हुई है) तो चिह्नों को मिला कर लिखते थे इसलिए वे लेख चित्रों की तरह उतना नहीं लगते थे।

पीरस मिस्र में पाये जाने वाले बाँस के पौधे जैसा होता है। इसके हरे तने की पतली परतें बना ली जाती थीं। इनको एक दूसरे के साथ लगा दिया जाता था फिर इन्हें पीटकर चपटा किया जाता था और चद्दरें-सी बना दी जाती थीं। इनको दबाने तथा धूप में सुखाने के बाद, लिखने के लिए तैयार किया जाता था। स्याही या अन्य विभिन्न रंगों वाली सूखी टिकियाँ बनाकर उन पर गीले ब्रुश का इस्तेमाल किया जाता था। इसीलिए मिस्र की लिखावट बहुरंगी है और आँखों को अच्छी लगती है।

8. पेपीरस पौधे

आज मिस्र के पिरामिड (Pyramid) दर्शकों तथा पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र हैं। पिरामिड पत्थर की विशाल कब्र होती है जो नीचे से वर्गाकार होती है और जिसकी चार त्रिकोणीय भुजाएँ ऊपर जाकर मिल जाती हैं। जब किसी फैरोअ की मृत्यु होती थी तो उसके मृतक शरीर को एक विशाल लकड़ी की नाव में नील नदी के नीचे घाटी मन्दिर में लाया जाता था और फिर इसके बाद उसके शव को अन्तिम विश्राम स्थल अर्थात् पिरामिड के अन्दर ले जाया जाता था। अक्सर पिरामिड के पास लकड़ी की एक विशाल नाव भी गड़ी हुई मिलती है। मिस्र के निवासियों की मान्यता थी कि मृतक व्यक्ति पृथ्वी पर दोबारा जन्म लेता है इसीलिए वे मृतक फैरोअ को कीमती वस्त्र पहनाते थे तथा उसके साथ कब्र में भोजन, फर्नीचर तथा हथियार इत्यादि भी रख देते थे।

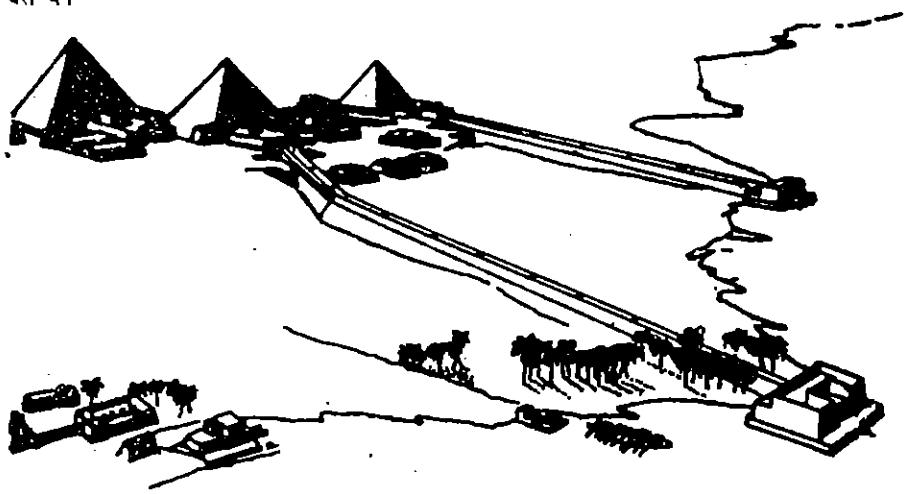

9. घाटीनुमा मंदिरों और पक्के नदी पथों से युक्त पिरामिड समूह

कई मायनों में पिरामिड मिस्र के राजाओं की शक्ति व ताकत का प्रतीक होते थे। ये बहुत ऊँचे स्मारक होते थे। यह आकार फैरोअ राजाओं के गर्व या अहम् का प्रतीक नहीं था फैरोअ को धार्मिक व्यक्ति के रूप में देखा जाता था जिसे देवता ने बनाया था तथा जो ईश्वर के प्रति जवाबदेह माना जाता था। वह होरस (बाज-देवता) का अवतार तथा री (Re) यानी सूर्य-देवता का वंशज समझा जाता था। वह अपने राज्य में हर मन्दिर का सबसे बड़ा पुजारी होता था तथा सारे ब्रह्मांड की व्यवस्था की जिम्मेदारी उसी की होती थी। फैरोअ, सुमेर के राजाओं की तुलना में अधिक धार्मिक व्यक्तित्व होते हुए भी राज्य के प्रमुख शासनाध्यक्ष हुआ करते थे। फैरोअ के राज्याभिषेक के समय सारे अनुष्ठानों व संस्कारों को सम्पन्न करने के बाद उसे ऊपरी तथा निचले मिस्र के शासक के रूप में ताज पहनाए जाते थे। इस प्रकार वह एक अपव्ययी प्रदर्शनयुक्त जीवन व्यतीत करता था, वह सारे प्रशासन का उत्तरदायित्व वहन करता था और हर दो साल के बाद अपने संपूर्ण राज्य का निरीक्षण करता था।

10. (अ) निचले मिस्र का लाल राजमुकुट (आ) ऊपरी मिस्र का सफेद राजमुकुट

हम इससे पहले मृतक राजाओं को सम्मानित करने के महत्व की चर्चा कर चुके हैं। मृतक फैरोअ के धार्मिक अनुष्ठान करने वाले पुजारियों को दानस्वरूप भूमि का एक टुकड़ा दे दिया जाता था। इस भूमि से होने वाली आय से कार्मिकों का भरण-पोषण चलता था तथा भेंट व बलि की सामग्री मिलती थी।

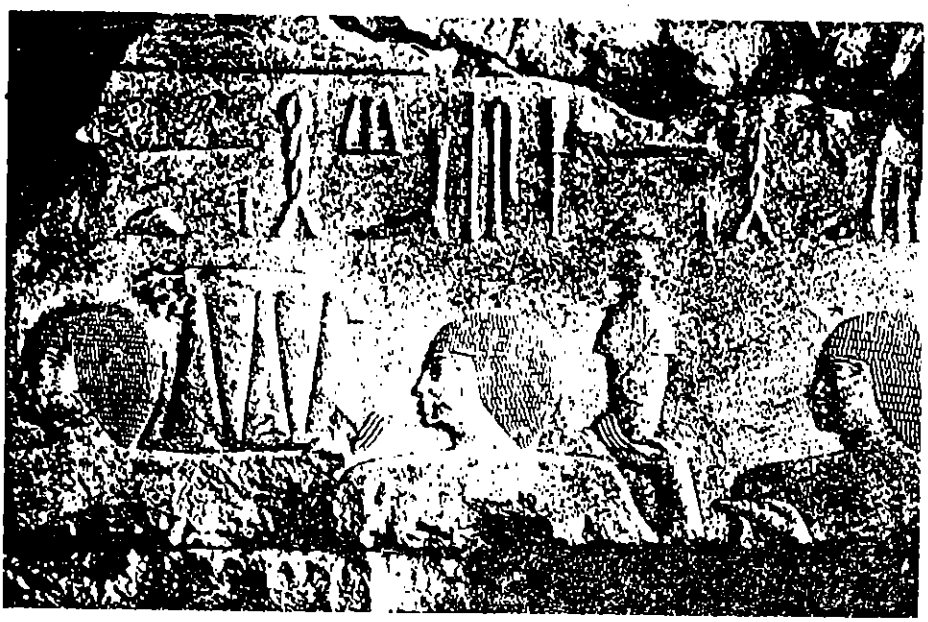

11. मिस्र की लिपि

6.5.2 प्रशासन

सभी उच्चाधिकारियों की आवश्यकताओं की पूर्ति राजा द्वारा की जाता था। लेकिन पाँचवें राजवंश के शासकों ने एक नई प्रथा चलाई और उन्होंने उच्च पदाधिकारियों को बड़ी-बड़ी जमीनें देना शुरू कर दिया। इन जमीनों को प्राप्त करने वाले लोगों के बेटे राजा की आज्ञा प्राप्त करके इन सम्पदाओं को विरासत के रूप में ले सकते थे।

ऐसी जुताई योग्य भूमि को प्राप्त करने के बाद प्रान्तीय अधिकारी, विशेषकर ऊपरी मिस्र में रहने वाले अधिक स्वतंत्र होने लगे। पाँचवें राजवंश को बाध्य होकर ऊपरी मिस्र में बढ़ती हुई इस स्वतंत्रता को रोकने के लिए राज्यपाल (गवर्नर) का पद सृजित करना पड़ा।

अब हम एक ऐसे अधिकारी के जीवन पर नजर डालते हैं जो ऊपरी मिस्र का गवर्नर बना। उसकी जीवनी उसकी कब्र के पत्थर पर अभिलिखित है। वेनी (Weni) नामक एक अधिकारी ने जो बहुत ही साधारण परिवार का था, छठे राजवंश के संरक्षण में राजनीतिक जीवन में उच्च स्थान प्राप्त किया। वह लिखता है, "जब मैं एक मजिस्ट्रेट ही था तभी राजा ने मुझे अपना मित्र बना लिया व राजमहल का पर्यवेक्षक (Overseer) नियुक्त कर दिया। मैंने पहले से मौजूद वहाँ के चार पर्यवेक्षकों को हटा दिया। मैं राजाधिराज की सन्तुष्टि के अनुसार कार्य करता था, उनकी सुरक्षा करता था, राजा के मार्ग का निर्माण करता था, और सभी दरबारी ओहदों को सँभालता था, अतः महाराज मेरी बहुत प्रशंसा करते थे। जब एक बार राजा के अन्तःपुर (जनानेखाने) में एक समस्या पैदा हुई तो राजा ने मुझे ही इसके बारे में बताया क्योंकि मैं राजा का सबसे विश्वसनीय व्यक्ति था। मैंने ही इसकी लिखित रिपोर्ट तैयार की हालाँकि मेरा ओहदा मात्र राजमहल के पर्यवेक्षक का ही था। इससे पहले मेरी तरह के लोगों ने कभी राजसी जनानेखाने के गुप्त या गोपनीय मामलों को नहीं जाना था।"

"जब राजा ने एशियायी फिलिस्तीनियों और सिनाई रेगिस्तान के लोगों पर दण्डस्वरूप हमला किया तो उन्होंने ऊपरी तथा निचले मिस्र से हजारों सैनिकों की बहुत बड़ी सेना बनाई। उन्होंने मुझे इस सेना का प्रमुख बनाया, इसमें राजा के मित्र, कस्बों के प्रमुख, सरकारी अनुवादक तथा मन्दिरों के निरीक्षक भी सम्मिलित थे। यद्यपि मैं मात्र राजमहल का निरीक्षक था परन्तु मुझे सेना का प्रमुख बनाया गया क्योंकि मैं ही दूसरे सिपाहियों को आपस में लड़ने, गाँव से चोरी करने और राहगीरों की वस्तुएँ (रोटी इत्यादि) छीनने से रोक सकता था। अतः मुझे ही इसका सेनापति बनाया गया।"

"सेना शान्तिपूर्वक वापस लौटी ·····सेना ने सिनाई रेगिस्तान के निवासियों की जमीन को तहस-नहस कर दिया तथा हजारों दुश्मनों को मार गिराया·····और अनेक दुश्मनों को कैदी के रूप में ले आये·····राजाधिराज ने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की।"

वेनी ने अनेक सैन्य अभियानों का नेतृत्व किया और तब उसे ऊपरी मिस्र का गवर्नर नियुक्त किया गया, उसे राजस्व वसूल करने तथा काम को पुनःगठित करने का अधिकार भी दिया गया। उससे नील के पास पत्थर की खुदाई करने के लिए कहा गया तथा आदेश दिया गया कि वह इसे फैरोअ को भेजे। उसने शेखी बघारते हुए लिखा है कि यह काम उसने बड़ी तीव्रता के साथ किया। अपने ही स्तर के अनेक लोगों की तरह वह भी चाहता था कि मरने के बाद उसे भी भव्य व आलीशान कब्र में दफनाया जाए और इसके लिए उसने फैरोअ से सहायता माँगी। "राजाधिराज ने मेरे लिए नील नदी के उस पार तूरा से चूना पत्थर लाने के लिए अपने प्रतिनिधि व नाविकों को भेजा। वे वहाँ से कफिन (मुर्दा रखने का बक्सा) ढक्कन, चटाई तथा हिलने-डुलने वाली मेज लाए। ऐसा अब तक किसी भी नौकर (कर्मचारी) के लिए नहीं किया गया था।"

वेनी को मिस्र की दक्षिणी सीमा का गवर्नर बनाकर भेजा गया। यह क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो रहा था तथा इसका महत्व बढ़ता जा रहा था। फैरोअ कृषि संसाधनों के रूप में अपनी जमीन से आय प्राप्त करते तथा साधारण जनता पर फसल-कर लगाते थे। लेकिन राज्य को अच्छी इमारती लकड़ी, कीमती पत्थर, धातु आदि भी चाहिए थे। दक्षिणी मिस्र में स्थित नूबिया इनमें अनेक वस्तुओं का स्रोत स्थल था। छठे राजवंश के हारखुफ नामक एक राजकुमार की कब्र आसवान में बनी है। इस पर लिखा है, "महाराजाधिराज ने मुझे अपने पिता, जो कि राजा के परम मित्र व पुजारी थे, के साथ नूबिया इसलिए भेजा क्योंकि इस देश के लिए रास्ता तैयार किया जाना था। मैंने यह सब कुछ सात महीने में ही कर दिया और साथ सभी चीजें लाया।" अपनी तीसरी यात्रा के साथ हारखुफ 300 गदहों पर इत्र, आबनूस, तेल, तेंदुए की खाल हाथी दाँत और ऐसे लकड़ी के तीर लादकर लाया जो फेंकने के बाद पुनः वापस आ जाते थे। इस मकबरे पर फैरोअ का हारखूफ के नाम एक पत्र भी लिखित है। यह पत्र एक ऐसे बौने के बारे में

है जिसे हारखूफ मिस्र में लाया था। ऐसा लगता है कि ये बौना विचित्र नृत्य जानता था, फैरोअ लिखता है, "तुमने अपने पत्र में लिखा है कि तुम सुदूर मध्य अफ्रीका से नृत्य जानने वाला एक ऐसा बौना लाये ये जैसा काफी वर्षों पहले कोई और लाया था, मैं तुम्हें और तुम्हारे वंशजों को बहुत लाभ पहुँचाऊँगा ..... तुम महल के उत्तर में आकर मुझसे मिलो अपने साथ वह बौना लेकर आओ ..... । रास्ते में नाव पर उसकी सुरक्षा के लिए शक्तिशाली अंगरक्षक रखना। कहीं ऐसा न हो कि वह पानी में गिर जाये, मेरी दिलचस्पी दूर देशों की सब भेंटों से अधिक इस बौने को देखने में है।"

मिस्र अन्य देशों से भी वस्तुएं मँगाता था। सिनाई रेगिस्तान नील मणियों तथा ताँबे का स्रोत था। प्राचीन फैरोअ राजाओं के शिलालेख भी इन खानों के पास मिले हैं। लेबनान के पहाड़ों से मिस्र देवदार की लकड़ी मँगाता था, बायबलोस के बंदरगाह से कुछ ऐसी वस्तुएं मिली हैं जिनमें फैरोअ के नाम खुदे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्वी रेगिस्तान में भी चमकीले संगमरमर व ताँबे तथा सोने की खानें थीं।

हम अंत में एक बार फिर पिरामिडों की ओर दृष्टि डालेंगे। गीजा के सबसे बड़े पिरामिड की इमारत में बीस लाख ग्रेनाइट के खंड थे जिनमें प्रत्येक का वजन 2.5 टन था और इसे उठाने के लिए 8 आदमियों की आवश्यकता होती थी। यह पत्थर ऊपरी मिस्र में खुदाई करके निकाला गया और नील नदी में 700 मील तक परिवहन के जरिये लाया गया। इस सारी प्रक्रिया में 20 साल लगे और इसमें हजारों व्यक्तियों का श्रम लगा होगा। राज्य को इस पूरी अवधि के दौरान इन व्यक्तियों के खान-पान का बंदोबस्त करना पड़ा होगा। ऐसा लगता है कि इस पिरामिड भवन के बनाने में राज्य का अधिकांश धन खर्च हो गया होगा। प्रथम मध्यवर्ती युग में अनेक कमजोर राजा हुए, फलतः एशिया के देशों द्वारा आक्रमण और खून-खराबा तथा अराजकता उत्पन्न हुई। मध्यकालीन राजाओं ने प्रशासन में पुनः जान फूँकी लेकिन इसके बाद मिस्र में कोई ऐसी भव्य इमारत नहीं बनी।

चार्ट-2 मिस्र का घटना कालक्रम

3100 से 2686 ईसा पूर्व	प्राग-ऐतिहासिक काल राजवंश I तथा II	अनेक कृषि पर निर्भर गाँवों की स्थापना। ताम्र और काम्य के प्रयोग की जानकारी। सोने का आयात। शिल्प कला में वृद्धि तथा लिखाई कार्य शुरू। पौराणिक राजाओं द्वारा मिस्र के अनेक भागों को एकीकृत करने के लिए युद्ध।
2686से 2181 ईसा पूर्व	प्राचीन राज्य राजवंश III व IV प्रथम मध्यवर्ती काल	मूल पाठ देखें। फैरोअ ने पिरामिड बनाए। मैमफिस राजधानी। .....(आक्रमण व अराजकता का युग)
2050 से 1674 ईसा पूर्व	मध्य राज्य राजवंश XI से XIII तक	थीबीज अब राजधानी बनी। प्रशासन प्रभावशाली। सिनाई, नूबिया, फिलिस्तीन तथा लीबिया के खिलाफ सैनिक अभियान। अनेक साहित्यिक कृतिकों का सृजन हुआ।
.....	द्वितीय मध्यवर्ती युग	.....(एशिया से आए हाइकसोस ने मिस्र पर आक्रमण किया)
1559 से 1085 ईसा पूर्व तक	नया राज्य राजवंश XVIII से लेकर XXI तक	मिस्र में घोड़े का चलन प्रारंभ। कर्नाक, थीबीज और एबीदोज में मन्दिरों का निर्माण। रानी हतशेरसुत द्वारा भेजा गया अभियान दल उत्तरी पूर्वी अफ्रीका समुद्र तट से बंदर, हाथी दाँत, सोना व आबनूस लेकर आया। यह सारा दृश्य उस रानी के स्मृति मन्दिर पर चित्रों में अंकित है। मिस्र की फिलिस्तीन व सीरिया पर विजय। फैरोअ की एशिया की राजकुमारियों से शादी।
.....	III मध्यवर्ती युग	.....लौह युग का प्रारंभ
664 से 332 ईसा पूर्व	अन्तिम युग	राजतंत्र कमजोर। 670 ईसा पूर्व में आइसीरियन का और 520 ईसा पूर्व में अकेमेनिद का आक्रमण। सिक्कों का चलन शुरू।
.....	332 ईसा पूर्व	.....(सिकंदर महान् का आक्रमण)

332 से 30 ईसा पूर्व	टॉलिमेइक युग	यूनानियों का मिस्र पर शासन। यूनान के अनेक व्यापारियों, यात्रियों तथा भाड़े के सैनिकों ने मिस्र के इतिहास में रुचि दिखाई। इसके इतिहास व धर्म के अभिलेख। ईसाई धर्म का प्रसार।
30 ईसा पूर्व से 640 ईसवी तक	रोम तथा बाइजेंटाइन युग	मिस्र द्वारा समस्त रोम राज्य को गेहूँ की आपूर्ति। लगभग 4000 ईसवी के बाद चीजाक्षरी लिपि प्राय: लुप्त इस्लाम का आगमन।

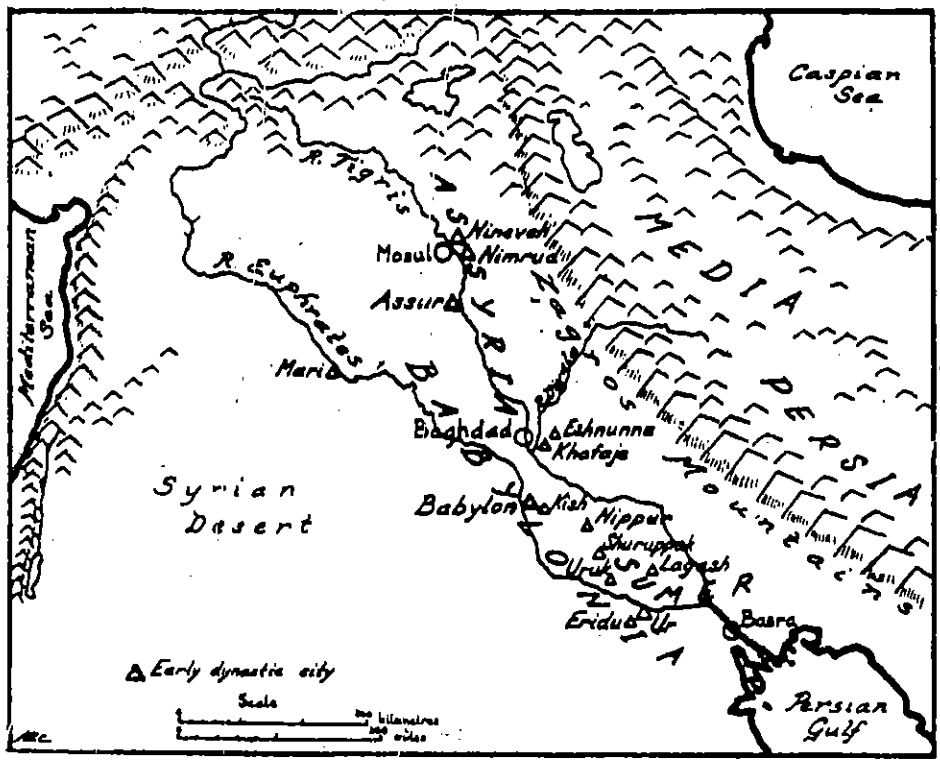

मानचित्र 4

6.6 हड़प्पन शहरों की सभ्यता

जहाँ हमें मिस्र के संबंध में पुरातत्ववेत्ताओं से निवास स्थलों से संबंधित आँकड़े सीमित मात्रा में मिलते हैं व ऐतिहासिक अध्ययन के लिए हमें स्मारकों व दस्तावेजों पर निर्भर रहना पड़ता है वहीं भारतीय उपमहाद्वीप की प्रथम सभ्यता के बारे में विपरीत स्थिति है। यद्यपि हड़प्पा के लोग लिखना जानते थे (पूरे शब्दों को दर्शाने वाले चिह्नों का प्रयोग करके) पर हम उनके लेखों को अब भी पढ़ सकने की स्थिति में नहीं हैं अत: हमें पुरातत्ववेत्ताओं के आँकड़ों पर विश्वास करना पड़ता है। हम पढ़ चुके हैं कि सुमेरियन, मिस्र की और अक्कादी लिपियों की जानकारी केवल द्विभाषिक अभिलेखों व शिलालेखों से ही प्राप्त की जा सकी। इनमें एक ही दस्तावेज को दो (या ज्यादा) भाषाओं या लिपियों में लिखा जाता था जिनमें से एक तो आधुनिक विद्वान जानते थे और फलत: उस अज्ञात युग के बारे में जान सके। अभी तक हमारे पास कोई ऐसा द्विभाषिक शिलालेख नहीं है जिसमें हड़प्पन लिपि और एक कोई अन्य जानी-मानी लिपि और भाषा का इस्तेमाल किया गया है। हड़प्पन अभिलेख छोटे हैं, ये अभिलेख ज्यादातर मुद्राओं पर पाए जाते हैं पर कहीं-कहीं बर्तनों या ताम्र चद्दरों पर भी हैं। शायद हड़प्पा के लोग कपड़े की छाल या अन्य नाशवान पदार्थों पर लिखा करते थे जिन्हें हम कभी भी नहीं जान सकेंगे।

प्राचीन मिस्र और मैसोपोटामिया से दूसरा अंतर यह है कि हड़प्पा की खुदाई में हमें कोई भी मन्दिर या भव्य कब्रें नहीं मिली हैं। हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं कि हड़प्पन संस्कार, (धार्मिक संस्कार) विशेष रूप से बनाई गई पवित्र इमारतों में सम्पन्न नहीं होते थे। (गुप्त काल के शुरू होने तक कोई भी हिन्दू संस्कार कार्य यथावत बने मन्दिरों में सम्पन्न नहीं होते थे)हड़प्पा के लोग मृतक राजाओं के लिए भव्य कब्रों का भी निर्माण नहीं करते थे।

लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या हड़प्पा समाज में कोई राजा थे? हमारा विचार है कि उस समय किसी न किसी प्रकार के शासक हुआ करते थे। पहले खंड में हम सभ्यता व शहरों के जटिल अर्थशास्त्र की चर्चा कर चुके हैं। निम्नांकित पैराग्राफों से आपको पता चलेगा कि हड़प्पन लोगों के शहर भी थे (इन शहरों में अनेक विशेषज्ञ होते थे जो मुद्रा बनाने, धातु के औज़ार बनाने, सीप की चूड़ियाँ बनाने व अलंकृत मालाएँ बनाने का काम करते थे)। इनकी अर्थव्यवस्था या आर्थिकतंत्र सुगठित था (उदाहरण के लिए पूरे हड़प्पा क्षेत्र में तौल की मानकित प्रणाली प्रचलित थी) अपने कानूनों को लागू करने और अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाले शासकों के बिना ऐसी जटिल संस्थाओं का होना संभव नहीं हो सकता था।

अब प्रश्न यह उठता है कि हड़प्पा के राजा कहाँ हैं? अगर उनके मकबरे नहीं है तो क्या महल हैं? मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में दो स्थानों पर की गई खुदाई से (जिनमें से एक या दोनों ही राजधानी मालूम होते हैं) ऐसी कोई एक भी इमारत नहीं मिली है जिसे महल कहा जा सकता है। लेकिन कुछ हड़प्पन बस्तियों में ऐसी विशेषताएँ मिली है जो मिस्र और सुमेर में नहीं थीं।

मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा कुछ छोटी-छोटी बस्तियों में एक ऐसा स्थान है जो शेष स्थलों से भिन्न है और जो कृत्रिम तरह से ऊँचा उठाया हुआ है तथा उसमें दीवारों से घिरी हुई गैर-रिहायशी इमारतें हैं। इन खंडों को किला (दुर्ग) कहा जाता है। मोहन-जो-दड़ो में विशाल स्नानागार, दुर्ग में बड़े-बड़े अनाज गोदाम (खत्ती) तथा खम्भे युक्त हाल हैं, और लोथल के किले में एक बड़ी भण्डारण खत्ती है। कालीबंगन दुर्ग में एक भव्य क्षेत्र था जहाँ अनुष्ठान व संस्कार किए जाते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये सुमेर की सुसज्जित दुर्गों व महलों की ही तरह का एक क्षेत्र था जहाँ राजकीय कार्य (राजकीय अनुष्ठानों सहित) होते थे। फिर भी समस्या इस बात की है कि फिर ये शासक अपने को अलग क्यों रखना चाहते थे, वे अपने सरकारी अहाते या क्षेत्र की घेराबंदी क्यों करवाते थे जबकि उनकी जनता के लिये ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। हमारे पास इसका कोई उत्तर नहीं है, कुछ विद्वानों का सुझाव है कि ऐसा इसलिए होता था क्योंकि ये शासक विदेशी थे, दूसरे यह कि ये दुर्ग युद्ध के समय सुरक्षा की दृष्टि से सबसे सुगम स्थल हुआ करते थे।

जब हम मानचित्र का अध्ययन करते हैं तो हमें दो बड़े-बड़े स्थल मिलते हैं मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा। यहाँ पर गनवेरीवाला भी है और यह उक्त दोनों स्थलों के बराबर ही बड़ा है। लेकिन इसकी अभी खुदाई नहीं कि गई है। हम देखते हैं कि मोहन-जो-दड़ो व हड़प्पा के विपरीत गनवेरीवाला घनी बस्तियों से घिरा हुआ है।

चार्ट-3 उत्तर-पश्चिमी उपमहाद्वीप का घटना कालक्रम

5500 से 3500 ईसा पूर्व	नवप्रस्तर युग या नव पाषण काल	कृषक तथा पशुपालक समुदाय मेहरगढ़ बलूचिस्तान नव तथा सिंधु के मैदानों में पाये जाते हैं। ये गेहूँ, जौ, खजूर, कपास का उत्पादन और भेड़, बकरी और चौपायों (इकाई पाँच देखें) को पालते हैं। मिट्टी के घरों, परिवेशी शैल व कुल्हाड़ियों, बर्तनों, पत्थर के आजारों, पीसने की चक्कियों और हड्डी के औजारों का प्रयोग। मेहरगढ़ में शिल्प उत्पादन—भारी मात्रा में बर्तन निर्माण, समुद्री सीप व फिरोज़ा व नीले रंग के पत्थर के आभूषण मिलने प्रारंभ होते हैं।
3500 से 2600 ईसा पूर्व	प्रारंभिक सिंधु काल	मैदानी तथा पहाड़ी भागों में अनेक बस्तियों की स्थापना। पहाड़ी और मैदानी इलाकों के बीच जनसंख्या व मिट्टी के बर्तनों का अत्याधिक प्रवाह। ताँबे (ताम्र) का प्रयोग शुरू होने के साथ-साथ पहिए और हल का प्रयोग। शेष चीजों में कोई बड़ा प्रौद्योगिक (तकनीकी) बदलाव नहीं। कुछ मुद्राएँ चलन में थी क्योंकि इससे माल के आंदान-प्रदान (विनिमय) को वैधता प्राप्त होती थी। साथ ही इससे असली मालिक का पता चल जाता था। मेहरगढ़ में लोगों के उपभोग हेतु अनाज भण्डार। अनेक बस्तियाँ सुरक्षात्मक दीवारों से घिरी हुई। मेहरगढ़ और रहमान ढेरी बहुत विशाल हैं और अनेक आयतित पदार्थों का उपयोग करते हैं।

सामाजिक विकास की अवस्थाएँ			
	2600 से 1800 ईसा पूर्व	परिपक्व हड़प्पा काल	ऐसे स्थल जहाँ चकमक पत्थर, ताम्र व कांस्य के सामान आकार के औज़ार, 4:2:1 के अनुपात की बड़ी-बड़ी ईंटें, पत्थर की मुद्राएँ, शंख की चूड़ियाँ व कड़े, बड़ी-बड़ी मालाएँ तथा सेलखड़ी के मनकों की छोटी मालाएँ, पत्थर के बाट, पत्थर की मुद्राएँ मिली हैं। शहरी व्यवस्था और नालियों के अवशेष आदि भी मिलते हैं। ये अवशेष मध्य सिंध मैदानों; सिंध (पाठ देखें), सतलुज और जमुना के बीच, कच्छ, काठियावाड़, समुद्र तटीय दक्षिण गुजरात, ऊपरी चिनाब उत्तरी अफगानिस्तान तथा मकरान समुद्र तट पर मिले हैं।
	1800 ईसा से लेकर आगे तक	क्षेत्रीय संस्कृतियाँ व सभ्यताएँ	हड़प्पा के कई स्थलों का परित्याग कर दिया गया, कोई विदेशी व्यापार नहीं। सिंध, निचला पंजाब, सतलुज – जमुना दोआब व गुजरात में अंतर्क्षेत्रीय विनिमय घट गया और स्थानीय संस्कृतियों का ह्रास हुआ। लेखन कार्य व शहरी जीवन अस्त-व्यस्त। कुछ मुद्राएँ या तौल। ताम्र व कांस्य का प्रयोग। शिल्पकारी बहुत ही कम तथा निम्न कोटि की।

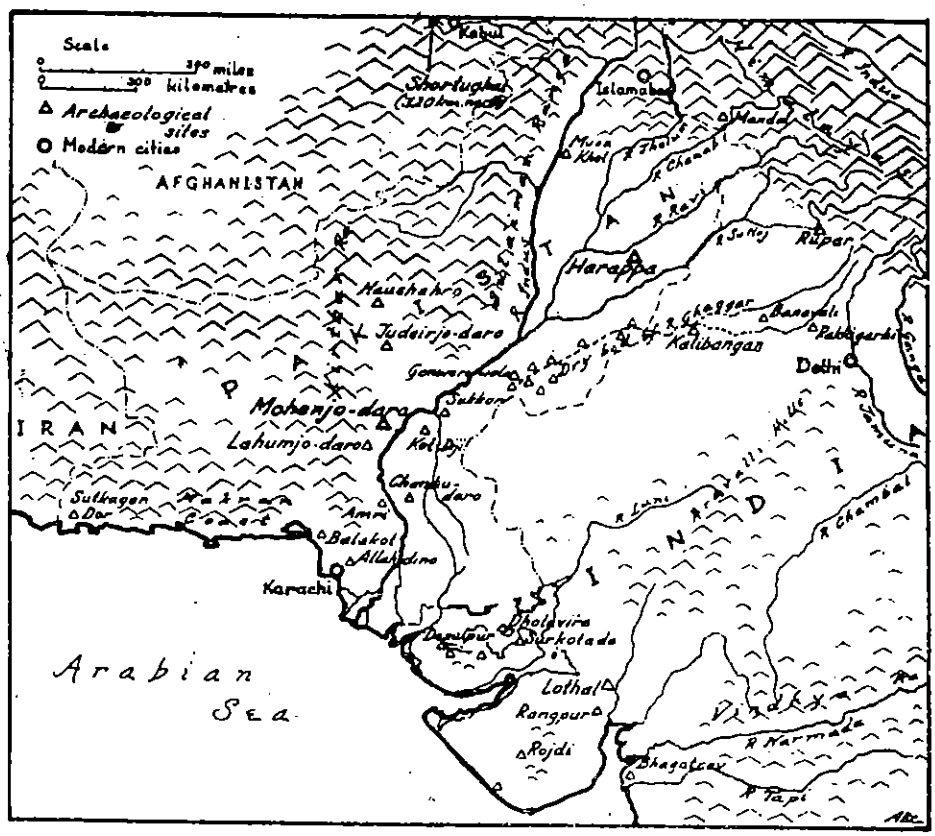

मानचित्र 5

मानचित्र से यह स्पष्ट है कि हड़प्पा की सभ्यता का प्रमुख क्षेत्र सरस्वती नदी के किनारों पर केंद्रित थी। तीसरी सहस्राब्दी में सरस्वती ही सिंधु की प्रमुख सहायक नदी रही होगी। हम देखते हैं कि पंजाब की तुलना में सिंध में तथा काठियावाड़ की तुलना में कच्छ में अधिक बस्तियाँ हैं। मकरान, दक्षिण गुजरात के समुद्रतटीय मैदानी इलाकों, ऊपरी चिनाब तथा सतलुज नदियों, बलूचिस्तान तथा उत्तरी अफगानिस्तान में भी कुछ दूरवर्ती बस्तियाँ पाई जाती हैं।

हड़प्पा के लोगों ने अपनी बस्तियों का विस्तार क्यों किया? मालूम होता है कि इसके आर्थिक कारण रहे होंगे। उदाहरण के लिए, सिंधु से काफी दूर पर स्थित शार्टुघाई की बस्तियाँ एशिया के उन क्षेत्रों के नजदीक हैं जहाँ पर लेपिस लोजुली नामक एक नीला कीमती पत्थर (रत्न) पाया जाता है। माँडा और रोपड़ ऐसी जगहों पर स्थित हैं जहाँ क्रमशः चिनाब और सतलुज में

नौपरिवहन सहज हो जाता है। शायद पहाड़ के ऊपरी हिस्सों में अच्छी इमारती लकड़ी प्राप्त की जाती थी और उसे इन नदियों द्वारा सिंधु घाटी के केन्द्रीय भाग में भेजा जाता था। भागत्रव पश्चिमी घाटों के सागौन के जंगलों के पास है। मकरान के बंजर समुद्र तट के किनारे पर दो ऐसे स्थल मिलते हैं जो संभवत: पश्चिमी भारत और सिंध में मानसून के समय आने वाले तूफानों से प्रभावित तटों से अधिक सुरक्षित बंदरगाह का काम करते थे।

हड़प्पन लोगों को बंदरगाहों की आवश्यकता थी क्योंकि उनका मैसोपोटामिया के साथ बहुत ज्यादा व्यापार था। मैसोपोटामिया की पुस्तकों में मेलुहा नामक एक ऐसी काली भूमि का वर्णन है जहाँ मोर अधिक संख्या में मिलते थे तथा जहाँ से सोना, नीला पत्थर (लेपिस लेजुलि) और सुन्दर-सुन्दर इमारती लकड़ी आती थी। केवल भारतीय समुद्री पानी में पाए जाने वाले शंख, घोंघे, हड़प्पा की मुद्राएँ तथा व्यापार में उपयोग में आने वाले बाट तथा विशिष्ट हड़प्पा शैली में अलंकृत पत्थर की मालाएँ सुमेर में अनेक स्थलों पर 2600 से 1800 ई.पू. के पाई गई। सुमेर की कुछ व्यापारिक पुस्तकों में इस बात का वर्णन मिलता है कि व्यापारी समुद्र के रास्ते आते-जाते थे। सुमेर मुख्यत: अनाज, तेल, कपड़ा तथा चाँदी का निर्यात करता था। मोहन-जो-दड़ों में कुछ ऐसे अच्छी किस्म के चाँदी के बर्तन मिले हैं जिन्हें सुमेर से आयातित किया जाता था। सुमेरियन लोग स्वयं तुर्की से चाँदी का आयात करते थे और फिर इसका निर्यात करते थे।

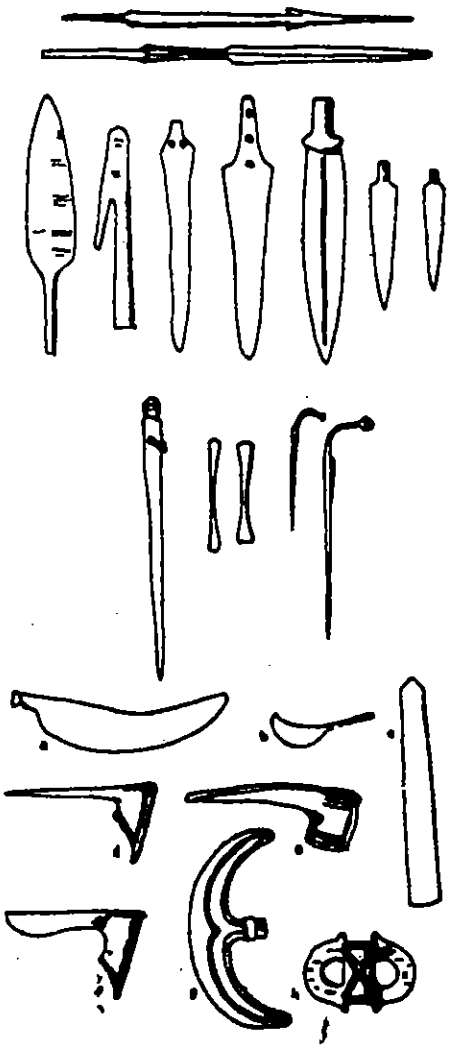

12. ऊर से प्राप्त ताँबे और काँसे के औजार

हड़प्पा के शहर सुमेर के शहरों जितने बड़े नहीं थे लेकिन जहाँ एक ओर सुमेरियन शहर धीरे-धीरे विकसित हुए और गैर-नियोजित थे, वहीं कई हड़प्पा के शहरों व कस्बों को ग्रिड योजना के आधार पर बनाया गया था। इन शहरों व कस्बों में बड़ी तथा छोटी गलियाँ व रास्ते नियमित रूप से एक दूसरे को पार करते थे और इस प्रकार अपने मध्य इमारतों (भवनों) का एक चतुर्भुज-सा ब्लॉक बना देते थे। हालाँकि मोहन-जो-दड़ो को बसने में सदियाँ लगीं फिर भी कस्बों के नक्शे व योजना लगभग समान रही और यह केवल इस काल के अन्त में कुछ बदली। हम यह

भी पाते हैं कि कस्बों की सभी इमारतों के लिए वही एक से आकार वाली ईंटों का प्रयोग किया जाता था। इससे पता चलता है कि अपना घर बनाने वाले व्यक्तिगत तौर पर ईंटों का निर्माण नहीं करते थे। ईंटें बड़े स्तर पर एक साथ बनाई जाती थीं। इसी तरह मोहन-जो-दड़ो जैसे शहरों में सफाई का काम भी व्यक्ति विशेष पर नहीं छोड़ा जाता था बल्कि अनेक घरों से कूड़े-कचरे को साफ करने के लिए नालियों की व्यवस्था थी। कस्बों की योजनाएँ व गलियों की नालियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शहरी लोगों को आधारभूत सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं।

हम पाते हैं कि अधिकांश हड़प्पा के स्थलों में एक जैसी प्रौद्योगिकी का प्रयोग मिलता है यद्यपि यह प्रौद्योगिकी सरल है : लम्बे-लम्बे पत्थर (केवल सिंध में पाए जाने वाले चकमक पत्थर से निर्मित) ताँबे या काँसे के औज़ार जैसे कुल्हाड़ी या मछली पकड़ने का काँटा या पत्थर काटने के औज़ार, पहिएदार गाड़ी तथा मिट्टी के बहुत भारी-भारी तथा मजबूत बर्तन आदि इन सबसे हमें पता लगता है कि हड़प्पा के लोग प्रौद्योगिक रूप से ज्यादा उन्नत नहीं थे (उदाहरण के लिए उनका धातु का काम उतना उन्नत नहीं था जितना सुमेर का) लेकिन उनके संसाधन व श्रम बहुत ही व्यवस्थित थे, इसीलिए औज़ार, आभूषण, मौलिक घरेलू उपकरण एक स्थान पर बनाए जाने पर भी सभी गाँवों तथा शहरों में वितरित किए जाते थे। यहाँ तक कि गुजरात के लोगों को भी भेजे जाते थे जहाँ काँस्य संबंधी कार्य और शहरी जीवन, कृषि (खेती) की पहले से कोई परम्परा नहीं थी।

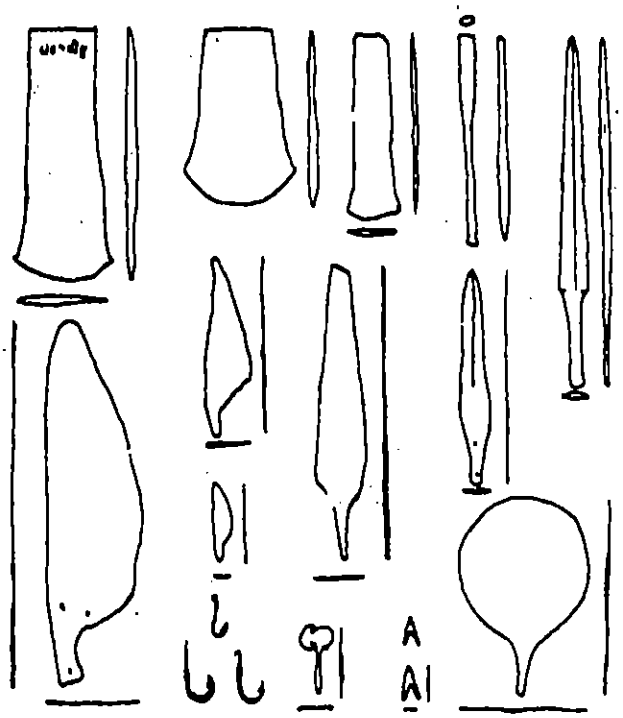

13. मोहन-जो-दड़ो के औज़ार और हथियार

सुमेर और मिस्र की सभ्यताएं 2000 से ज्यादा वर्षों तक शासन करने वाले राजवंशों के उतार-चढ़ाव को देख सकीं पर हड़प्पा की सभ्यता तो 600 वर्षों के बाद ही नष्ट हो गई। अनेक बस्तियाँ (बड़े-बड़े शहर तथा छोटे-छोटे गाँव समान रूप से) उजड़ गईं। लेखन पद्धति अपरिचित हो गई। धातुकर्म की प्रौद्योगिक परम्परा, मुद्रा-कटाई, माला-बनाने का काम प्राय: समाप्त हो गया। ऐसा लगता है कुछ लोग सरस्वती नदी की ओर चले गए और उन्होंने वहाँ नए गाँव बसा लिए। सिंध में हड़प्पा के स्थलों को भिन्न संस्कृति के लोगों ने आबाद किया। गुजरात में कुछ बस्तियाँ वैसी ही बनी रहीं। लेकिन वहाँ विदेशी या देशी व्यापार बहुत कम हो गया, हड़प्पन बाट व तौल प्रणाली का प्रचलन खत्म हो गया। इन शहरों में अब कोई नहीं रहता था।

इस अवनति के कारण अभी भी रहस्य बने हुए हैं। क्या प्राकृतिक विपदाओं की वजह से अर्थव्यवस्था प्रभावित हुई या इनसे जनसंख्या में कमी आई? क्या कृषि इतनी अविकसित थी कि वह लम्बे समय तक व्यापारिक अर्थव्यवस्था को सहारा नहीं दे सकती थी? या क्या यह कहा जा सकता है कि लोगों की राज्य व्यवस्था पर अत्याधिक निर्भरता की वजह से ऐसा हुआ, शासक वर्ग की अवनति के साथ-साथ शहरी प्रशासन, व्यापारिक तंत्र तथा प्रौद्योगिक परम्पराओं में भी गिरावट आई। इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विद्वान अभी कोशिश कर रहे हैं?

बोध प्रश्न 2

1 प्राचीन मिस्र की सभ्यता तथा धारणाओं के बारे में हमें पिरामिडों से क्या जानकारी मिलती है? टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 हड़प्पा के शहरों की मुख्य विशेषताओं के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.7 सारांश

कृषि के विकास के साथ जल्दी ही लोगों के रहने में स्थिरता आई और इसके परिणामस्वरूप मैसोपोटामिया, मिस्र तथा हड़प्पा की नदी घाटी सभ्यताओं का उदय व विकास हुआ। फिर भी व्यवस्थित कृषि व सभ्यता के विकास में कोई निश्चित संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। सभ्यता के साथ ही राजतंत्र स्थापित हुआ, राजनीतिक पद्धति अधिक समन्वित हो गई और जनजातियों तथा अन्य समुदायों में संबंध सुदृढ़ हुए, इसके अलावा शहरी सभ्यता व संस्कृति भी विकसित हुई। इस युग में व्यापार का विस्तार हुआ, लिखने की परम्परा का विकास हुआ और शिल्पकारी, धर्म, संस्कृति, प्रशासन तथा अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में विशेषज्ञों का पदार्पण हुआ। यह बात मैसोपोटामिया, मिस्र और हड़प्पा की सभ्यताओं से स्पष्ट हो जाती है। इन सभ्यताओं ने कला, वास्तुकला तथा संस्कृति व सभ्यता को बढ़ाया। स्मारक मन्दिर, सुमेरियन राजाओं के महल तथा हड़प्पा के दुर्ग इस बात के प्रमाण हैं। लिखने, पुस्तक सुरक्षित रखने तथा परिवहन की नई प्रौद्योगिकियों का विकास हुआ। इससे अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिला। इन नदी घाटियों से सिंचाई, नौपरिवहन तथा व्यापार को भी बढ़ावा मिला। इससे आर्थिक समानता आई। फलतः राजाओं के शक्तिशाली राजवंश तथा एक पल्लवित सभ्यता का उदय हुआ। ये सभ्यताएँ भी आगे चलकर समाप्त हो गईं; इनके नष्ट होने के कारणों का मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है।

6.8 शब्दावली

सहस्राब्दि (Millennium) : एक हज़ार वर्ष

अभिलेख (Inscription) : दीवारों और खंभों पर उभरी हुई (embossed) लिखावट

चित्रलिपि (Hieroglyph) : चित्रों के रूप में लेखन। प्राचीन काल में लिपि चिह्नों के रूप में अक्षरों की जगह चित्रों का इस्तेमाल किया जाता था

कालानुक्रम (Chronology) : काल खंडों की गणना करने वाली वैज्ञानिक पद्धति।

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 1.2 देखें
2) ग
3) ख
4) भाग 1.4 देखें
5) ग

बोध प्रश्न 2

1) भाग 1.6 देखें
2) भाग 1.8 देखें

इकाई 7 सामंतवादी समाज

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 दासप्रथा
  7.2.1 भारतीय संदर्भ में दासप्रथा
  7.2.2 दासप्रथा : कृषि दासता एवं कृषक समाज
7.3 सामंतवाद की ओर संक्रमण
  7.3.1 सामंतवाद के संबंध में हेनरी पीरेन का दृष्टिकोण
  7.3.2 मार्क ब्लॉक का मत
  7.3.3 सामंतवाद पर पेरी एंडरसन के विचार
7.4 सामंतवादी व्यवस्था का विकास
  7.4.1 सामंतवादी व्यवस्था के अंतर्गत श्रम के रूप
  7.4.2 सामंतवादी उत्पादन प्रणाली
  7.4.3 स्वामियों का वर्ग
7.5 सामंतवादी अर्थव्यवस्था की गतिशीलता
  7.5.1 जनसंख्या में वृद्धि
  7.5.2 व्यापार और शहरीकरण
  7.5.3 नई अर्थव्यवस्था का विकास
7.6 सामंतवाद का पतन
  7.6.1 श्रमिकों का अभाव
  7.6.2 कृषक-विद्रोह
7.7 सामंतवाद : भारतीय संदर्भ
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 बोध-प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको दासप्रथा के संबंध में बहुत ही संक्षिप्त जानकारी देना है। इसके बाद हम यूरोप और भारत के संदर्भ में सामंतवाद का विस्तृत विवेचन करेंगे। इस इकाई का अध्ययन कर लेने पर आप :

- दासता और इसके विभिन्न रूपों को समझ सकेंगे,
- यूरोप में सामंतवाद के उदय से संबंधित विभिन्न धारणाओं को जान सकेंगे,
- सामंतवाद एवं सामंतवादी समाजों के मुख्य लक्षणों को समझ सकेंगे,
- सामंतवाद को गतिशीलता प्रदान करने वाली संस्थाओं की प्रकृति तथा सामंतवाद के पतन के कारणों को जान पाएँगे, और
- भारत में सामंतवाद की प्रकृति को समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

असीरिया, मिस्र, बेबीलोनिया तथा सिंधुघाटी की सभ्यताएँ दासता की अर्थव्यवस्था पर आधारित नहीं थीं क्योंकि इनमें लोगों को चल-संपत्ति के संबंध में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं थी।

सर्वप्रथम यूनान में दासप्रथा को उत्पादन के व्यवस्थित साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया। रोम के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने के अन्य साधनों की तुलना में दासप्रथा कहीं श्रेष्ठ साधन थी। दास श्रमिकों को रखने का सबसे बड़ा लाभ यह था कि वे सैन्य-सेवा से मुक्त होते थे। दासता के तीन आधारभूत तत्व थे:

1 दास को संपत्ति माना जाना

2 स्वामी का दास पर पूर्ण अधिकार और नियंत्रण
3 दास का निपट अकेला, बंधु-बांधव हीन होना

यूनान और रोम देशों में दास व्यापार और युद्ध के जरिये आते थे। उत्पादन के साधन के रूप म दासप्रथा काफी अर्से तक कायम रही। बीच-बीच में इसके खिलाफ थोड़े-बहुत विद्रोह अथवा इसमें सुधार होते रहे। किंतु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आया। जब बड़े-बड़े युद्धों द्वारा विजय हासिल करना संभव नहीं रह गया तो दास मिलना भी कम हो गया। जो दास थे वे अब खेतों मे कृषिदासों के रूप में अथवा घरेलू दासों के रूप में रहने लगे। अब दास-प्रथा पर आधारित उत्पादन-प्रणाली का स्थान सामंतवाद ने ले लिया।

जिसे आज के इतिहासकार सामंतवादी समाज कहते हैं उसका आरंभ ईसा की पाँचवीं शताब्दी से होने लगा था। किन्तु इसके लिए "सामंतवादी" शब्द का प्रयोग नवीं सदी के अंत तक आरंभ हुआ। यह बात बड़ी दिलचस्प है कि सामंतवादी समाज के व्यवस्थित अध्ययन का आरंभ अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ही हुआ।

अब विद्वानों का ध्यान उन घटकों के विश्लेषण की ओर गया जिनके कारण सामंतवादी समाज का उदय हुआ था। इसके उद्भव के संबंध में विभिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किए गए।

सामंतवाद के उदय के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था का ग्रामीणीकरण हुआ, कृषि के क्षेत्र में नई प्रौद्योगिकी का प्रवेश हुआ तथा कामगारों के एक नये वर्ग—कृषिदासों के वर्ग—का उदय हुआ। कृषिदासों की स्थिति निराली थी। ये न तो प्राचीनकाल के दासों की भाँति उत्पादन के साधनों से पूर्णतया अलग थे, न ही उन्हें इन साधनों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त था। इनकी स्थिति प्राचीन काल के दासों एवं पूँजीवादी औद्योगिक युग के स्वतंत्र श्रमिक के बीच की थी। कृषिदास एवं जमींदार के पारस्परिक संबंधों में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की एक विस्तृत व्यवस्था विद्यमान थी।

यूरोप के सामंतवादी समाज में गतिशीलता थी। कृषि में विस्तार के साथ ही भोजन के उत्पादन में वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप जनसंख्या में वृद्धि हुई तथा पनचक्कियों एवं पवन-चक्कियों की प्रौद्योगिकियों का आविष्कार हुआ। बढ़ी हुई जनसंख्या यूरोप के सुदूर भागों में फैल गई और उसने वहाँ जंगल साफ कर कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया। इस प्रक्रिया में पहल करने वाले छोटे कृषक ही थे। भू-स्वामी भी कृषिदासों को एक प्रकार का शुल्क लेकर मुक्त करने लगे। इस प्रकार स्वतंत्र हुए दास अब कृषक बन गए किन्तु चूँकि कृषि में भी पूँजी लगाने की आवश्यकता थी अतः इनमें से केवल कुछ ही कृषकों के रूप में सफल हुए। अधिकांश तो अपनी उधार ली हुई पूँजी भी गँवा बैठे। सामंतवादी अर्थव्यवस्था में ये सब तत्व विद्यमान नहीं थे और यहीं से आरंभ हुई पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था।

विद्वानों के अनुसार भारत में सामंतवाद तब पनपा जब व्यापार में कमी आई तथा मुद्रा का अभाव हो गया। परिणामस्वरूप राज्य की ओर से ब्राह्मणों एवं अधिकारियों को भूमि दी गई ताकि आर्थिक विकास हो सके। इन ब्राह्मणों एवं अधिकारियों के वर्गों ने कृषकों को अपने अधीन कर लिया तथा अपने नियंत्रण में उनसे अपनी भूमि पर कृषि कराने लगे। इस प्रकार सामंतवादी संबंधों में वृद्धि हुई। विद्वान इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं कि क्या वास्तव में भारत में कभी सामंतवाद का अस्तित्व रहा है?

7.2 दासप्रथा

इसके पहले कि हम सामंतवाद का विस्तार से अध्ययन करें यह उचित होगा कि दासप्रथा पर एवं उत्पादन के साधन के रूप में दासप्रथा पर एक दृष्टि डाल ली जाये। इससे हमें यह समझने में सहायता मिलेगी कि कैसे धीरे-धीरे दासप्रथा सामंतवाद की ओर अग्रसर हुई।

आमतौर पर दासता की व्याख्या एक ऐसी व्यवस्था के रूप में की जाती है "जिसमें एक व्यक्ति अस्वाभाविक रूप से किसी अन्य व्यक्ति की शक्ति के अधीन रहता है" दासता के संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि दास को उसके स्वामी की "वस्तु" अथवा "संपत्ति" माना जाता था। दासप्रथा वाले समाज में दास को लगभग एक "वस्तु" ही माना जाता था। यूनानी दार्शनिक अरस्तू दास को "आत्मायुक्त वस्तु" कहते थे। दास और स्वामी के बीच किसी प्रकार रिश्तेदारी का संबंध अथवा औपचारिक समझौते का संबंध नहीं होता था। इस संबंध का आधार होता था दास परिवार में जन्म लेना, ऋण के कारण किसी का दास हो जाना अथवा दासता की अन्य परिस्थितियों में पड़ जाना जैसे कि युद्ध में बंदी होकर दास बना दिया जाना इत्यादि। दास को अपने कार्य का चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं होती थी।

यों तो दासप्रथा किसी न किसी रूप में सभी मानव-समाजों में रही है किन्तु संख्या एवं महत्व की दृष्टि से यूनानी व रोमन समाज ही इसके सबसे बड़े पोषक रहे हैं। इन समाजों में दासप्रथा ने एक संस्था का ही रूप धारण कर लिया था जिसका कार्य था दासता पर आधारित श्रम का बड़े पैमाने पर नियोजन करना। ये बड़ी सभ्यताएँ अंततः उत्पादन की दासता-आधारित प्रणाली पर ही खड़ी थीं। यूनान और रोम की शहरी संस्कृति का उत्थान और पतन दास प्रथा के उत्थान और पतन से जुड़ा हुआ था। ये समाज दास श्रमिकों पर इतने अधिक निर्भर थे कि इनका नाम ही दास-समाज पड़ गया।

दास-श्रम का महत्व इसके परस्पर विरोधी तत्वा म निहित हैं :

1) यह मनुष्य श्रम को उस हीन स्थिति तक पहुँचा देता है जहाँ मनुष्यों को उत्पादन के ऐसे जड़ साधन के रूप में बदल दिया जाता है जिनके कोई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार नहीं होते। यहाँ तक कि रोमन कानून के अंतर्गत कृषि दास को "बोलने वाला उपकरण" बताया गया है।

दास-प्रथा का विकास श्रम-प्राप्ति के एक अत्यत दमनकारी साधन के रूप में हुआ। इसके अंतर्गत मनुष्य अपने श्रम को नहीं अपितु अपने आपको ही बेचता था। उसे बाजारों में वस्तुओं की भाँति खरीदा और बेचा जाता था तथा उसका स्वामी उससे जो चाहे कार्य ले सकता था। आमतौर पर दासों को यातायात, खनन, निर्माण एवं कृषि-कार्यों में लगाया जाता था।

2) दास-श्रम पर आधारित उत्पादन-प्रणाली ने अतिरिक्त उत्पादन को जन्म दिया। परिणाम यह हुआ कि शासक-वर्ग तो भोग-विलास और आराम का जीवन व्यतीत करते थे जबकि दास दुखों से पूर्ण अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य थे। कभी-कभी दास अपने साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह भी कर दिया करते थे। अक्सर वे मालिकों के चंगुल मे निकल भागने की कोशिश भी करते थे। पकड़ जाने पर उन्हें कड़ा दंड दिया जाता था।

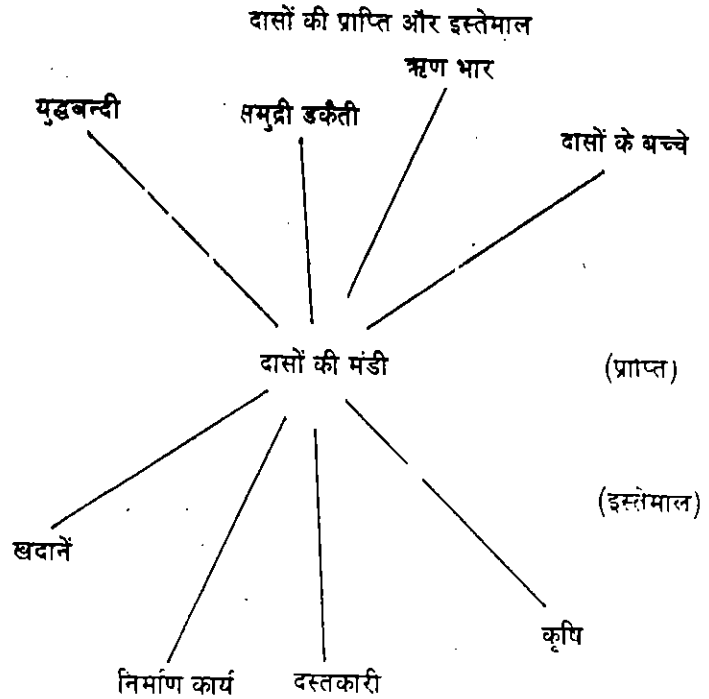

7.2.1 भारतीय संदर्भ में दास-प्रथा

प्राचीन भारत में भी दास-प्रथा विद्यमान थी। दासों की कई श्रेणियाँ होती थीं जो इस बात पर आधारित थीं कि उन दासों को किस प्रकार प्राप्त किया गया है उदाहरण के लिए कुछ तो दासों की संतान होने के कारण जन्म से ही दास होते थे, कुछ को खरीदा जाता था, कुछ युद्ध बंदियों के रूप में आते थे तो कुछ जुए में सर्वस्व गँवा कर दास बन जाते थे। कुछ दास भेंट-स्वरूप भी प्राप्त होते थे। चित्र में दासों की विभिन्न श्रेणियाँ दर्शायी गयी हैं।

दासों से प्रायः घरेलू नौकरों अथवा कृषि-श्रमिकों का काम लिया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भारत में दास-प्रथा प्रचलित थी किन्तु साथ ही

अर्थशास्त्र में भी विस्तृत निर्देश है कि दासों के कार्य करने की परिस्थितियाँ कैसी हों, यहाँ तक कि उसमें दासों की मुक्ति की शर्तों का भी उल्लेख है उदाहरण के लिए यदि कोई दासी अपने स्वामी के बच्चे को जन्म देती है तो उसे स्वतंत्र माना जाये। इसी प्रकार कोई दास अलग श्रम करके धन अर्जित कर सकता था। ऐसा भी हुआ है कि दासों ने शुल्क चुका कर अपनी स्वाधीनता को फिर से पा लिया। वास्तव में भारत में दास-प्रथा कभी उत्पादन के साधन के रूप में विकसित नहीं हुई। सिल्यूकस का राजदूत, मेगस्थनीज चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। उसका कहना था कि भारत में कोई दास नहीं है। इसका कारण यह था कि यूरोपीय देशों तथा भारत की दास-प्रथा में इतना अंतर था कि मेगस्थनीज यहाँ विद्यमान दास-प्रथा को पहचान ही नहीं पाया।

7.2.2 दास प्रथा : कृषि-दासता एवं कृषक समाज

दासता का अर्थ है एक या अनेक व्यक्तियों का दूसरों के प्रति पूर्णरूपेण अधीन होना तथा इसमें व्यक्ति अपने समस्त अधिकार एवं स्वाधीनता खो देता है। कृषि-दासता दूसरों की अधीनता की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति न तो प्राचीन काल के दासों की भाँति स्वामी की संपत्ति होता है न ही औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था के मजदूरी कमाने वाले श्रमिक की भाँति स्वतंत्र होता है। कृषिदासता प्राचीन दासप्रथा एवं आधुनिक स्वतंत्र श्रमिक के बीच की स्थिति पर आधारित है। कृषि समाज वह समाज है जिसमें अधिकांश जनसंख्या कृषि पर आश्रित होती है। इसमें हर व्यक्ति के पास थोड़ी-सी भूमि होती है तथा घर के सदस्य ही श्रमिक होते हैं और अतिरिक्त उत्पादन के उपभोक्ता भी।

दास प्रथा और कृषि-दासता सामाजिक संरचना के दो प्रकार मात्र नहीं हैं अपितु ये दोनों सामाजिक विकास के इतिहास में दो विभिन्न चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दासप्रथा की विशेषता यह थी कि इसमें दास उत्पादन का मुख्य साधन था जबकि कृषिदास, जिसका संबंध सामंतवादी व्यवस्था से था, उस व्यवस्था में उत्पादन का साधन आंशिक रूप से ही था। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में दासता पहले की तथा कृषि-दासता उसके बाद की स्थिति रही है।

दासता से कृषि-दासता की ओर समाज की यह विकास प्रक्रिया क्रमिक रही है। जब रोम में विजयों का सिलसिला बंद हुआ तो नये सिरे से दासों का आना भी बंद हो गया। इसके परिणामस्वरूप उस समाज में दासों की स्थिति में सुधार हुआ। समाज के भीतर भी दासों की खरीद-फरोख्त बंद हो गयी क्योंकि प्रत्येक परिवार चाहता था कि उसके दास परिवार में ही बने रहें। इसका नतीजा यह हुआ कि दासों में भी अपने स्वामियों के परिवारों एवं भू-संपत्ति के प्रति लगाव उत्पन्न हो गया। कम दास उपलब्ध होने के कारण स्वतंत्र श्रमिकों का पुनर्वास संभव हुआ। कारीगरों एवं जन सेवकों जैसे स्वतंत्र लोग समाज में सदा ही रहते आये थे। कभी-कभी वे खेतिहर मजदूरों के रूप में भी कार्य करते थे।

राज्य का पुनर्गठन कुछ इस प्रकार हुआ कि व्यवसाय और सामाजिक हैसियत एक प्रकार से वंशानुगत हो गए। यह व्यवस्था बहुत कुछ भारतीय वर्ग व्यवस्था की भाँति थी। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि समाज का स्वतंत्र व्यक्ति भी अब उतना स्वतंत्र नहीं था क्योंकि अब उसे व्यवसाय चुनने की वैसी स्वतंत्रता नहीं थी। दास और स्वतंत्र व्यक्ति के बीच अब कम अंतर रह गया था। धीरे-धीरे दास, स्वतंत्र घरेलू सेवक तथा कारीगर श्रमिक सभी कृषिदास हो गए। इस प्रकार दासता, कृषि-दासता एवं कृषक समाज, समाज के गतिशील सामाजिक-ऐतिहासिक विकास के परिचायक हैं।

बोध प्रश्न 1

1 दासप्रथा एवं दासता पर आधारित उत्पादन-प्रणाली में आप क्या अंतर समझते हैं? लगभग पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

2 लगभग पांच पंक्तियों में लिखिए कि दासप्रथा से कृषि-दासता की ओर समाज किस प्रकार अग्रसर हुआ?

7.3 सामंतवाद की ओर संक्रमण

1887 में बूनर नामक जर्मन इतिहासकार ने सैन्य पहलुओं पर बल देते हुए कहा कि सामंतवाद के उदय का संबंध घोड़े की लगाम से है। उसका तर्क था 733 ईसवी में तत्कालीन फ्रांसीसी (फ्रांस तब गॉल नाम से जाना जाता था) बादशाह चार्ल्स मार्तेल ने युद्ध में पेरिस के निकट अरबों को करारी मात दी थी किन्तु वह भागते हुए अरबों को इसलिए नहीं पकड़ पाया कि वे द्रुतगामी घोड़ों पर सवार थे जबकि मार्तेल के पास पैदल सेना ही थी। मार्तेल ने अनुभव किया कि उसकी सेना मे घुड़सवार टुकड़ी का होना बहुत आवश्यक है। इसके लिए अधिक संसाधनों की आवश्यकता थी। उस जमाने में भूमि ही प्रमुख संसाधन मानी जाती थी। अत: बादशाह ने उन लोगों अथवा संस्थाओं से भूमि लेना आरंभ कर दिया जिनके पास भूमि बहुत अधिक थी। अधिक भूमि रखने वालों में चर्च प्रमुख था किन्तु भूमि प्राप्त कर लेने से ही मार्तेल की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। मध्यकालीन यूरोप में संपदा की तो कमी नहीं थी किन्तु वहाँ व्यापार में कमी के कारण मुद्रा प्रचलन का अभाव था। मार्तेल ने घुड़सवार सेना रख तो ली थी किन्तु सैनिकों को वेतन देने के लिए उसके पास धन नहीं था। अत: धन के बदले उसने सैनिकों को भूमि ही देना आरंभ कर दिया। बूनर के अनुसार यहीं से सामंतवाद का उदय हुआ।

बूनर की इस स्थापना के पक्ष और विपक्ष में लंबे समय तक बहस चली। इस स्थापना का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह हजार साल से अधिक चली आने वाली विशाल सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक संस्था के उद्भव और विकास का श्रेय घोड़े की लगाम जैसी सामान्य वस्तु को देती है।

7.3.1 सामंतवाद के संबंध में हेनरी पीरेन का दृष्टिकोण

इस बीच सामंतवादी समाज की संकल्पना विकसित होती रही तथा इसमें सैन्य पहलू के अतिरिक्त और पहलू भी जुड़ते गए। 1920 और 1930 के बीच बेल्जियन इतिहासकार हेनरी पीरेन ने सामंतवादी व्यवस्था को उसके आर्थिक पक्ष के संदर्भ में देखा। हेनरी का विचार था कि प्राचीन कालीन यूरोप की सबसे बड़ी विशेषता थी उसकी शहरी अर्थव्यवस्था जिसका आधार था दूर-दराज में देशों से व्यापार। इस व्यापार को वह "**शानदार व्यापार**" कहता था। दूरस्थ देशों के साथ यूरोप का यह "शानदार व्यापार" इसलिए संभव हो सका कि भूमध्य सागर में नौवहन काफी सस्ता था। सातवीं शती के अंत और आठवीं के आरंभ में अरबों के यूरोप पर आक्रमणों के साथ यह स्थिति बदल गई। भूमध्यसागर के कई महत्वपूर्ण स्थानों जैसे पश्चिमी प्रवेशद्वार जिब्राल्टर, सागर के ठीक बीचों बीच सार्डीनिया तथा पूर्वी प्रवेशद्वार ऐलेक्जेड्रिया अब अरबों के नियंत्रण में थे। नौवहन के इन महत्वपूर्ण स्थानों पर विदेशी नियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि दूरस्थ देशों के साथ यूरोप का व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया तथा यूरोपीय अर्थव्यवस्था स्थानीय व्यापार एवं ग्रामीण संसाधनों पर आश्रित होकर रह गई। इसे हेनरी पीरेन ने "**बंद संपदा अर्थव्यवस्था**" (closed estate economy) का नाम दिया। ग्यारहवीं शती में ईसाई धर्म-योद्धाओं ने अरबों को जिब्राल्टर और सार्डीनिया से खदेड़ दिया। परिणामस्वरूप फिर से सुदूर क्षेत्रों से व्यापार का आरंभ हुआ और यूरोपीय अर्थव्यवस्था का शहरी रूप पुन: लौट आया। इसके साथ ही सामंतवाद का पराभव हो गया। इस प्रकार पीरेन ने सामंतवाद और व्यापार के बीच द्वन्द्व-विभाजन (dichotomy) दर्शाया। यूरोपीय इतिहासकारों में इस बात को लेकर बहस बंद हो चुकी है किन्तु विश्व के अनेक भागों के इतिहासकार अब भी इससे प्रभावित हैं। इसमें भारतीय इतिहासकार भी शामिल हैं।

7.3.2 मार्क ब्लॉक का मत

महान फ्रांसीसी इतिहासकार मार्क ब्लॉक ने सामंतवाद का विशद विश्लेषण किया। इस विश्लेषण में सभी पक्षों पर विचार किया गया। ये पक्ष हैं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक नैतिक और साथ ही राजनीतिक-प्रशासनिक भी। उसने इस बात पर गौर किया कि यूरोप अनेक प्रकार के आक्रमणों का शिकार रहा। पाँचवीं शती में जर्मन कबीलाइयों के आक्रमण ने रोमन साम्राज्य के भव्य

प्रासाद को ध्वस्त कर दिया। इसके बाद ही अरबों के आक्रमण आरंभ हो गए। अरबों के बाद आक्रमण करने वाले थे हंगरी के मैग्यार लोग। आक्रमणों की इस शृंखला की परिणति हुई दसवीं शती के स्केंडीनेवियन आक्रमणों में। इन हमलों ने जहाँ यूरोप में एक ओर असुरक्षा की भावना उत्पन्न की, वहीं दूसरी ओर वहाँ की अर्थव्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न कर डाला। परिणामस्वरूप मध्ययुगीन पश्चिमी यूरोप में स्थिति यह थी कि हर कोई सुरक्षा और आजीविका की तलाश में था। इसके परिणामस्वरूप "परस्पर निर्भरता के संबंधों" का सूत्रपात हुआ। समाज के सभी वर्ग इन संबंधों में भागीदार बने। कृषकों ने अपनी जमीनें और अन्य संसाधन स्थानीय जमींदार को सौंप दिये। इसके बदले में जमींदार ने उन्हें सुरक्षा एवं आजीविका प्रदान करने का वचन दिया। वे अपनी जमीनें वापस भी ले सकते थे लेकिन शर्त यह थी कि वे जमींदार के खेतों में बिना मजदूरी लिए काम करते रहेंगे।

स्थानीय जमींदार ने अपनी तथा अपने कृषकों की सुरक्षा के बदले में अपनी जमीनें और संसाधन बड़े जमींदार को इस शर्त पर सौंप दिये कि यदि वह अपनी जमीनें वापस लेना चाहें तो उन्हें बड़े जमींदार को सैन्य सेवा प्रदान करनी होगी। इस प्रकार छोटा जमींदार बड़े जमींदार का अधीनस्थ सामंत हो गया इस प्रक्रिया में हर व्यक्ति किसी न किसी का स्वामी और किसी न किसी के अधीनस्थ हो गया। राजा और कृषक इसके अपवाद थे। राजा किसी के अधीन नहीं था और कृषक किसी का स्वामी नहीं था। अंतरावलम्बन के इन संबंधों ने अपने अनुरूप धार्मिक विचारधारा एवं सांस्कृतिक परिवेश को जन्म दिया। इन सब तथ्यों के अनुसार सामंतवादी समाज के उदय का श्रेय किसी न किसी नाटकीय घटना को ही जाता है।

7.3.3 सामंतवाद पर पेरी एंडरसन के विचार

पेरी एंडरसन सामंतवाद को एक ऐसी दीर्घ प्रक्रिया मानता है जो समाज में होती रही है। एंडरसन के अनुसार सामंतवाद दो सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच कड़े संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। ये दोनों सामाजिक व्यवस्थाएँ परिवर्तन के दौर से गुजर रही थीं। एक ओर प्राचीन यूरोपीय समाज था जो दासता पर आधारित था जो दास-श्रम में कमी आ जाने के कारण कम उत्पादन और अधिक माँग की समस्याओं से घिरा हुआ था। उत्पादन और माँग के बीच का यह अंतर बढ़ता ही जा रहा था। इसका कारण यह था कि उत्पादन प्रणाली दास-श्रम पर आधारित थी जो कि उत्पादन का सक्षम साधन नहीं थी उत्पादन के बेहतर तरीके खोजने और उन्हें प्रयुक्त करने में दासों को कोई रुचि नहीं थी। इस प्रकार प्राचीन यूनानी-रोमन सभ्यता संकट के दौर से गुजर रही थी। जर्मन देशों का कबीलाई सामाजिक संगठन भी एक अन्य प्रकार के संकट का सामना कर रहा था। समता पर आधारित इस कबीलाई सामाजिक ढाँचे पर दबाव पड़ रहा था। यह दबाव एक ओर तो समाज के भीतर ही विभिन्न स्तरों के उदय के कारण था तो दूसरी ओर रोमन सभ्यता का प्रभाव भी इस पर पड़ रहा था। इस प्रकार दासता पर आधारित प्राचीन यूरोपीय समाज तथा समता पर आधारित कबीलाई जर्मन समाज के बीच हुए संघर्ष के फलस्वरूप दोनों ही समाज नष्ट हो गए और एक नये समाज का जन्म हुआ जिसका नाम था सामंतवादी समाज।

इस प्रकार आज इतिहासवेत्ताओं की धारणा है कि समाज के सभी स्तरों पर आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, संस्थागत इत्यादि सामाजिक तत्वों के पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप ही सामंतवाद का जन्म हुआ। अतः समाजवाद के उदय को एक लंबी प्रक्रिया माना जाना चाहिए न कि आकस्मिक घटना।

7.4 सामंतवादी व्यवस्था का विकास

ऐतिहासिक रूप से सामंतवाद प्राचीन यूनान एवं रोम के दास-समाज एवं आज के पूँजीवादी समाज के बीच स्थित हैं। यहाँ हम सामंतवादी व्यवस्था के मुख्य घटकों का विवेचन करेंगे।

7.4.1 सामंतवादी व्यवस्था के अंतर्गत श्रम के रूप

दासता पर आधारित समाज में दास अपने स्वामी के खेतों में काम करते थे। उन्हें उनके श्रम के बदले न तो कोई पारिश्रमिक मिलता था, न ही उस भूमि पर अथवा उस उत्पादन पर उनका किसी प्रकार का कोई अधिकार होता था। यहाँ तक कि अपने परिवारों पर भी उनका अधिकार नहीं होता था क्योंकि उनकी पत्नियों और बच्चों को मालिक इच्छानुसार बेच सकता था। स्वामी दासों को बोलने वाले उपकरण मात्र मानते थे जो अर्द्धवाक् उपकरण (जैसे बैल इत्यादि) एवं मूक उपकरण (जैसे हल इत्यादि) से थोड़े ही भिन्न थे। उत्पादन के साधनों जैसे भूमि अथवा

उपकरणों पर दासों का किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था। पूँजीवादी व्यवस्था में भी कामगार उत्पादन के साधनों से किसी प्रकार का जुड़ाव नहीं रखते। यद्यपि वे कारखानों में काम करते हैं तथा उत्पादन के लिए मशीनों एवं कच्चे माल का प्रयोग में लाते हैं किन्तु इन वस्तुओं पर उनका कोई अधिकार नहीं होता। प्राचीनकाल के दास और आज के कामगार में मुख्य अंतर यह है कि दास के विपरीत कामगार को अपने श्रम का पारिश्रमिक मिलता है तथा वह श्रम करने अथवा छोड़ देने के लिए स्वतंत्र है।

प्राचीनकाल के दास तथा आधुनिक युगीन कामगार के बीच की स्थिति में था मध्ययुगीन कृषिदास। न तो वह दास की भाँति उत्पादन के साधनों से पूर्णतया कटा हुआ था न ही इनका पूर्ण स्वामी था। दास किसी भी अन्य संपत्ति की भाँति था जिसे इच्छानुसार बेचा अथवा खरीदा जा सकता था। कृषिदास को उसकी भूमि से अलग करके नहीं बेचा जा सकता था। यदि स्वामी भूमि को बेचता था तो उस भूमि के साथ स्वाभाविक रूप से दास भी नये स्वामी की संपत्ति हो जाता था। कृषिदास को भूमि जोतने का अधिकार वंशानुगत रूप से प्राप्त होता था किन्तु उसे भू-स्वामित्व प्राप्त नहीं था। कहा जाता था कि "किसान तो जमीन से बंधा हुआ है।" यह मुहावरा सामंतवादी समाज में कृषिदास के जोत के अधिकार की विशेषताओं को व्यक्त करता है। यह मुहावरा दोहरे अर्थ वाला है। एक ओर तो इसका अर्थ था किसान अपने स्वामी की भूमि छोड़कर अन्य कहीं नहीं जा सकता था तो दूसरी ओर यह भी कि स्वामी चाहे तो भी कृषक को उस भूमि से बेदखल नहीं कर सकता था। अतः यदि स्वामी अपनी भूमि के किसी भाग को बेच देता था तो भी उसे जोतने वाले कृषक का उस भूमि को जोतने का अधिकार खत्म नहीं होता था। किसान और खेत का संबंध वैसा ही बना रहता था, केवल स्वामी बदल जाता था।

कृषिदासों के कर्त्तव्य : कृषिदासों को अपनी भूमि की जोत का तथा अपने एवं अपने परिवार के श्रम के उत्पादन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था यद्यपि औपचारिक रूप से भूमि का स्वामी जमींदार ही होता था। कृषिदास का अपना परिवार होता था। हाँ यह बात अवश्य थी कि भूमि की जोत के इस अधिकार के बदले कृषिदास को जमींदार के अन्य खेतों में काम करना पड़ता था जिनकी सारी उपज पर जमींदार का ही हक होता था और इस काम के बदले उसे किसी प्रकार की मजदूरी नहीं मिलती थी। यह श्रम एक प्रकार से जमींदार की भूमि का उपयोग करने पर शुल्क था जिसे कृषिदास चुकाता था। उन स्थितियों में भी यही नियम लागू होता था जहाँ जमीन का असली मालिक किसान ही होता था किन्तु जिसने सुरक्षा एवं आजीविका के लिए अपनी जमीन जमींदार को सौंप दी थी। कृषिदास अपना आधा श्रम जमींदार की भूमि पर लगाता था। कृषिदासों से कराई जाने वाली बेगार की बात ठीक से हमारी समझ में तब आएगी जब हम मध्य युग के आरंभ में पश्चिमी यूरोप की उत्पादन प्रणाली का अध्ययन करेंगे।

7.4.2 सामंतवादी उत्पादन प्रणाली

लगभग दसवीं शती तक पश्चिमी यूरोप की जमीन की उपजाऊ शक्ति बहुत कम थी। अनुमान है तब तक बीज-उपज का अनुपात 1:6.6 या अधिक से अधिक 1:2.5 था। कृषि योग्य भूमि के भी लगभग आधे ही भाग पर साल में केवल एक बार फसल उगाई जाती थी। बाकी आधी जमीन परती पड़ी रहती थी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि यूरोपीय कृषि में खाद की समस्या सदा से ही थी और रासायनिक खाद के आने तक यह समस्या बनी ही रही।

एक तो भूमि की उपजाऊ शक्ति कम थी जिस पर अच्छी कृषि तकनीक का भी अभाव था। मध्ययुगीन किसान जिस हल का प्रयोग करते थे उससे भूमि की ऊपरी सतह को खुरचा भर जा सकता था। इसी कारण इस हल का नाम "खुरचने वाला हल" पड़ गया। इसके अतिरिक्त उन कृषकों को जुए के प्रयोग का भी ज्ञान नहीं था। हल को जुए के जरिये बैलों के कंधे पर बांधने के स्थान पर सींगों से बाँधा जाता था। परिणामस्वरूप हल जोतने में बैल की पूरी शक्ति का उपयोग नहीं हो पाता था। कृषि-कार्य में घोड़े का प्रयोग तो और भी विरल था। उसमें भी समस्या हल को पशु के साथ संलग्न करने की ही थी। हल को एक पट्टे की सहायता से घोड़े की छाती पर बाँध दिया जाता था। घोड़ा जितने जोर से हल को खींचता था उतना ही उसे सांस लेने में कठिनाई होती थी। कृषि के अन्य उपकरण भी अधिकांशतया लकड़ी के बने होने के कारण अधिक उपयोगी नहीं होते थे।

इन सब बातों के परिणामस्वरूप भूमि की अंदरूनी उपजाऊ-क्षमता का पूरी तरह उपयोग नहीं हो पाता था। पौधों की जड़ें भीतर जमीन में न जाकर आस-पास फैलती थीं। अतः बीजों को अधिक दूरी पर बोया जाता था ताकि पौधों की जड़ों को फैलने का स्थान मिल सके। बड़े-बड़े खेतों से भी मामूली उपज ही मिलती थी। अनुमान है कि दसवीं शती तक स्थिति यह थी कि एक किसान

परिवार के भरण-पोषण के लिए लगभग सौ एकड़ जमीन की आवश्यकता पड़ती थी। एक जमींदार आमतौर पर 4000 एकड़ भूमि का स्वामी होता था।

इन सब बातों को देखते हुए यह समझना कठिन नहीं है कि मध्ययुग के आरंभ में कृषि-उत्पादन पूर्णरूप से श्रम पर ही आधारित था।

जलवायु का प्रभाव : उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त यूरोप में कृषि के पूर्णरूपेण श्रम पर आधारित होने का एक अन्य कारण भी था। पश्चिमी यूरोप में मुश्किल से चार महीने धूप रहती है। अतः आवश्यक है कि कृषि का सारा कार्य, खेत जोतने से लेकर फसल काटने तथा उसे भंडारों में रखने तक का कार्य इन्हीं चार महीनों के भीतर कर लिया जाये। कृषि प्रणाली की श्रम पर अत्यधिक आश्रितता तथा केवल 120 दिनों में समस्त कृषि कार्यों को निपटा लेने की आवश्यकता ने श्रम की माँग को और बढ़ा दिया। यही कारण था कि जमींदार अपने कृषिदासों से श्रम के रूप में शुल्क लेते थे। सामंतवादी व्यवस्था के आरंभ में सबसे अधिक बोझ साधन-हीन लोगों पर ही पड़ा जिनके पास देने के लिए अपने श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं था।

बोध प्रश्न 2

1 सामंतवाद के उदय की सैन्य-व्याख्या देने वाले व्यक्ति का नाम है (निम्नलिखित में से किसी एक पर सही (✓) का निशान लगाइए)
   क) मार्क ब्लॉक
   ख) पेरी ऐंडरसन
   ग) ब्रूनर
   घ) हेनरी पीरेन

2 सामंतवादी व्यवस्था में एक जमींदार के पास आमतौर पर इतनी भूमि होती थी (किसी एक पर सही (✓) का निशान लगाइए)
   क) 1,000 एकड़
   ख) 2,000 एकड़
   ग) 3,000 एकड़
   घ) 4,000 एकड़

3 सामंतवादी युग में कृषि-उत्पादन कम होने के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.4.3 स्वामियों का वर्ग

सामंतवादी व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य था मुट्ठी भर अमीर-उमराओं को शान-शौकत की जिंदगी देना। स्वामियों के वर्ग में भी अनेक स्तर थे।

i) वर्ग के सबसे निचले स्तर पर थे "नाइट्स" जिन्हें सैन्य सेवा के बदले जागीरें प्रदान की जाती थीं। आरंभ में ये जागीरें "नाइट" के सेवा-काल तक के लिए होती थीं किन्तु धीरे-धीरे इस संस्था ने आनुवंशिक संपत्ति का रूप धारण कर लिया। जागीरदार अपने खेतों में कृषिदासों से पारिश्रमिक लेकर तथा बँटाई के आधार पर काम करवाते थे।

ii) स्वामियों के वर्ग में प्रमुख स्थान सामंत का होता था। एक सामंत लगभग चार हजार एकड़ भूमि का स्वामी होता था। यह भूमि सामान्यतया तीन हिस्सों में बँटी होती थी—डिमीन (Demeane) काश्त, और परती। डिमीन और काश्त वाले हिस्से पर खेती की जाती थी तथा परती भूमि के अंतर्गत आते थे जंगल और चरागाह। सर्वसाधारण इनका उपयोग कर सकते

थे। डिमीन से होने वाली उपज सामंत के घर अथवा गढ़ी में जाती थी तथा काश्त की उपज कृषिदासों के हिस्से आती थी। डिमीन तथा काश्त दोनों प्रकार की भूमि सामंत की जमींदारी के विभिन्न भागों में खेतों के रूप में फैली होती थी।

iii) सामाजिक श्रेणीबद्धता में सर्वोच्च स्थान बैनल लार्ड का था। ये ही भूमि का नियंत्रण करते थे। इसी कारण समाज में लोगों पर इनकी सत्ता रहती थी। वे अपने अधिकार क्षेत्रों में लोगों से इच्छानुसार माँग कर सकते थे। इस वर्ग में ही सर्वाधिक साधन-संपन्न व्यक्ति थे।

जमींदारों का वर्ग कृषकों पर जो प्रभुत्व रखता था उसका आधार परम्परा अथवा रूढ़ि था। जमींदारों का प्रभुत्व स्वीकार करना कृषकों का पारंपरिक कर्त्तव्य था। उस समय लिखित कानून का स्थान परंपरा अथवा रूढ़ि को ही प्राप्त था। सामाजिक व्यवस्था का नियमन तथा न्याय संबंधी प्रशासन का मुख्य आधार भी परंपरा अथवा रूढ़ि ही थी। "रूढ़ि" और "कर्त्तव्य" दोनों ही शब्द बहुत लचीले थे जिनकी अवसर के अनुसार व्याख्या की जाती थी। दसवीं शती के बड़े जमींदारों ने न्यायिक अधिकारों पर भी अपनी पकड़ मजबूत करनी शुरू कर दी जिससे कृषकों पर उनका पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। ऐसा नहीं था कि कृषकों को परंपरा के लचीले होने से सदा हानि ही हुई हो। उन्हें इससे लाभ भी होता था। नये "कर्त्तव्यों" के बोझ से वे अक्सर यह कह कर बच निकलते थे कि वे "कर्त्तव्य" पारंपरिक नहीं हैं। कृषकों की इस युक्ति को अधिक बल तब मिलता था जब वे एक होकर इसे प्रयुक्त करते थे।

आइए, अब हम आरंभिक सामंतवाद समाज के मूल लक्षणों पर एक बार फिर से दृष्टि डालें। इस व्यवस्था में जमींदारों के एक छोटे से वर्ग को भोग-विलास का जीवन उपलब्ध कराने के लिए बहुसंख्यक श्रमिक काम करते थे। इस व्यवस्था में उत्पादन का प्रमुख साधन था कृषि और उस समय कृषि की अवस्था ऐसी थी जिसमें बहुत बड़ी संख्या में श्रमिकों और उनके जी-तोड़ श्रम की आवश्यकता पड़ती थी। श्रम की अत्यधिक माँग के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि कृषक भूमि से बंध कर रह गया। वह भूमि छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता था। इसके बदले उसे और उसके परिवार के लिए सुरक्षा एवं आजीविका का आश्वासन था। यह स्थिति दसवीं शती के अंत तक रही।

स्पष्ट है कि ऐसा समाज अत्यधिक तनावग्रस्त था। इन तनावों के उत्पन्न होने का कारण यह था कि कृषि-कार्यों के चार महीनों में तो श्रम की अत्यधिक माँग रहती थी जबकि बाकी सारे साल श्रमिक बेकार रहते थे। यह वह समय होता था जब भोजन का अतिरिक्त भंडार समाज के निम्न वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता था और भुखमरी की नौबत आ जाती थी। ऐसें समाज के बने रहने के लिए आवश्यक था कि इस समस्या का कोई न कोई समाधान खोजा जाता।

7.5 सामंतवादी अर्थव्यवस्था की गतिशीलता

मोटे तौर पर ग्यारहवीं शती से पश्चिमी यूरोप ने जिस युग में प्रवेश किया उसे मार्क ब्लॉक दूसरा सामंतवादी युग कहता है। इसमें कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण प्रौद्योगिकी संबंधी एवं सामाजिक आर्थिक सुधार हुए। पुराने "हल्के" हल का स्थान अब भारी हल ने ले लिया जो भूमि को गहरी जोतता था जिससे भूमि की गहरी उपजाऊ शक्ति का जोतन संभव हुआ। नया हल मिट्टी के ढेलों को भी तोड़ देता था जिससे पौधों को समान रूप से पोषण मिलना संभव हुआ। जूए के संबंध में अधिक उपयोगी जानकारी उपलब्ध होने के कारण अब बैलों की शक्ति को अधिक उपयोगी रूप से प्रयुक्त किया जाने लगा था। हल जोतने के लिए घोड़े का प्रयोग भी अब अधिक समझदारी से किया जाता था। घोड़े की छाती पर चमड़े का पट्टा बांधने के स्थान पर उसकी गर्दन के चारों ओर एक प्रकार का खाँचा लगाया जाता था और उसी से हल को जोड़ा जाता था। घोड़े के खुरों के लिए नाल के प्रयोग के ज्ञान से अब इस पशु की कार्यक्षमता बढ़ गई थी और वह नई कड़ी भूमि पर भी आसानी से हल खींच सकता था। इस समय जई (oat) की खेती में वृद्धि होना इस बात का संकेत है कि न केवल कृषि के लिए अपितु अन्य कार्यों के लिए भी घोड़े के प्रयोग का चलन बढ़ गया था।

खेती के रंग-ढंग में भी परिवर्तन आया। यूरोप में शिम्बी (legume) फसलों (दालें और फलियों)का आगमन इसी समय हुआ। फलियों की खेती के अनेक लाभ थे:

i) इससे कृषकों की खुराक में वनस्पति-प्रोटीन का समावेश हुआ। इसके पूर्व उनके भोजन में

शर्करा-प्रधान भोजन का अंश ही अधिक रहता था। कभी-कभी शिकार हाथ लग जाने पर प्राणियों से मिलने वाला प्रोटीन भी उनके भोजन में शामिल होता था।

ii) शिबी की फसलों की जड़ें गहरे जाकर भूमि की उर्वरता का लाभ उठातीं थीं जबकि मक्का आदि की फ़सलें ऐसा नहीं कर पाती थीं।

iii) शिबी की फसलें पौधों के बढ़ने के समय मिट्टी को नाइट्रोजन देकर समृद्ध बनाती रहती थीं।

iv) शिबीं एवं अन्य नई फसलों से फसल-चक्र की व्यवस्था में भी सुधार हुआ। पहले जहाँ कृषि-योग्य भूमि के केवल आधे भाग को वर्ष में एक बार बोया जाता था वहीं अब हर साल दो तिहाई भाग में फसलें लहलहाने लगीं।

खेती में इन सब सुधारों का परिणाम यह हुआ कि बीज-उपज का अनुपात 1:2.5 से बढ़ कर 1:4 हो गया। इससे खाद्यान्न की मात्रा दुगुनी हो गई। पहले के 1:2.5 के अनुपात में 1 भाग बीज के लिए सुरक्षित रख दिया जाता था तथा खाने के लिए केवल 1.5 भाग ही उपलब्ध होता था। अब 1.4 के अनुपात में 1 भाग बीज के लिए अलग रख दिये जाने पर भी 3 भाग खाने के लिए बचा रहता था। इस नई स्थिति से एक बात और हुई। अब हाथ के श्रम की माँग पहले जैसी नहीं रही। उपज बढ़ने के कारण पहले जहाँ एक कृषक परिवार के भरण-पोषण के लिए 100 एकड़ जमीन जोतने, बोने की आवश्यकता थी वहीं अब 25-30 एकड़ जमीन पर खेती करना पर्याप्त था। इस प्रकार कृषक व्यर्थ श्रम से बच गया।

7.5.1 जनसंख्या में वृद्धि

पर्याप्त मात्रा में अच्छा भोजन मिलने के परिणामस्वरूप निम्न वर्गों की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। एक हजार ईसवी से पहले की तीन साढ़े तीन शतियों में जनसंख्या शतप्रतिशत बढ़ी तो एक हजार ईसवी के बाद की तीन साढ़े तीन शतियों में वृद्धि की यह दर 170 प्रतिशत हो गई, 2 करोड़ से पाँच करोड़ चालीस लाख पहुँच गई। खेतों का आकार छोटा हो जाने से अब खेती के काम में कम श्रम की आवश्यकता पड़ती थी किन्तु जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही थी।

इस प्रक्रिया में एक अन्य प्रौद्योगिक विकास का भी योगदान था। यह था पहले पनचक्की और फिर पवन चक्की का यूरोप में चलन। ये चक्कियाँ बहुत से ऐसे कार्य सुगमता से करती थीं जो पहले हाथ से किये जाते थे। इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था अनाज पीसना। परिणामस्वरूप लोगों के पास खेती के लिए अधिक समय मिलने लगा।

7.5.2 व्यापार और शहरीकरण

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में जो प्रौद्योगिक एवं सामाजिक आर्थिक परिवर्तन हुए उन्होंने पश्चिमी यूरोप की शक्ल ही बदल दी। बढ़ती हुई जनसंख्या यूरोप के निर्जन भागों में फैल गई तथा जंगलों एवं चरागाहों को साफ करके कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया गया। भूमि विस्तार का यह आंदोलन बारहवीं शती में विशेष रूप से प्रबल रहा। आरंभ में यह कार्य छोटे किसानों ने व्यक्तिगत स्तर पर आरंभ किया। बाद में जमींदार भी इसमें सम्मिलित हो गए तथा इसे एक सुसंगठित रूप प्रदान किया। श्रम की माँग कम तथा जनसंख्या में वृद्धि हो जाने के कारण कृषिदास भी भूमि से बँधे रहने की विवशता से मुक्त कर दिये गए। इसके बदले वे जमींदार को रूपान्तरण शुल्क चुकाते थे। इस धन से जमींदार अपने कृषि-कार्यों के लिए मज़दूर रख लेते थे। मज़दूरी की दर वैसे भी लगातार गिर रही थी। अनुमान है कि जो रूपान्तरण शुल्क कृषिदास अपनी मुक्ति के बदले जमींदारों को चुकाते थे वह उनके पारिश्रमिक के मूल्य से चौगुना होता था। बेगारी करने वाले कृषिदासों की तुलना में पारिश्रमिक पाने वाले श्रमिकों का काम अधिक उत्पादक होता था।

ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादकता एवं उत्पादन की बढ़ोत्तरी से व्यापार और शहरीकरण को भी प्रोत्साहन मिला। पहले की तुलना में अब ग्रामीण-क्षेत्र के पास बेचने के लिए अधिक मात्रा में वस्तुएँ थीं और वह शहरी जनसंख्या के अपेक्षाकृत बड़े भाग का भरण-पोषण कर सकता था। व्यापार तो पहले भी होता था किन्तु, अब उसमें तेजी आ गई। कृषि उत्पादन भी अब लाभ की दृष्टि से किया जाने लगा। परिणामस्वरूप शहरी और ग्रामीण दोनों ही प्रकार के व्यापारी ग्रामीण क्षेत्रों में आने लगे।

7.5.3 नई अर्थव्यवस्था का विकास

जैसा कि हम पढ़ चुके हैं कि कृषि के क्षेत्र में विकास का आधार श्रम की प्रचुरता न होकर पूँजी-निवेश था। यह पूँजी निवेश नये प्रकार के भारी हल, जूए तथा घोड़े इत्यादि की खरीद के रूप में होता था। विकसित कृषि से केवल उन्हीं कृषकों को लाभ हुआ जिनके पास इन

कृषि-उपकरणों को खरीदने के लिए पैसा था। अधिकतर छोटे किसानों को कृषि-उपकरणों के लिए कर्ज लेना पड़ता था। एक भी फसल खराब हो जाती अथवा कृषि-उत्पादों के भाव थोड़े भी गिर जाते तो वे अपनी भूमि तथा कृषि-उपकरणों से हाथ धो बैठते थे। ऐसे कृषकों के लिए मज़दूरी करने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता था। वे भूमिहीन खेतिहर मज़दूर बन जाते थे। खेतिहर मज़दूरों की वैसे भी कोई कमी नहीं थी। कृषिदासों के अभाव में छोटे जमींदारों तथा व्यापारियों ने कृषि-उत्पादनों से लाभ कमाने की दृष्टि से मज़दूर रखकर खेती करनी आरंभ कर दी। वे केवल उन्हीं फसलों की खेती करते थे जिनके बाजार में ऊँचे दाम मिल सकें।

यह सामंतवादी अर्थव्यवस्था नई अर्थव्यवस्था से पूर्णतया अपरिचित थी। इस नई अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाले थे, उदीयमान पूँजीपति किसान तथा भूमिहीन वेतनभोगी कृषि-मज़दूर। ये कृषि मज़दूर अधिक मज़दूरी की तलाश में इधर-उधर भटकते रहते थे। शान-शौकत में किए जाने वाले सामंतवादी अपव्यय की प्रवृत्ति ने भी नया मोड़ लिया। लाभांश को ऐशो-आराम में उड़ा देने के स्थान पर अब उस धन को फिर से व्यापार में लगाया जाने लगा। इससे लाभ की दर बढ़ती ही गई।

बोध प्रश्न 3

1 डिमीन भूमि, काश्त भूमि तथा परती भूमि में क्या अंतर था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 रूपांतरण-शुल्क से आप क्या समझते हैं? पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 कृषि संबंधी विकास से केवल अमीर किसान ही क्यों लाभान्वित हुए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.6 सामन्तवाद का पतन

लगभग चौदहवीं शताब्दी के दूसरे शतक से 'कृषि-विकास' की दर में कमी आने लगी। इस बात ने उस क्षेत्र के इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

कृषि-विकास की दर में इस गिरावट का कारण बारहवीं एवं तेरहवीं शतियों में होने वाला कृषि-भूमि विस्तार आंदोलन था। बढ़ती हुई जनसंख्या ने जंगलों और चरागाहों को इस तेजी से साफ किया कि जंगलों एवं कृषि-योग्य भूमि का पारिस्थितिकी संतुलन बिगड़ गया। जंगलों के साफ हो जाने से पश्चिमी यूरोप की पारिस्थितिकी पर यह प्रभाव पड़ा कि वहाँ लगातार वर्षा होने

लगी। 1315 और 1316 में तो वहाँ धूप नहीं निकली। परिणामस्वरूप फसलें नष्ट हो गईं और अकाल पड़ा। जनसंख्या का दसवाँ भाग उसकी चपेट में आ गया। चरागाहों के नष्ट हो जाने से पशुधन की भी बहुत हानि हुई। खाद का मुख्य स्रोत गोबर था। अतः खाद के अभाव में कृषि-उत्पादन में भी गिरावट आई। इससे लोगों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

चौदहवीं शती अकालों का युग अतः बार-बार पड़ने वाले इन अकालों ने लोगों की रोग-प्रतिरोधक क्षमता को क्षीण कर दिया। महामारियाँ फैलीं और भारी संख्या में जनसंख्या का ह्रास हुआ। महामारियों की इस शृंखला में 1348-1351 की "काली मौत" के नाम से जानी जाने वाली महामारी सबसे भयानक थी। यह हैजे की बीमारी थी और इसने यूरोप की चौथाई और कहीं-कहीं तो आधी जनसंख्या को निगल लिया। चौदहवीं शती के अंत तक यूरोप की जनसंख्या में 40 प्रतिशत कमी आ चुकी थी।

7.6.1 श्रमिकों का अभाव

स्पष्ट है कि मृत्यु के इस तांडव ने यूरोप को हिला कर रख दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमिकों का अत्यंत अभाव हो गया जिससे मजदूरी की दरें बढ़ गईं। कृषि उत्पादों की कीमतों में गिरावट आई क्योंकि जनसंख्या घट जाने से अब उनकी माँग नहीं रह गई थी। फिर भी कम उपजाऊ भूमि को छोड़कर अधिक उपजाऊ भूमि की तलाश जारी रहती। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन तो बढ़ता रहा किन्तु माँग बराबर घटती रही। श्रमिकों को इससे दोहरा लाभ हुआ। एक ओर तो मजदूरी की दरें बढ़ रही थीं, दूसरी ओर अन्न का दाम घट रहा था। इस स्थिति में घाटा उठाने वाले जमींदार ही थे। मजदूरी की बढ़ती हुई दरों के कारण कृषि-उत्पादों की लागत तो बढ़ती जाती थी किन्तु कृषि से होने वाली जमींदारी की आय घटती जाती थी। इतना ही नहीं भोग-विलास की वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगी थीं क्योंकि इन वस्तुओं को बनाने वाले बहुत से कारीगर महामारी की चपेट में आ चुके थे और इनके उत्पादन में बहुत कमी आ गई थी। इस स्थिति ने जमींदारों को दुविधा में डाल दिया। उनके सामने दो रास्ते थे—या तो वे पुरखों के जमाने से चली आ रही शान-शौकत की जिंदगी छोड़ दें क्योंकि उनकी आय घट गई थी और शान-शौकत की चीजें बहुत महँगी हो गई थीं, या वे किसानों का अधिक शोषण करके अपनी शान-शौकत बरकरार रखें।

स्पष्ट है कि इनमें से उन्होंने दूसरा रास्ता चुना किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर किसानों का शोषण करने के स्थान पर उन्होंने राज्य को इस शोषण का माध्यम बनाया। सामंतवादी परिस्थितियों में राज्य कभी शक्तिशाली नहीं रहा था क्योंकि उसकी शक्ति सामंतों और जमींदारों में बँटी हुई थी। वही राज्य अब सामंतों और जमींदारों के पक्ष में एक शक्तिशाली संस्था बनकर उभरा। राज्य ने सर्वत्र किसानों की सक्रियता पर पाबंदी लगा दी ताकि अधिक मजदूरी की तलाश में वे इधर-उधर न जा सकें। तत्पश्चात् राज्य ने मजदूरी की वही दर निश्चित कर दी जो महामारी के पहले के काल में थी।

7.6.2 कृषक विद्रोह

इस दमन के कारण किसानों को भागना पड़ा और वे विद्रोह में शामिल हुए। जबर्दस्त किसान विद्रोहों ने पंद्रहवीं शताब्दी में फ्रांस, इंग्लैंड, तथा स्पेन और जर्मनी को भी हिला कर रख दिया। इन विद्रोहों को अंततः कुचल दिया गया किन्तु शती के अन्त तक राज्य की सामंतवादी प्रतिक्रिया, जो इन विद्रोहों का मूल कारण थी, ठंडी पड़ चुकी थी। अंतिम हथियार के रूप में राज्य ने कृषकों पर सामंतवादी नियम-कानून लागू करने का प्रयत्न किया किन्तु परिस्थितियाँ कृषकों के अनुकूल थीं अतः राज्य का यह प्रयत्न असफल रहा।

चौदहवीं और पंद्रहवीं शतियों के संकट अर्थात् यूरोपीय सामंतवादी अर्थव्यवस्था के संकट ने सामंतवाद के पतन तथा पूँजीवाद के आगमन का मार्ग प्रशस्त किया। पंद्रहवीं शती के बाद यूरोप की अर्थव्यवस्था पुनः अपनी खोयी हुई शक्ति प्राप्त करने लगी थी। किन्तु यह तभी संभव हुआ जब इसने दकियानूस व्यवस्था से मुँह मोड़ लिया। सामंतवाद का विनाश इसके अपने ही अन्तर्विरोधों का परिणाम था जो शताब्दियों से इसमें चले आ रहे थे। सामंतवाद का अंत पश्चिमी यूरोप के सभी क्षेत्रों में एक साथ नहीं आया। फ्रांस में सामंतवाद का अंत इंग्लैंड में इसका अंत हो जाने के बहुत बाद में आया। पूर्वी यूरोप में सामंतवाद सोलहवीं से अठाहरवीं शती तक शक्तिशाली बना रहा जबकि पश्चिमी यूरोप में इस समय तक यह इतिहासवेत्ताओं की जिज्ञासा की वस्तु बन चुका था।

7.7 सामंतवाद : भारतीय सन्दर्भ

उन्नीसवीं और बीसवीं शती में यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं ने सामंतवाद की संकल्पना को अपनाया और इसे विश्व के विभिन्न देशों के आर्धुनिक काल से पहले के इतिहास पर प्रयुक्त किया गया इन देशों में चीन, पश्चिमी एशिया, जापान और भारत सम्मिलित हैं।

भारत में कर्नल जेम्स टॉड ने 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक में राजस्थान में यूरोपीय सामंतवाद को विकसित होते देखा। सामंतवाद की संकल्पना को प्रयुक्त करना दो कारणों से संभव हुआ एक एशियायी देशों पर यूरोप की विजय ने यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं को इस बात का अवसर दिया कि वे यूरोप एवं इन देशों के इतिहास एवं समाज का तुलनात्मक अध्ययन कर सकें, दूसरे, इन देशों में वर्तमान परिस्थितियों का निरूपण करने के लिए 'सामंतवाद', एक सुविधाजनक नाम था। यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं से यह संकल्पना भारतीय इतिहासवेत्ताओं ने ग्रहण कर ली तथा इसका अर्थ थोड़ा विस्तृत भी हो गया।

'भारतीय सामंतवाद' से एक ऐसी अर्थव्यवस्था का चित्र बनता है कि जिसमें व्यापार का ह्रास हो गया था तथा मुद्रा का अभाव था। अत: राज्य ब्राह्मणों एवं अधिकारियों को अनुदान के रूप में भूमि देने पर बाध्य हुआ। इन भू-स्वामियों ने कृषकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके भारत में सामंतवाद का सूत्रपात किया। ग्यारहवीं शती के लगभग व्यापार को फिर से बढ़ावा मिला कृषकों को उनसे रूपान्तरण शुल्क लेकर मुक्त किया जाने लगा और सामंतवाद का पतन हो गया।

भारतीय सामंतवाद पर बहस : 'भारतीय सामंतवाद' की संकल्पना पर काफी विवाद है। कहा जाता है कि यह यूरोपीय सामंतवाद के बारे में पीरेन के मत का ही अनुसरण करती है। पीरेन के अनुसार व्यापार और सामंतवाद में अंतर्विरोध है। यह भी कहा गया कि भारतीय सामंतवाद के संदर्भ में भी विश्लेषण के लिए वे ही शब्द एवं श्रेणियाँ प्रयुक्त की गई हैं जो यूरोपीय सामंतवाद के संदर्भ में की गई थीं उदाहरण के लिए गढ़ी (जमींदारी), कृषिदास, रूपान्तरण, आदि। इस आलोचना का आधार यह तर्क है कि भारतीय पारिस्थितिकी, प्रौद्योगिकी और सामाजिक व्यवस्थाएँ मूलत: यूरोप से भिन्न थीं। अत: यह प्रश्न उठता है कि इनके आधार पर आर्धुनिक काल से पहले के भारत के इतिहास को समझना कहाँ तक उचित है। इसके निरूपण के लिए भी स्थानीय विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिए।

फिर भी विद्वत्तापूर्ण एवं लोकप्रिय दोनों ही प्रकार के लेखन में 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग होता है इसका कारण कुछ हद तक तो इसका अस्पष्ट अर्थ है जिसे अनेक परिस्थितियों का निरूपण करने के लिए सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है। यही शब्द थोड़े से भिन्न रूपों में भी दिखाई पड़ता है, जैसे अर्ध-सामंतवाद आदि सामंतवाद या "सामंतवाद" (उधरण चिह्नों सहित)। इस शब्द का अर्थ की अस्पष्टता इसे निश्चय ही लचीलापन प्रदान करती है किन्तु आज सामाजिक विज्ञान में ठीक-ठीक, निश्चित अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग पर बल दिया जाता है। भारतीय संदर्भ में 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग विवादास्पद हो गया है।

बोध प्रश्न 4

1 चौदहवीं शती में यूरोप को बार-बार अकालों का सामना करना पड़ा इसका क्या कारण था (सही उत्तर पर निशान लगाइए)
   क) पिछड़ी हुई प्रौद्योगिकी।
   ख) कृषकों के लिये प्रोत्साहन का अभाव।
   ग) मौसम की खराबी।
   घ) जनसंख्या में वृद्धि।

2 चौदहवीं शती के अंत एवं पंद्रहवीं शती में कृषक-विद्रोहों के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3 कर्नल जेम्स टॉड की धारणा थी कि यूरोपीय सामंतवाद भारत के इस राज्य में विद्यमान था (सही उत्तर पर निशान लगाइए)
क) उत्तर प्रदेश
ख) गुजरात
ग) बिहार
घ) राजस्थान

7.8 सारांश

प्राचीन समाजों में दासप्रथा थी और कहीं तो इसने "उत्पादन प्रणाली" का ही रूप धारण कर लिया था किन्तु भारत की दासप्रथा यूनान और रोम की दासप्रथा से बहुत भिन्न थी। समाज का दास-समाज से "सामंतवादी समाज" में परिवर्तन किस प्रकार हुआ इस संबंध में अनेक विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। ब्रूनर ने सैन्य एवं प्रौद्योगिक व्याख्या प्रस्तुत की। हेनरी पीरेन यूरोप में सामंतवाद के उदय का श्रेय कतिपय आर्थिक परिवर्तनों को देते हैं जिसके फलस्वरूप व्यापार में ह्रास और ग्रामीणीकरण में वृद्धि हुई। मार्क ब्लॉक ने सामंतवाद के उदय का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवेचन किया। उसके अनुसार पाँचवीं शती में पश्चिमी यूरोप समाज में होने वाले अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन इसके लिए उत्तरदायी थे। लगातार होने वाले आक्रमणों, अर्थव्यवस्था की असुरक्षा तथा आजीविका के निम्न स्तर ने परस्पर निर्भरता के संबंधों को जन्म दिया जिसमें समाज के सभी स्तरों के लोग सम्मिलित थे—जमींदार, सामंत और कृषिदास। सामंतवाद ने अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों की चुनौती का सामना अच्छी प्रकार किया तथा इस युग में कृषि प्रौद्योगिकी एवं फसल-चक्रों के क्षेत्र में नए आविष्कार किए गए। सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था ने कृषिदासों के एक नये वर्ग को जन्म दिया जो प्राचीनकाल के दासों और औद्योगिक पूँजीवाद के श्रमिकों के बीच की स्थिति में थे।

सामंतवादी उत्पादन-प्रणाली की गतिशीलता के कारण, सम्पत्ति, कृषि-उत्पादन एवं जनसंख्या में वृद्धि हुई। इससे श्रम की माँग बढ़ गई। पेरी ऐंडरसन सामंतवाद की व्याख्या इसकी उत्पादन-प्रणाली के माध्यम से करता है।

सामंतवाद में कृषि उत्पादन श्रम पर आधारित न रहकर पूँजी पर आधारित हो गया। बीज, हल एवं फसल चक्र संबंधी कृषि की नई प्रौद्योगिकी ने छोटे खेतों से भी अधिक उपज लेना संभव कर दिया। जो कृषक और जमींदार इस नई पूँजी-आधारित कृषि के लिए भारी मात्रा में धन नहीं जुटा सके थे, वे अपनी भूमि से हाथ धो बैठे और नई कृषि-योग्य भूमि की तलाश में निकल पड़े। परिणामस्वरूप जंगल एवं चरागाह नष्ट हो गए तथा पारिस्थितिकी का संतुलन बिगड़ गया। इसी कारण चौदहवीं शती में भयंकर अकाल पड़े। किसानों में विद्रोह फैल गया और सामंतवाद के सामने संकट आ खड़ा हुआ। अंत में इसी कारण सामंतवाद का नाश भी हुआ।

भारत के संदर्भ में सामंतवाद पर चलने वाली बहस का आधार यूरोपीय सामंतवाद रहा। भारतीय सामंतवाद का संबंध भी व्यापार के ह्रास तथा मुद्रा के अभाव से जोड़ा जाता है जिसके फलस्वरूप राज्य ने ब्राह्मणों एवं अधिकारियों को जमीनें दीं ताकि राजस्व प्राप्त हो सके। इन सवर्ण जमींदारों ने कृषक-कृषिदास (peasant serf) को खेती के काम पर लगाया। इस प्रकार भारत में सामंतवाद का उदय हुआ किन्तु इस बात पर अभी बहस जारी है और इतिहासकार एकमत नहीं हैं।

7.9 शब्दावली

जुआ : बैलों के कंधे पर बाँधा जाने वाला लकड़ी का खाँचा।

साज : ढोने अथवा खींचने वाले पशुओं पर लगाया जाने वाला उपकरण, साज।

रूपान्तरण शुल्क : मुक्ति के बदले कृषिदासों द्वारा दिया जाने वाला शुल्क।

काली मौत : 1348 में इंग्लैंड में फैली हैजे की महामारी।

गढ़ी . कुलीन लोगों की जागीर।

काश्त : भूमि का वह भाग जिसकी उपज कृषिदासों के हिस्से आती थी।

जिमीन : जमींदारों की हवेली जिसके साथ जमीन लगी होती थी जिसकी उपज जमींदार के घर जाती थी।

परती : भू-स्वामियों की भू-संपदा का वह भाग जिस पर खेती नहीं की जाती थी।

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
1 भाग 7.2 देखें
2 उपभाग 7.2.2 देखें

बोध प्रश्न 2
1 ग
2 घ
3 उपभाग 7.4.2 देखें

बोध प्रश्न 3
1 उपभाग 7.4.3 देखें
2 उपभाग 7.5.2 देखें
3 उपभाग 7.5.3 देखें

बोध प्रश्न 4
1 ग
2 उपभाग 7.6.1 तथा 7.6.2 देखें
3 घ

इकाई 8 पुनर्जागरण और सुधार-आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि
8.3 पुनर्जागरण
  8.3.1 मानववाद
  8.3.2 धर्मनिरपेक्षता
8.4 पुनर्जागरण-कालीन साहित्य
8.5 कला और शिल्प
8.6 दर्शन
8.7 वैज्ञानिक क्रांति का आरंभ
8.8 राजनीतिक सिद्धांत
8.9 धर्म सुधार
  8.9.1 चर्च में सैद्धांतिक बहसें
  8.9.2 प्रोटेस्टैंट क्रांति
  8.9.3 आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन
8.10 राष्ट्र-राज्यों का उदय
8.11 भौगोलिक खोजें और उपनिवेशीकरण
8.12 सारांश
8.13 शब्दावली
8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में यूरोपीय इतिहास के एक अत्यंत महत्वपूर्ण युग का विवेचन किया गया है। इस युग में न केवल अर्थव्यवस्था, समाज और राज्य में महत्वपूर्ण परिवर्तनों का आरम्भ हुआ अपितु मानव और प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप:

- यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार की प्रक्रियाओं में योगदान देने वाले आर्थिक और सामाजिक कारणों को जान सकेंगे,
- पुनर्जागरण एवं सुधारवाद से संबंधित विचारों, मूल्यों एवं संस्थाओं को समझ सकेंगे,
- इस युग की कला और संस्कृति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, तथा
- विश्व के अन्य भागों में यूरोपीय शक्तियों के विस्तार और परिणामस्वरूप होने वाले उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मानव इतिहास के एक बहुत ही महत्वपूर्ण युग का अध्ययन करेंगे। आधुनिक विश्व की नींव इसी युग में रखी गई। लगभग चौदहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक के इस युग में यूरोप में अनेक ऐसी बातें हुई जिनका आपस में गहरा संबंध था और जिनका प्रभाव सारे संसार पर पड़ा। कुछ क्षेत्रों में यह प्रभाव तत्काल दिखाई पड़ा जबकि अन्य क्षेत्रों में इसका प्रभाव काफी समय बाद दिखाई दिया।

संक्रमण के इस युग को पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार (Reformation) के नाम से विशेष रूप से जाना जाता है। Renaissance का अर्थ है पुनर्जन्म तथा इसे प्राचीन ग्रीस और रोम के ज्ञान में फिर से रुचि लिये जाने के संदर्भ में प्रयोग किया गया किन्तु यह पुनर्जागरण प्राचीन ज्ञान में रुचि तक ही सीमित नहीं था। इसके अंतर्गत धर्म, कला, साहित्य, राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र की सभी वैचारिक एवं दार्शनिक उपलब्धियाँ भी आती थीं जिनका प्राचीन विरासत से अधिक संबंध

नहीं था। इसमें कैथोलिक चर्च का तथा पोप के अधिकार का विरोध भी था जिसके परिणामस्वरूप सोलहवीं शती में प्रोटेस्टैंटवाद का उदय हुआ तथा कैथोलिक धर्म में भी सुधार हुआ जिसे प्रति-सुधारवाद भी कहा जाता है। इस सुधार आंदोलन का यूरोप में धर्म के क्षेत्र से बाहर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन दोनों के आर्थिक और सामाजिक कारण एक ही थे इसलिए उनके सामूहिक प्रभाव ने सामंतवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया और एक नई सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था की नींव रखी। इन सामाजिक एवं आर्थिक सुधारों के साथ-साथ एक दूसरे से संबद्ध अन्य घटनाओं का क्रम चला। संसार एवं इसमें मनुष्य की स्थिति संबंधी चिंतन तथा कला एवं साहित्य के कथ्य एवं शैली में मूलभूत परिवर्तन आया। मानव चिंतन में एक निश्चित परिवर्तन तो यह आया कि अब इसका लक्ष्य दैवी-विषय न रह कर मानव विषयों का अध्ययन हो गया था। साथ ही मानव की व्यापक सृजनात्मक क्षमता में अटूट विश्वास उत्पन्न हुआ। आधुनिक विज्ञान की नींव भी इसी युग में रखी गई। नई राजनीतिक प्रणालियों तथा राजनीतिक सिद्धांतों वाले राष्ट्र-राज्यों का उदय भी इसी युग में हुआ। यह युग भौगोलिक खोजों के लिए भी महत्वपूर्ण है। नये देशों की खोज में की जाने वाली समुद्री यात्राओं से पहली बार विश्व के सभी भाग एक दूसरे से संपर्क में आए।

इन सभी घटनाओं को पारस्परिक अंतर्संबंधों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। अतः उचित होगा कि पहले हम उस युग की सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डाल लें जिसमें ये परिवर्तन हुए।

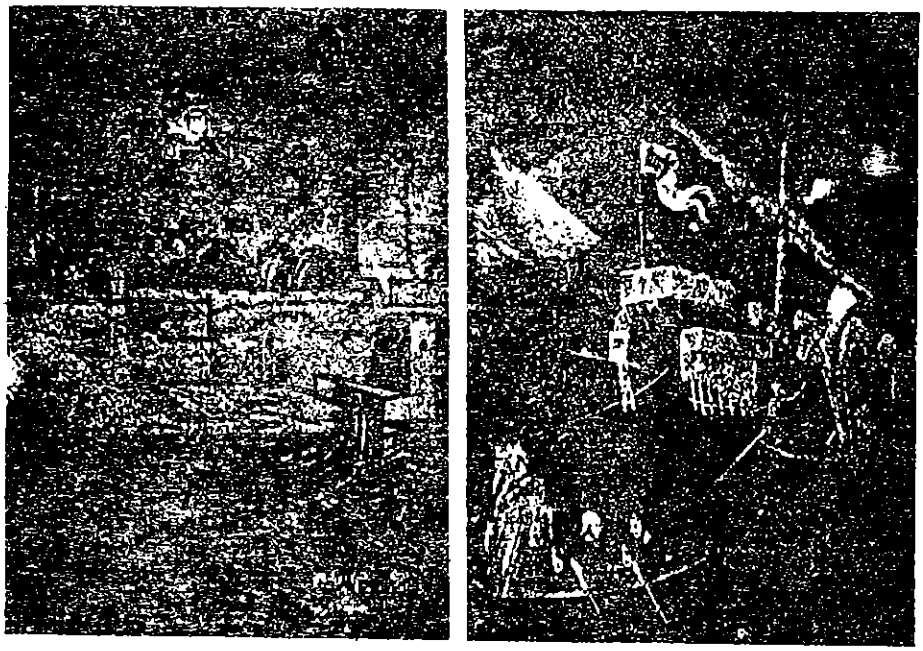

14. उस युग के जहाज़

8.2 सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि

आप पहले ही सामंतवाद का अध्ययन कर चुके हैं। सामंतवाद मध्ययुगीन यूरोपीय समाजों का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण था। सामंतवाद के पतन के कारणों से भी आप परिचित हैं।

व्यापार के बढ़ने के साथ ही शहरों का विकास हुआ। पुराने शहरों का विस्तार तथा कई नए शहरों का जन्म हुआ। चार दीवारी से घिरे ये शहर धीरे-धीरे सामंतवाद से मुक्त होते गए। इन शहरों की अपनी सरकार होती थी तथा नागरिक अपने अधिकारियों का चुनाव करते थे। उनकी अपनी सेनाएँ और न्यायालय भी होते थे। सामंतवादी व्यवस्था, जिसमें कृषिदासों के आने-जाने पर पाबंदी थी, के विपरीत इन नागरिकों के शहरों में आने-जाने पर कोई पाबंदी नहीं थी। वे अपनी इच्छानुसार कहीं भी आ-जा सकते थे तथा संपत्ति खरीद और बेच सकते थे। एक पुरानी मध्ययुगीन कहावत है कि "शहरी हवा आदमी को मुक्त कर देती है।" सामंतवादी व्यवस्था के चंगुल से निकल कर भागे हुए कृषिदासों को इन शहरों में शरण मिलती थी। शहरों के विस्तार से

नकद-फसलों (Cash Crops) की खेती को बढ़ावा मिला। ये फसलें शहरी उत्पादनों में काम आती थीं। कृषकों को अपनी फसलों के बदले नकद पैसा मिलता था जिससे वे जमीदारों को शुल्क चुकाते थे और उनके लिए जमींदार के खेतों में बेगार करना आवश्यक नहीं होता था। सामंतवादी व्यवस्था में गढ़ी (Manor) न्यूनाधिक रूप से आत्मावलबी होती थी। इस व्यवस्था मे बहुत कम वस्तुओं को खरीदने अथवा बेचने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार की जो आवश्यकता होती भी थी तो उसे वस्तु-विनिमय द्वारा पूरा कर लिया जाता था। व्यापार मे वृद्धि क कारण मुद्रा का प्रयोग बढ़ा तथा यह अर्थव्यवस्था में होने वाले दूरगामी परिणामों की ओर इशारा करता था।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था : सामंतकाल में भी विशेषाधिकार संपन्न लोगों के पास सोने और चाँदी के रूप में धन तो होता था किन्तु यह अनुपयोगी धन था। व्यापार और उद्योगों में विकास होने के साथ ही यह स्थिति बदलती गई। सामंतवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई जिसमें धन सामान्यतया मुद्रा के रूप में लाभ कमाने के लिए उपयोग में लाया जाता था। ऐसा करने के लिए व्यापार-धंधों एवं उद्योगों में मुद्रा का निवेश किया जाता था। इससे प्राप्त होने वाले लाभांशों को पुनः निवेशित करके और लाभ कमाया जाता था। इस प्रकार निवेशित किये जाने वाले धन या मुद्रा को पूँजी कहा जाता है। मुद्रा अधिकाधिक रूप से आदमी की संपत्ति की माप होती गई। सामंतवादी समाज में तीन वर्ग होते थे- प्रार्थना करने वाले पादरियों का वर्ग जिनका कार्य था प्रार्थना करना, योद्धाओं का वर्ग जिनका कार्य था युद्ध करना तथा कामगारों—कृषकों का वर्ग, जो इन दोनों वर्गों के खेतों में काम करता था। व्यापार वृद्धि के साथ एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ—मध्यवर्ग—जिसमें अधिकांशतया व्यापारी थे। संख्या में कम होने पर भी संपत्तिशाली होने

15. बाज़ार का दृश्य

के कारण समाज में इस वर्ग का स्थान महत्वपूर्ण होता गया। आरंभ में, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मुख्य रूप से पूर्वी देशों से आने वाली भोग विलास की वस्तुओं के आयात पर ही आधारित था। इस व्यापार का नियंत्रण इतालवी शहरों एवं दक्षिणी जर्मनी के व्यापारियों के हाथ में था। इन शहरों में प्रमुख थे—वेनिस, जेनेवा तथा पीसा। पंद्रहवीं शती के अंत में हुई भौगोलिक खोजों, अमेरिका के दो महाद्वीपों की खोज तथा पूर्वी देशों के लिए समुद्री मार्ग की खोज ने व्यापार का रूप ही बदल दिया। इन खोजों में पुर्तगाल और स्पेन सबसे आगे थे इसलिए पहले तो व्यापार पर इन दोनों का प्रभुत्व रहा फिर धीरे-धीरे हालैंड और ब्रिटेन इस पर छा गए।

इन परिवर्तनों के साथ ही वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आया। मध्ययुग के आरंभ में कृषक कृषि क्षेत्र के बाहर की अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं बना लिया करता था। जमींदारों की आवश्यकता की वस्तुओं को विभिन्न शिल्पों में दक्ष कृषिदास बनाते थे। ये शिल्पी संघों में संगठित थे उदाहरण के लिए, नानाबाइयों, बुनकरों और रंगरेजों के अपने-अपने संघ होते थे। प्रत्येक शिल्प संघ में दक्ष कारीगर (उस्ताद), नौसिखिये और वेतन पर काम करने वाले कारीगर अथवा मिस्त्री होते थे। किसी भी शिल्प को सीखने के लिए व्यक्ति को उस संघ के

16. अमरीकी रेड-इंडियनों द्वारा कोलम्बस का विरोध

उस्ताद (दक्ष कारीगर) का चेला बनाना पड़ता था। कारीगरी सीख चुकने के पश्चात् या तो वह उस्ताद के अधीन मिस्त्री हो जाता था और पारिश्रमिक पर कार्य करता था अथवा शिल्प पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर वह स्वयं भी उस्ताद बन सकता था।

उत्पादन करने वाली इकाइयाँ छोटी होती थीं। एक इकाई में तीन-चार सदस्य होते थे। इनके पास अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए एक दुकान होती थी। एक ही संघ की इकाइयों के बीच अथवा एक ही इकाई के सदस्यों के बीच किसी तरह का भेदभाव नहीं होता था। प्रतिस्पर्धा करने वालों को संघ कार्य करने की अनुमति नहीं देता था। इससे वस्तु की गुणवत्ता बनी रहती थी, व्यापार में ईमानदारी रहती थी तथा कीमतें भी स्थिर रहती थीं।

व्यापार में वृद्धि के साथ वस्तुओं की माँग बढ़ती गई जिसे पूरा करना संघ प्रणाली के लिए संभव नहीं था। अतः धीरे-धीरे संघ प्रणाली लुप्त होती गई और उसका स्थान पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था ने ले लिया। व्यवस्था में असमानताओं का प्रवेश हो गया। उस्ताद अपने अधीन मिस्त्रियों को उस्ताद नहीं बनने देते थे तथा बहुत कम पारिश्रमिक पर उनसे काम करवाते थे। घरेलू उत्पादन प्रणाली के प्रचलन के साथ उस्ताद कारीगर की स्वतंत्रता में कमी आई। इस प्रणाली के अंतर्गत व्यापारी कच्चा माल उस्तादों को दे जाते थे जो अपने औजारों से घर पर ही उस माल से वस्तुएँ बनाते थे। वस्तुएँ तैयार हो जाने पर व्यापारी आकर उन्हें ले जाते थे। अब पहले की भाँति कच्चे माल या उन वस्तुओं को बेचने पर कारीगरों का अधिकार नहीं होता था। दिनोंदिन उनकी स्थिति मजदूरों जैसी होती गई यद्यपि अब भी औजार उनके अपने होते थे तथा काम भी वे घर पर ही रहकर करते थे।

धीरे-धीरे यह प्रणाली भी लुप्त होती गई और इसका स्थान कारखाना प्रणाली ने ले लिया। इस प्रणाली के अंतर्गत उत्पादन एक स्थान पर मशीनों की सहायता से किया जाता था। कारखानों की इमारतें तथा मशीनें दोनों पूँजीपति की संपत्ति होती थीं। इन पर कामगार का कोई स्वामित्व नहीं होता था। वह केवल मजदूरी के लिए कार्य करता था। खनन उद्योग एवं धातु उद्योग जैसे बड़े उद्योगों में, जहाँ ज्यादा पूँजी की आवश्यकता थी, पूँजीवाद का आगमन पहले हुआ। इनमें कच्चे माल से लेकर कल-कारखाने तक सब पूँजीपति की संपत्ति होते थे। कामगार केवल मजदूरी करते थे। इस काल में उत्पादन में बहुत अधिक विस्तार हुआ। इसके साथ ही शहरों में सामाजिक विभेदीकरण बढ़ा तथा कामगार वर्ग का उदय हुआ। जिस प्रकार सामंतवादी युग के पतन-काल में कृषक विद्रोह हुआ उसी प्रकार पूँजीवाद के उदय-काल में शहरी निर्धनों के विद्रोह हुए।

8.3 पुनर्जागरण

पुनर्जागरण अथवा रेनेसाँ का अर्थ है पुनर्जन्म। संकीर्ण अर्थ में इसे यूनान एवं रोम की प्राचीन सभ्यताओं में पुनः रुचि जागृत होने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इन सभ्यताओं के प्राचीन ज्ञान एवं अन्य उपलब्धियों ने यूरोपवासियों को गहरे रूप से प्रभावित किया था। तथापि पुनर्जागरण प्राचीन ज्ञान में रुचि के पुनः जागृत होने तक ही सीमित नहीं था। यह काल कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा राजनीति के क्षेत्र में नई-नई बातों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शताब्दियों से यूरोप के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन पर कैथोलिक चर्च का प्रभुत्व रहा था। पुनर्जागरण ने इस प्रभुत्व को कम किया। ईसाई-युग से पूर्व के ज्ञान का पुनर्जागरण तथा प्राचीन रोम एवं यूनान की सांस्कृतिक उपलब्धियों में रुचि का बढ़ना भी अपने आप में चर्चा के प्रभुत्व को कम करना था। इससे भी आगे बढ़कर पुनर्जागरण ने चिंतन के नए ढंग को जन्म दिया।

8.3.1 मानववाद

पुनर्जागरण के चिंतन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी मानववाद। इसके अंतर्गत चिंतन का रुख निश्चित रूप से दैवी-विषयों से हटकर मानवीय विषयों की ओर हो गया। मानववाद मानव की महिमा मानता था, मानव की अनिवार्य श्रेष्ठता और गरिमा पर बल देता था मानव की व्यापक सृजन-शक्ति की क्षमता में उसकी अटूट आस्था थी, वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके अविच्छिन्न अधिकारों की घोषणा करता था। मानववाद ऐसे मानव की धारणा पर केंद्रित था जो लौकिक सुखों का त्याग नहीं करता, जो मानव शरीर की सुंदरता और गरिमा को पहचानता है जो धार्मिक तप-त्याग का विरोध करता है तथा सांसारिक इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को तुष्ट करने के मानव के अधिकार की वकालत करता है। इसका अर्थ था मनुष्य एवं मानव-प्रकृति को

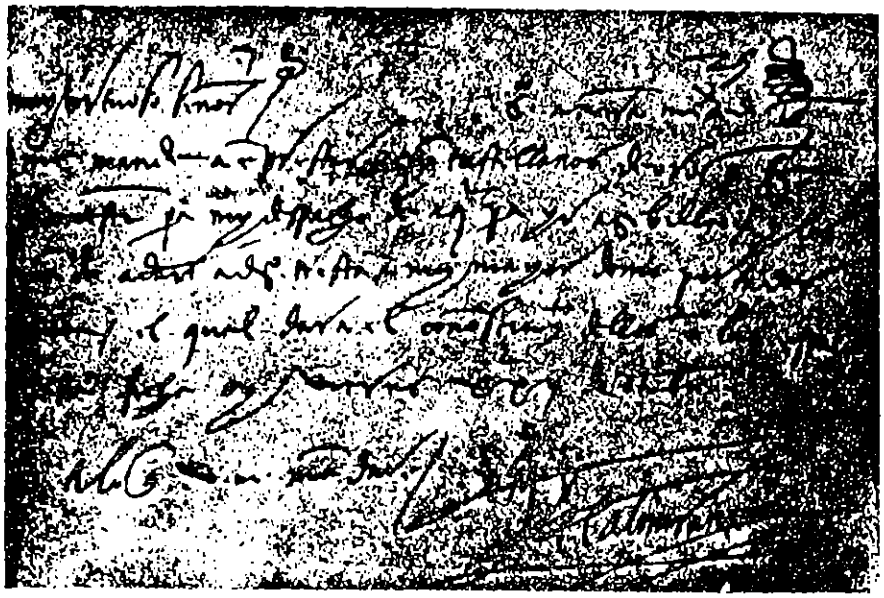

17. कोलम्बस को भारत की यात्रा करने की आज्ञा देने वाला एक राजकीय पत्र

गौरवपूर्ण समझना और इस कैथोलिक विश्वास का खंडन करना कि मानव अस्तित्व की शुरुआत पाप से हुई। मानववादी न केवल शरीर को कष्ट देने वाले धार्मिक अनुष्ठानों एवं वैराग्य का विरोध करते थे अपितु इनका उपहास भी करते थे। वे मानव को इसी धरती पर सुख खोजने और उसे भोगने की सलाह देते थे। मृत्यु पश्चात् स्वर्ग-सुखों की राह दिखाने के चर्च के दावे का विरोध करते थे। मानववाद के ग्रंथों में यह आस्था दिखाई पड़ी है कि स्वस्थ शरीर एवं मन का स्वामी कोई भी व्यक्ति संसार को समझने, उसका नियंत्रण करने के साथ-साथ स्वयं अपने सुख की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है। इन विचारों ने उत्तरोत्तर दैवी क्षेत्र का ह्रास और मानव क्षेत्र का विस्तार किया।

पंद्रहवीं शती में इटली में पीको देल्ला मिरोन्दौला (Pico della Marendola) नाम का एक मानववादी था। उसने बहुत भ्रमण किया, और अनेक दार्शनिक प्रणालियों का अध्ययन किया और नौ सौ शोध-प्रबंधों की सूची प्रकाशित की। उसके लेखन के निम्नांकित उद्धरणों में मानव की असीम संभावनाओं में पुनर्जागरण-कालीन आस्था देखी जा सकती है:

"मानव से बढ़कर आश्चर्यजनक और कुछ नहीं है," यह बात मैंने कतिपय अरबी अभिलेखों में पढ़ी है। एक प्रसिद्ध यूनानवासी का कहना था, "एक महान् आश्चर्य है मानव।"

इन सब कहावतों का क्या तात्पर्य है? ईश्वर और देवदूतों से नीचे जितने भी प्राणी हैं मनुष्य उन सबका राजा है क्योंकि उसके पास तर्क क्षमता और बुद्धि है किन्तु ये कारण पर्याप्त नहीं हैं।

"प्राणियों में मानव ही सबसे अधिक भाग्यशाली है। क्यों? क्योंकि मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जिसकी क्षमता को ईश्वर ने सीमित नहीं किया। केवल मानव को ही चयन की स्वतंत्रता है और जिस रूप में चाहे अपने को ढाल सकता है। वह चाहे तो अपने आपको पाशविकता की सीमा तक गिरा ले। शारीरिक शक्ति एवं सहज बोध जीवित रहने में उसके सहायक हैं या वह चाहे तो अपनी बुद्धिमता का प्रयोग करके अपने आपको इतना ऊँचा उठा ले कि देवता-तुल्य हो जाए।

प्राचीन बेबीलोनवासियों का कहना था, "मनुष्य वैविध्यपूरक प्रकृति का प्राणी है।" इस बात पर क्यों बल दिया जाता है? इसलिए कि हम मानते हैं कि हम जो चाहें बन सकते हैं।

"अपने आपको पहचानो" इसके द्वारा हमें समस्त प्रकृति की खोज करने की प्रेरणा दी जा रही है। जो भी व्यक्ति अपने आपको जानता है वह सब कुछ जानता है।

8.3.2 धर्मनिरपेक्षता

यदि हम रेनेसाँ काल के संसार संबंधी दृष्टिकोण की तुलना मध्ययुगीन दृष्टिकोण से करें तो इन दोनों दृष्टिकोणों में बहुत अंतर दिखाई देगा। रेनेसाँ काल में मध्ययुग की धार्मिक पारलौकिकता का स्थान मानववादी इहलौकिकता ने ले लिया। मानववादी की रुचि देवताओं, देवदूतों और शैतानों की अपेक्षा अपने चारों ओर के भौतिक विश्व और इससे संबंधित बातों में अधिक थी

जबकि मध्ययुग के धार्मिक लोगों की रुचि देवताओं, देवदूतों और शैतानों में ही थी। मानववादी की चिंता यह थी कि किस प्रकार इस छोटे से जीवन को अधिक से अधिक सफल बनाया जाए जबकि मध्ययुगीन लोग इस जीवन को मृत्यु पश्चात् प्राप्त होने वाले सुखी जीवन की दुखद् भूमिका मात्र मानते थे। मानव के संसार संबंधी दृष्टिकोण का जो यह रूपान्तरण हुआ, और जिसका आरंभ पुनर्जागरण काल में हुआ, इसे धर्म से धर्मनिरपेक्षता की ओर गमन का संकेत समझना चाहिए। पुनर्जागरण की इस नई बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना ने चर्च की व्यवस्था को भी अछूता नहीं छोड़ा। इसका प्रभाव चर्च के उच्च स्तरों पर अधिक हुआ जो धनाढ्य थे उदाहरण के लिए लियो दशम (1513-1521) जब पोप बना तो उसने कहा "ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस पोप पद का हमें उपभोग करना चाहिए।"

बोध प्रश्न 1

1 यूरोप में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना करने में सहायक तत्वों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में से कौन से सही हैं और कौन से गलत (✓ या × का निशान लगायें)

i) यूरोप में पुनर्जागरण के काल में नागरिकों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये जाते थे।

ii) सामन्ती समाज एक वर्गहीन समाज् था।

iii) मानवतावाद पुनर्जागरण की महान् देन था।

iv) पुनर्जागरण ने धर्मनिरपेक्ष विचारों के विकास में योगदान दिया।

3 मानवतावाद से आप क्या समझते हैं? पाँच पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 पुनर्जागरण-कालीन साहित्य

पुनर्जागरण काल के साहित्य, चित्रकला, भवन निर्माण कला एवं मूर्तिकला ने मानववादी विचारों को कलात्मक अभिव्यक्ति दी। इस कला के कुछ महानतम् लेखक, कवि और नाटककार थे इटली के पेट्रार्क (Petrarch) और बोकाचियों (Boccaccio) फ्रांस में रेबेले (Rabelias) हालैंड में एरेसमस (Erasmus) जर्मनी में वौम हयूटेन (Von Hutten) स्पेन में सर्वन्टीज (Cervantes) तथा इंग्लैंड में शेक्सपियर (Shakespeare)। उनके लेखन के विषयों का धर्म अथवा पवित्रता, त्याग इत्यादि से कोई संबंध नहीं था अपितु उनमें प्राय: विद्रोही और चर्च विरोधी तत्व मिलते हैं।

पुनर्जागरण और उसके पश्चात् के साहित्यिक लेखन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता स्थानीय भाषाओं का प्रयोग थी। चौदहवीं शती तक जन-सामान्य लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं जैसे इतालवी, स्पेनी, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी इत्यादि में लेखन नहीं के बराबर था। शताब्दियों से विद्वता और साहित्य की भाषा लैटिन ही रही थी जिसे मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग ही समझ सकते थे। पुनर्जागरण इन स्थानीय भाषाओं के उदय और विकास का भी काल है। थोड़े ही समय में इन भाषाओं ने कविता, नाटक और कथा साहित्य में लैटिन का स्थान ले लिया। फिर भी लैटिन कुछ और समय तक दर्शन तथा विज्ञान की भाषा बनी रही।

यह बात स्मरणीय है कि पंद्रहवीं शती के अंत तक यूरोप में उपलब्ध पुस्तकों की कुल संख्या बहुत कम थी। "ग्युटेनवर्ग बाइबिल" सबसे पहले छपने वाली पुस्तक थी जो 1456 में प्रकाशित हुई

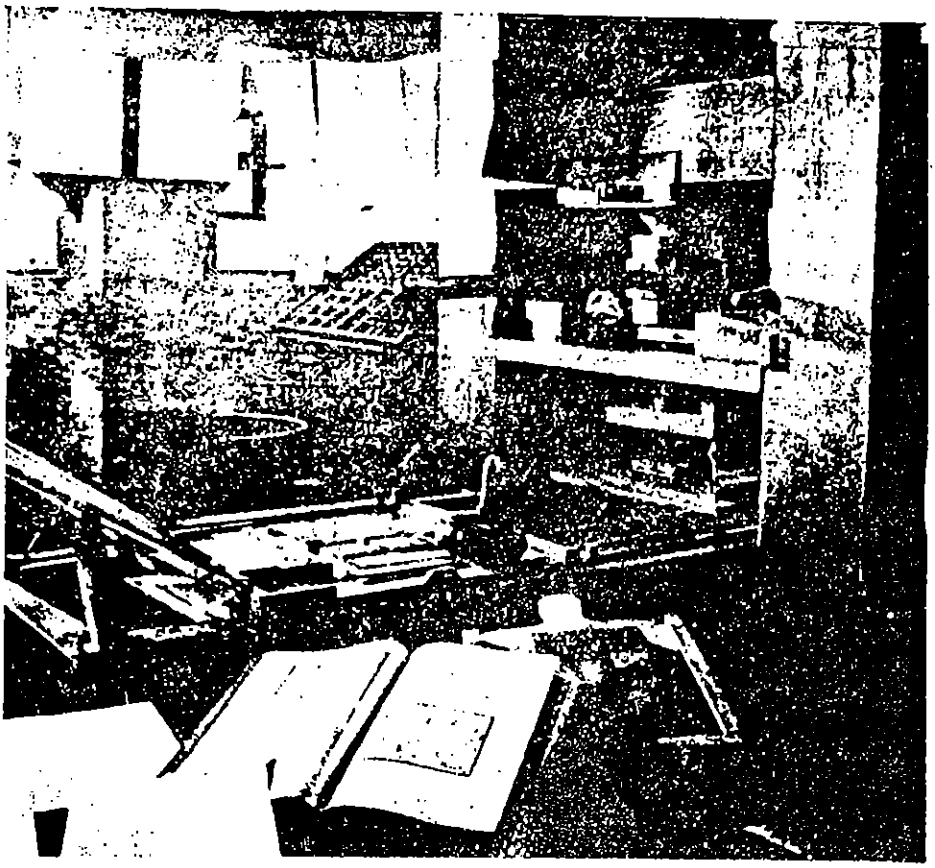

18. एक आरम्भिक छापाखाना

थी। मुद्रणकला के आविष्कार से पहले पुस्तकें हाथ से ही लिखी जाती थीं। उनकी प्रतियाँ भी हस्तलिखित ही होती थीं और अधिकांशतया वे मठों के पुस्तकालयों में उपलब्ध होती थीं। अतः पढ़े-लिखे लोगों के पास भी पढ़ने के लिए पुस्तकों का अभाव था। अधिकांशतः लोग तो पढ़ना-लिखना जानते ही नहीं थे। अनुमान है कि पंद्रहवी शती के पूर्वार्ध में यूरोप भर में लगभग एक लाख हस्तलिखित पुस्तकें उपलब्ध थीं। मुद्रण का आविष्कार होने के पचास वर्ष के अन्दर ही पुस्तकों की संख्या बढ़कर नब्बे लाख हो गई। यह एक बहुत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी किन्तु इसका प्रभाव बहुत समय बाद ही अनुभव किया जा सका। छपी हुई पुस्तकें भी बहुत महँगी होती थीं और केवल धनवान लोग ही उन्हें खरीद सकते थे। यद्यपि पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अब भी कम थी फिर भी मुद्रणकला के आविष्कार ने भविष्य के लिए अनंत संभावनाएँ खोल दी थीं। इसने निश्चित रूप से समाज को प्रभावित किया।

शैली और विषयवस्तु में परिवर्तन आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में लिखे जाने वाले पुनर्जागरण-कालीन साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। आरंभ में लैटिन साहित्यिक शैली को ही आधार बनाया गया। शैली का परिवर्तन सबसे पहले कविता में दिखाई देता है। दरबारी कवियों के अनुकरण को छोड़कर नए पदबंधों को एवं विषयों को अपनाया गया। वे विषय उत्तरोत्तर धर्मनिरपेक्ष होते गए। नाटक में भी महत्वपूर्ण विकास हुए और उसमें व्यंग का प्रयोग बढ़ा। गद्य लेखन में महत्वपूर्ण विकास हुआ। पहले गद्य का प्रयोग केवल विद्वतापूर्ण विवेचना के लिए ही होता था। कहानियाँ कविता के रूप में लिखी जाती थीं। अब कथा साहित्य का माध्यम गद्य हो गया और गद्य कला एक महत्वपूर्ण साहित्यिक विद्या के रूप में उभर कर सामने आई।

इस क्षेत्र में बोकाचियों की डी-केमरन (De Cameron) अग्रणी रचना थी। मूलतः यह इतालवी कहानियों का संग्रह था और इसने समस्त यूरोप के पुनर्जागरण-कालीन गद्य लेखन को प्रभावित किया।

8.5 कला और शिल्प

पुनर्जागरण काल की कुछेक सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला के क्षेत्र में थीं। उस काल के मानववाद को इन कला रूपों में सुन्दर अभिव्यक्ति मिली। पुनर्जागरण काल के कलाकारों के विषय तो बाइबिल से ही संबंधित होते थे किन्तु उनकी व्याख्या इस प्रकार की जाती थी कि पारंपरिक धार्मिक दृष्टिकोण से उसका कोई संबंध नहीं होता था। एक स्वतंत्र गतिविधि के रूप में कला को ऐसा स्थान प्राप्त हुआ जैसा पहले मध्य-युग में कभी नहीं मिला था। मध्य-युग कला का प्रयोजन नैतिक मूल्यों को उद्घाटित करना और धार्मिक शिक्षा प्रदान करना था। कला में चित्रित लोग सामान्य हाड़-मांस के नर-नारी नहीं होते थे। इनको बनाने वाले कलाकार अधिकांशतया अनाम होते थे और समाज में इनका निम्न स्थान होता था। वे कारीगरों की भाँति समूहों में कार्य करते थे और उनका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं होता था। पुनर्जागरण में कलाकारों को ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ और समाज में उन्हें मान-मर्यादा मिली। अब प्रत्येक कलाकार का अपना अलग व्यक्तित्व और शैली होती थी। धनाढ्य व्यापारियों, राजाओं और चर्च

19. (अ) लियोनार्दो दा विंची द्वारा चित्रित मोना लिसा (आ) रेफल की चित्रकारी 'मडोना'

19. (इ) 'सिस्तीन' निजी प्रार्थनालय (चैपल) में माइकेल एन्जेलो द्वारा निर्मित भित्ति-चित्र

के बीच कलाकारों को आश्रय देने की होड़ लगी रहती थी। अब कलाकृत्तियों में निहित सौंदर्य गुण के लिए उनकी प्रशंसा की जाती थी और उन्हें कलाकारों की व्यक्तिगत उपलब्धि का प्रमाण माना जाता था।

सभी कला रूपों में पुनर्जागरण की सर्वप्रमुख उपलब्धि चित्रकला के क्षेत्र में थी। इस युग के कलाकार कला को जीवन का रूप मानते थे। इसके लिए वे मानव, प्रकृति, पर्वत, पेड़-पौधों, पशुओं और मानव-शरीर की रचना का बारीकी से अध्ययन करना आवश्यक समझते थे। इन कलाकारों ने प्रकाश विज्ञान (Optics) एवं ज्यामिति का अध्ययन किया तथा इस ज्ञान का प्रयोग उन्होंने अपने चित्रों में परिप्रेक्ष्य लाने में किया। इन चित्रों में आकाशीय परिप्रेक्ष्य भी होता था। उन्होंने मानव शरीर रचना का अध्ययन किया ताकि मानव की विभिन्न भंगिमाओं एवं अभिव्यक्तियों के पीछे निहित तंत्र को समझ सकें उदाहरण के लिए लियोनार्दो दा विंची (Leonardo da Vinci) न केवल मानव शरीर रचना का ही अध्ययन करता था अपितु इस बात का भी कि गतिशीलता की विभिन्न स्थितियों में विभिन्न अंगों का आकार कैसा होता है। लियानार्दो चित्रकला को एक विज्ञान मानता था।

पुनर्जागरण-कालीन कला के महत्व तथा मध्यकालीन कला से इसके अंतर को समझने के लिए इन दोनों कालों की चित्रकृतियों की अनुकृतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है। ये अनुकृतियाँ कला इतिहास के सचित्र ग्रंथों में देखी जा सकती हैं। इनमें किसी कलाकार विशेष या कलाकृति विशेष के संबंध में विस्तृत जानकारी नहीं दी गई है। आप पुनर्जागरण-कालीन निम्नलिखित चित्रकृतियों को देखकर उनके संबंध में जानकारी एकत्रित कर सकते हैं।

बॉटिचेलि की 'ऐलिगरी ऑव स्प्रिंग' और 'बर्थ ऑव वीनस' लियोनार्दो द विंची की 'वर्जिन ऑव दि रॉक्स' 'लास्ट सपर' और 'मोनालीसा' रैफेल की 'स्कूल ऑव ऐथेंस' और 'सिस्टीन एंड मेडोना' तथा रोम में सिस्टीन गिरजा घर की दीवारों एवं छत पर चित्रित माइकेल ऐंजेलो के चित्रों की शृंखला।

चित्रकला की भाँति ही पुनर्जागरण काल में शिल्पकला भी विकसित हुई। मध्य-युग में शिल्पकला धार्मिक विषयों से जुड़ी हुई थी और शिल्पी संतों इत्यादि की मूर्तियाँ बनाते थे। पुनर्जागरण काल में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह हुई कि स्वतंत्र शिल्पकला का उदय हुआ। वास्तुकला भी अब धार्मिक माध्यम न रहकर एक स्वतंत्र कला के रूप में उदित हुई। जैसा कि चित्रकला के क्षेत्र में हुआ शरीर रचना की अधिकाधिक जानकारी और सौंदर्य के नए प्रतिमानों ने शिल्पकला के विकास को भी प्रभावित किया।

बारहवीं और तेरहवीं शतियों से गौथिक वास्तुकला चर्चों और गिरजाघरों का प्रमुख शिल्प रही थी। पुनर्जागरण के साथ ही गौथिक वास्तुकला के पतन का आरंभ हो गया। इस वास्तुकला की प्रमुख विशेषताएँ थी कमानीदार तोरण, नुकीलीं मेहराबें (arches) और पुश्ते (buttresses)। गौथिक भवनों पर ऊँची मीनारें होती थी। इनकी खिड़कियों के शीशे चित्रित थे तथा इनके अग्रभागों पर पौराणिक चरित्रों एवं जीवों की उकेरी हुई आकृतियों से सजावट की जाती थी। पुनर्जागरण काल के वास्तुकारों की दृष्टि में गौथिक वास्तुकला वैराग्यपूर्ण और पारलौकिक थी

20. माइकेल एन्जेलो द्वारा संगमरमर पर उकेरा गया सेन्तूर का युद्ध, 1492 मूर्तिकला के माध्यम से मानवीयता की सुन्दर अभिव्यक्ति का नमूना

और इसकी भर्त्सना करने के लिए उन्होंने इसे गौथिक नाम दिया जिसका अर्थ था असंस्कृत अथवा बर्बर। अतः वास्तुकला की नई शैलियाँ विकसित होने लगीं जो पहले इटली में तथा बाद में समस्त यूरोप में प्रचलित हुईं। ये नई शैलियाँ प्राचीन रोम की वास्तुकला के अध्ययन पर आधारित थीं। इस नई शैली का सर्वोत्तम उदाहरण रोम में स्थित सेंट पीटर का चर्च है। इस शैली में बने अधिकांश भवन चर्च हैं। कहा जाता है इनमें अभिव्यक्त आदर्श पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष हैं, लौकिक जीवन का आनंद लेना और मानव उपलब्धियों पर गर्व करना इनका सार है।

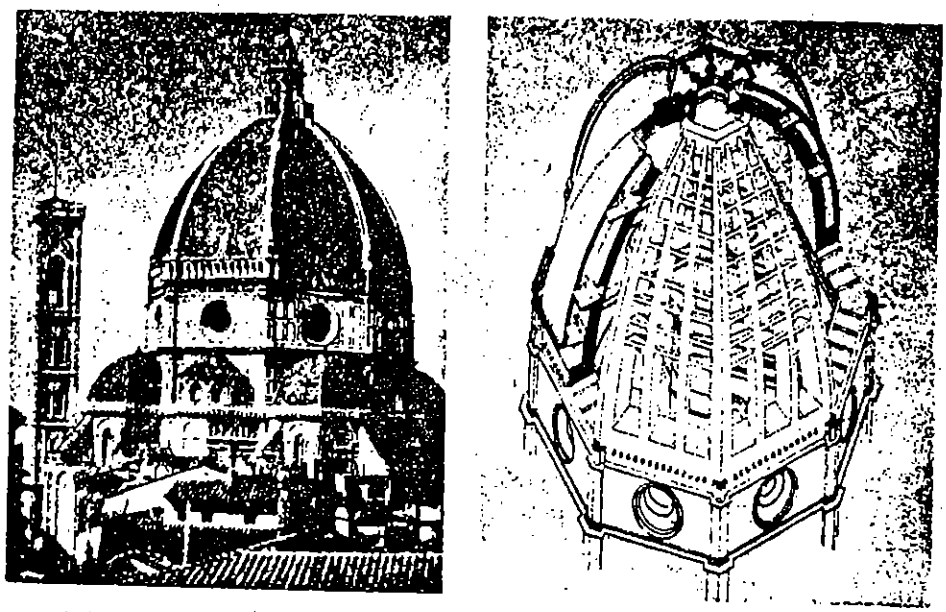

21. (अ) फ्लोरेंस के विशाल गिरजाघर का गुम्बद (आ) फ्लोरेंस के विशाल गिरजाघर के गुम्बद की बनावट को दिखाता हुआ आरेख

8.6 दर्शन

पुनर्जागरण से पूर्व मध्य-युगीन यूरोप का प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत था पांडित्यवाद। पांडित्यवाद तर्कबुद्धि एवं आत्मा के समन्वय का प्रयास था जिसका लक्ष्य मूलतः धर्मशास्त्र का हित पोषण करना था। इसका आधार था तर्क और यह विज्ञान एवं प्रयोग का विरोधी था। इस दर्शन की मान्यता थी कि इंद्रिय अवबोध केवल प्रतीति (appearance) का ज्ञान दे सकता है यथार्थ का नहीं जिसे केवल तर्कबुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता है इसमें इंद्रिय अवबोधों की कोई भूमिका नहीं होती। इस दर्शन का लक्ष्य था ईसाई सिद्धांत को व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित करना और उसे संभावित अंतर्विरोधों से मुक्त करना। इसके लिए तर्कबुद्धि ही पर्याप्त नहीं थी। अतः इसका एक और आधार बनाया गया और वह था धर्मग्रंथों का प्रभाव। इस सिद्धांत की स्वीकृति का आधार तथ्य न होकर धर्मग्रथों अथवा, अधिकारी व्यक्ति द्वारा दी गई वैधता था। इन पांडित्यवादियों में कुछ ऐसे अवश्य थे जो सत्य की प्राप्ति के लिए प्रश्न पूछने और निरंतर जिज्ञासा के महत्व पर बल देते थे। ये आस्था की अपेक्षा तर्कबुद्धि को अधिक महत्व देते थे। किन्तु ऐसे पांडित्यावादियों की संख्या कम थी। पुनर्जागरण के चिंतकों ने पांडित्यवाद का विरोध यह कह कर किया कि यह अपने आप में सीमित दर्शन था। इसके चक्रीय तर्क circular reasoning एक ऐसी बंद पद्धति के भीतर सीमित थे जिसकी स्थापनाओं का वास्तविकता से कोई संबंध नहीं था। पुनर्जागरण-कालीन चिंतकों का दावा था कि बाहर निकल कर और प्रकृति रूपी पुस्तक का बौद्धिक और मानसिक स्तर पर अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लियोनार्दो दा विंची जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है धर्मशास्त्र के प्रमाण को ज्ञान का स्रोत मानने की भर्त्सना करता था। वह ज्ञान प्राप्ति की आगमनात्मक (Inductive) पद्धति को अपनाने पर बल देता था। पांडित्यवाद और उसकी अनुमानात्मक पद्धतियों की प्रतिक्रियास्वरूप अनुभववाद (Empiricism) का जन्म हुआ। अनुभववाद को एक ऐसी पद्धति के रूप में परिमाणित किया जा सकता है जिसकी मान्यता है कि इंद्रियगम्य अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। इसकी दृढ़ धारणा है कि ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है और अनुभव के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अनुभववाद के अग्रणी विचारक फ्रांसिस बेकन पांडित्यवादियों की अनुमानात्मक पद्धति के विपरीत आगमनात्मक पद्धति पर बल देता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए यह पद्धति अवलोकन, प्रयोग, तथ्य को एकत्रित करने तथा

उनका वर्गीकरण करके सामान्य नियम बनाने की प्रक्रिया अपनाती है। इसके लिए आवश्यक है कि पूर्वनिश्चित धारणाओं, व्यक्तिगत पूर्वग्रहों तथा आलंकारिक शैली के दोषों को त्याग दिया जाए तथा किन्ही भी धारणाओं को भले ही वे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों, शाश्वत सत्य नहीं माना जाय। बेकन के विचारों के सीधे परिणामस्वरूप प्रथम प्रभावी वैज्ञानिक संस्था इग्लैंड की रॉयल सोसायटी की स्थापना हुई। सीमाओं के बावजूद अनुभववाद ने विगत से चिंतन का नाता तोड़कर आधुनिक विज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया। अनुभववादियों की यह मान्यता थी कि यह भौतिक विश्व प्राकृतिक नियमों के अधीन है, जिनकी खोज करके मानवजाति का कल्याण किया जा सकता है। अनुभववादी मानते थे कि मानव व्यापारों को समझने के लिए भी सही प्रकार के नियमं की खोज की जा सकती है।

एक अन्य दर्शन जिसने यूरोप के बौद्धिक जीवन पर पांडित्यवाद एवं चर्च की प्रभुता समाप्त करने एवं विज्ञान की अभिवृद्धि में सहायता की, देकार्त के नाम से जुड़ा हुआ है। देकार्त की मान्यता थी कि विचारों की स्पष्टता द्वारा वह सब कुछ जाना जा सकता है जो जानने योग्य है। इसके लिए उसने निगमनात्मक चिंतन एवं प्रयोग की सहायता लेने पर बल दिया। निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) स्थापनाओं के तर्कपूरक निर्माण तथा उनके आंतरिक बुद्धिपरक संबंधों से आरंभ करके तथ्यों के अवलोकन और परीक्षण से उन स्थापनाओं की प्रमाणिकता सिद्ध करती है। आगमनात्मक प्रणाली तथ्यों के अवलोकन से आरंभ करके गवेषणा के परिणामस्वरूप तार्किक स्थापनाओं तक पहुँचती है। तथापि देकार्त के दर्शन का लक्ष्य भी बेकन के लक्ष्य की भाँति था। अपने निष्कर्षों के संबंध में वह लिखता है, "इन्होंने (निष्कर्षों) दर्शाया है कि जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान को प्राप्त करना संभव है। यह भी कि विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले अनुमानात्मक दर्शन के स्थान पर एक व्यावहारिक दर्शन रखा जा सकता है। इस व्यावहारिक दर्शन के द्वारा हम अग्नि, जल, पानी, वायु, नक्षत्रों, आकाश तथा अपने आस-पास की समस्त वस्तुओं की शक्ति और कार्य के संबंध में उसी प्रकार स्पष्ट रूप से जान सकते हैं जिस प्रकार हम अपने कारीगरों के विभिन्न व्यवसायों के संबंध में जानते हैं। इस ज्ञान को आवश्यकतानुसार यथोचित रूप से प्रयोग करके हम प्रकृति के स्वामी हो सकते हैं।

8.7 वैज्ञानिक क्रांति का आरंभ

पुनर्जागरण-काल से आधुनिक विज्ञान का आरंभ होता है। सर्वप्रथम उपलब्धि खगोल शास्त्र के क्षेत्र में हुई कॉपरनिकस (Copernicus) ने प्रतिपादित किया कि धरती अपनी धुरी पर घूमती है साथ ही सूर्य की परिक्रमा करती है, इस सिद्धांत ने चिंतन की प्राचीन प्रणाली से नाता तोड़ दिया क्योंकि एक हजार वर्षों से अधिक समय से यह विश्वास चला आ रहा था कि धरती ब्रह्मांड का केन्द्र है। यह विश्वास पांडित्यवादी दर्शन का आधारभूत सिद्धांत था और इसका खंडन करने का अर्थ था ब्रह्मांड की धार्मिक संकल्पना पर आक्रमण करना। ऐसी बात को धर्म विरुद्ध माना जाता था और उसे कहने वाला दंड का पात्र था। कॉपरनिकस की पुस्तक ऑन द रिवोल्यूशन (On the Revolution) 1543 में प्रकाशित हुई और उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। वह चर्च के भय से इसे प्रकाशित करने से हिचक रहा था। कॉपरनिकस के सिद्धांत की प्रामाणिकता को आगे चल कर गैलीलियों ने सिद्ध किया लेकिन एक ऐसे ब्रह्मांड का विचार जिसका पृथ्वी केवल एक छोटा-सा भाग हो बंद ब्रह्मांड की धार्मिक धारणा को ध्वस्त करना था जिसके अनुसार ब्रह्मांड का स्रष्टा और निर्माता ईश्वर था। कॉपरनिकस की पुस्तक प्रकाशित होने के पचास वर्ष पश्चात् सन् 1606 में गियार्दानों ब्रूनो (Giardano Bruno) को धर्म विरुद्ध बात करने के लिए जीवित जला दिया गया। असीम ब्रह्मांड की कल्पना के आधार पर धर्म विरोधी बात कहना ही उसका अपराध था। ब्रह्मांड की नई संकल्पना का निश्चित प्रमाण था दूरबीन जिसे उस युग का महानतम् वैज्ञानिक उपकरण माना जाता है। कॉपरनिकस की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पश्चात् गैलीलियो का जन्म हुआ। गैलीलियो ने दूरबीन की सहायता से आकाशीय पिंडों का अध्ययन किया और गैलीलियो के अवलोकनों ने कॉपरनिकस के सिद्धांत को सही प्रमाणित किया। वृद्धावस्था में गैलीलियो पर अभियोग चलाया गया उसकी भर्त्सना की गई, उसे अपने विचार वापस लेने, पूर्वमत स्वीकार करने पर बाध्य किया गया और दंड दिया गया। उसे वैज्ञानिक परीक्षण जारी रखने की अनुमति दी गई किन्तु इस शर्त पर कि उन परीक्षणों का खगोल विज्ञान से सीधा संबंध न हो। गैलीलियो के अभियोग के साथ ही विज्ञान के इतिहास में एक युग का अंत हुआ। गैलीलियो पर अभियोग लगाए जाने से जनता प्रसन्न नहीं थी। अतः ब्रह्मांड की पुरानी संकल्पना को स्वीकार करवाने के प्रयत्न छोड़ दिए गए।

अ

आ

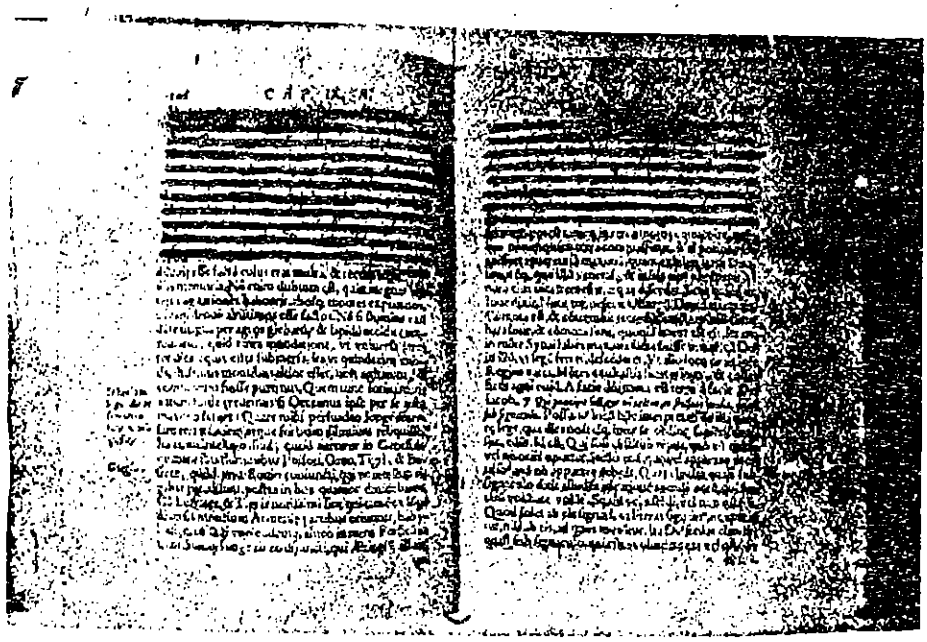

इ

22. (अ) एथेंस विचारधारा के भूगोलविदों का एक समूह
(आ) एथेंस विचारधारा के नक्षत्र वैज्ञानिकों का एक समूह
(इ) चर्च के सेंसर के कारण कॉपरनिकस के विचारों पर लगाई गई कालिख को दिखाती हुई एक जहाज़रानी पुस्तक

अ

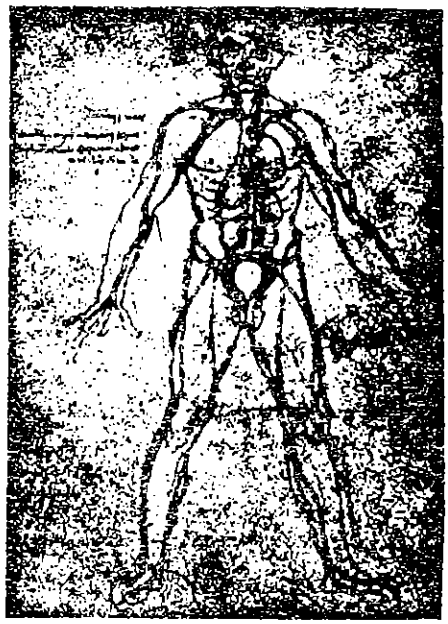

आ

23. (अ) हड्डियों और नसों का अध्ययन, लियोनार्दो दा विंची द्वारा निर्मित एक चित्र
(आ) मानव शरीर विज्ञान का अध्ययन (1490-1500 ई.)

मानव शरीर एवं रक्त संचार के अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण खोजें हुई जिससे कई अंधविश्वासों को दूर करने में सहायता मिली। पुनर्जागरण काल के कलाकारों के शरीर रचना संबंधी अध्ययन का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। 1543 में जिस वर्ष कॉपर्निकस की पुस्तक प्रकाशित हुई वैसेलियस (Vesalius) नामक एक बेल्जियन लेखक की सचित्र पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित हुई जिसका नाम था डी हयूमैनी कॉरपोरिस फेब्रिका (De Humani Corporis Fabrica)। मानव शरीर की चीर-फाड़ पर आधारित इस पुस्तक में पहली बार मानव शरीर रचना का वर्णन मिलता है। सर्वेन्टियस (Cervantes) नाम के स्पेनी लेखक ने शरीर में रक्त-संचार की जानकारी देने वाली पुस्तक प्रकाशित की। उसे मृत्यु-दंड दिया गया क्योंकि उसने चर्च की ट्रिनिटी संबंधी आस्था पर प्रश्न उठाए थे। हृदय से शरीर के अंगों तक तथा पुनः हृदय तक रक्त के संचार का

पूर्ण विवरण अंग्रेज वैज्ञानिक हार्वी (Harvey) की 'ए डेजर्टेशन ऑन द मूवमेंट ऑव द हार्ट' में प्रकाशित हुआ। यह रचना 1610 के लगभग छपी। इस युग ने विज्ञान के क्षेत्र में अनेक महारथी उत्पन्न किये तथा इसमें अनेक महान् खोजें और आविष्कार हुए।

बोध प्रश्न 2

1 लगभग सौ शब्दों में लिखिए कि पुनर्जागरण-काल की कला और वास्तुकला पर मानववाद का क्या प्रभाव पड़ा? इस विषय में अध्ययन केंद्र में अपने कौंउंसलर महोदय के साथ चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नांकित कथनों में कौन से सही हैं और कौन से गलत (✓ या × का चिन्ह लगाइए)

i) पुनर्जागरण काल में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग लोकप्रिय हुआ।

ii) पुनर्जागरण काल में कला धार्मिक विचारों को व्यक्त करने का साधन मात्र थी।

iii) अनुभववाद ने आधुनिक विज्ञान के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

iv) चर्च ने गैलीलियों को उसके आविष्कार के लिए सम्मानित किया।

3 पुनर्जागरण काल में विज्ञान के क्षेत्र में कुछ खोजों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.8 राजनीतिक सिद्धांत

मध्य युग के आरंभ में यह चर्च सम्मत धारणा प्रचलित थी कि राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा हुई। अतः शासक के प्रति आज्ञाकारी होना लोगों का कर्त्तव्य है भले ही वह अत्याचारी क्यों न हो। बाद में अत्याचारी शासक को मार दिये जाने के प्रश्न पर दार्शनिकों में बहस चली। चौदहवीं शती और उसके पश्चात् अनेक जन-आंदोलन हुए। इन सब बातों ने यूरोप में क्रांतिकारी भावना को जन्म दिया। इन आंदोलनों के अनेक नेता धार्मिक भावना से प्रेरित थे और उनके सक्रिय विचारों में श्रेष्ठतम संसार की ललक दिखाई देती है।

निरंकुश शासकों एवं सामाजिक एवं आर्थिक शोषण के विरुद्ध लोगों के अधिकार के प्रश्न पर लंबे समय तक वाद-विवाद होता रहा। यह धारणा प्रचलित थी कि ईसाइयों को अपने शासकों के प्रति आज्ञाकारी होना ही चाहिए क्योंकि शासक ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। मध्ययुगीन दार्शनिक भी साधारणतया यह मानते थे कि समस्त यूरोप एक सम्राट की छत्र-छाया में हो। छोटे राजा और नृपति इसी के अधीन हों, यह शासक या तो पोप हो या रोमन सम्राट।

मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धांतकारों की धारणा थी कि प्रत्येक शासक का सत्ताधिकार सीमित होता है। उस समय राज्य की सर्वोच्चता की संकल्पना नहीं थी। शासक अपनी इच्छानुसार नियम कानून नहीं बनाता था। ये तो दैवीय थे जिन्हें राजा केवल लागू करता था। उस समय जनतंत्र

अथवा लोकसत्ता की संप्रभुत्ता की संकल्पना भी नहीं थी। निरंकुशता के बढ़ने के साथ ही राज्य संबंधी ऐसे सिद्धांत सामने आये जो राज्य को नैतिक अथवा धार्मिक संदर्भ से अलग करके देखते थे। मैकियावेली (Machiavelli) इस युग का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक चिंतक था। उसने एक ऐसे मौलिक यथार्थवादी एवं साहसपूर्ण राजनीतिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो प्रचलित पाखंड से पूर्णतया भिन्न था। आज मैकियावेलीवाद का यह तात्पर्य है कि राजनीति अनैतिक होती है तथा राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिये हर प्रकार के साधनों का सहारा लेना उचित है। मैकियावेली के विचारों में तत्कालीन राजनीतिक यथार्थ के प्रति दृढ़ निश्चयात्मक प्रतिक्रिया झलकती है। अपनी रचना "द प्रिंस" के समर्पण भाग में मैकियावेली लिखते है कि वह राजनीति के साथ वही करना चाहता है जो उसके समकालीन कलाकार प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में कर रहे थे। वे प्रदृश्य को एक विशेष दूरी में रखकर देखते थे ताकि वह अपने विषय का समुचित रूप से निरूपण कर सकें। मैकियावेली की मान्यता थी कि राज्य अपने आप में एक पूर्ण लक्ष्य है। राज्य को ठोस और दृढ़ बनाने के लिए वह निरंकुशतंत्र का पक्षधर था। वह शासक के सत्ताधिकार पर किसी भी प्रकार की सीमा लगाने का विरोधी था। शासक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था राज्य की शक्ति, सुरक्षा तथा कानून और व्यवस्था को बनाये रखना और इस कर्त्तव्य की पूर्ति करने के लिए हर प्रकार के साधनों का प्रयोग करना भी उसका कर्त्तव्य था।

बढ़ते हुए निरंकुशतंत्र का काल : यह समय बढ़ते निरंकुशतंत्र का समय था। जो लोग इससे प्रभावित थे वे इसका विरोध भी कर रहे थे। मध्य वर्ग जो एक ओर सामंतवाद के विरुद्ध शासक का साथ दे रहा था दूसरी ओर वह शासक की शक्ति का प्रतिरोध भी करता था। जहाँ कहीं संसदीय संस्थाएँ थीं वहाँ उच्च वर्गों के प्रतिनिधि अपने लिए विशेष अधिकारों का प्रबंध कर लेते थे। चौदहवीं शती के आरंभ में पैदा हुए पैडुआ के मार्सीलियस (Marsilius of Padua) ने लोकसत्ता के सिद्धांत की वकालत की। उनका तर्क था कि सत्ता पहले ईश्वर से लोगों के पास फिर लोगों से सरकार के पास आती है अतः सरकार को लोगों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। लोगों से उसका तात्पर्य उच्च वर्गों से था। केवल उच्च वर्ग ही अपने हित के लिए शासक पर प्रतिबंध लगा सकता था। लोकसत्ता शब्द जनतंत्र अथवा गणतंत्रवाद के अर्थ में शायद ही प्रयुक्त हुआ हो। यों तो इटली, जर्मनी, हालैंड तथा स्विट्जरलैंड में गणतंत्रात्मक नगर राज्य थे किन्तु इनमें से एक की भी सरकार जनता द्वारा निर्वाचित सरकार नहीं थी। केवल बोहिमिया (चेकोस्लोवाकिया) में थोड़े समय के लिए जॉन हयूस (John Huss) के अनुयायियों ने गणतंत्र की स्थापना की थी। लोकसत्ता का सिद्धांत और उसका व्यावहारिक प्रयोग बहुत बाद की बात है।

8.9 धर्म सुधार

धर्म सुधार शब्द यूरोप के इतिहास में उत्तर पुनर्जागरण काल की दो महत्वपूर्ण धाराओं की ओर इंगित करता है। पहली घटना थी प्रोटेस्टैंट क्रांति जिसने ईसाई धर्म में दरार उत्पन्न कर दी और दूसरी थी अनेक देशों का रोमन कैथोलिक चर्च से नाता तोड़कर राष्ट्रीय आधार पर अलग चर्चों की स्थापना करना। इसके परिणामस्वरूप रोमन कैथोलिक चर्च में सुधारों का सिलसिला आरम्भ हुआ जिसे सामान्यतः कैथोलिक धर्म सुधार अथवा प्रतिधर्म सुधार कहा जाता है किन्तु यह धर्म सुधार एक धार्मिक आंदोलन मात्र नहीं था। यह उस समय के सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होने के साथ-साथ उसका अभिन्न अंग बन गया था। आंदोलनों के इसी काल ने मध्ययुग का अंत कर नई दुनिया की नींव रखी। पुनर्जागरण की ही भांति धर्मसुधार को भी यूरोप में हो रहे सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के संदर्भ में देखना चाहिए।

मध्ययुग के आरम्भ में कैथोलिक चर्च ने एक विशाल श्रेणीबद्ध संस्था का रूप धारण कर लिया था। संस्था का प्रमुख था रोम का पोप। उसी के हाथ में सर्वोच्च शक्ति थी और वह इस शक्ति का भरपूर प्रयोग करता था। इस व्यवस्था को प्रायः "पोप शक्ति" कहा जाता है। हर व्यक्ति को चाहे वह बड़ा हो या छोटा, चर्च के सत्ताधिकार के अंतर्गत लाने के प्रयास किए गए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वर्ष में एक बार पादरी के सामने मौखिक पाप स्वीकृति करना तथा दिए गए दंड को स्वीकार करना आवश्यक था। इसका पालन न करने वालों को धर्म से निकाल दिया जाता था। ऐसा माना जाता था कि धर्म से निकाला गया व्यक्ति नरक का अधिकारी होता है। मृत्यु हो जाने पर ऐसे व्यक्ति को पारंपरिक धार्मिक रीति से नहीं दफनाया जा सकता था। अन्य व्यक्ति भी ऐसे व्यक्ति से किसी प्रकार का संबंध नहीं रख सकते थे।

8.9.1 चर्च में सैद्धांतिक बहसें

चर्च की स्थापना के लगभग आरंभ से ही ईसाई विद्वानों में सिद्धांत के प्रश्नों को लेकर मतभेद होने लगे थे। यह मतभेद शताब्दियों तक बने रहे। तेरहवीं शती तक आते-आते सिद्धांत के कुछ प्रश्न दार्शनिक विवेचनों के अधिकार क्षेत्र से बाहर हो गए। ये सिद्धांत आस्था के आधार पर ही स्वीकार किए जाने लगे। कैथोलिक चर्च की एक विशेषता थी संस्कार (sacrament) का सिद्धांत जिसे ईश्वर की कृपा को मनुष्यों तक पहुँचाने का साधन माना जाता था। सात संस्कार स्वीकृत थे—बपतिस्मा, (Baptism) नामकरण (confirmation), प्रायश्चित (penance), पवित्र रोटी (eucharist), अथवा यीशु का अंतिम भोजन, (Lord's supper) विवाह संस्कार, दीक्षा (ordination) तथा अंतिम संस्कार (extermination)। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए इन संस्कारों का पालन करना आवश्यक माना जाता था। संस्कारों के बिना मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती थी। संस्कारों के साथ ही पुरोहितवाद का सिद्धांत भी था। यह माना जाता था कि पुरोहित की नियुक्ति बिशप करता है (जिसकी पुष्टि पोप द्वारा होती है) और वह उस सत्ताधिकार के अंश का उत्तराधिकारी होता है जो यीशु मसीह ने सेंट पीटर को प्रदान किया था। (पोप को सत्ताधिकार सेंट पीटर से मिला था) आम लोगों के लिए तीन बहुत महत्वपूर्ण संस्कार थे—बपतिस्मा, प्रायश्चित और पवित्र रोटी। संस्कार शास्त्र के अनुसार पुरोहित ईश्वर की सहायता से चमत्कार कर सकता था और पापियों को उनके पापों से मुक्ति दिला सकता था। यीशु मसीह तथा संतों के पवित्र अवशेषों की पूजा करने का प्रचलन भी था। ये अवशेष प्रायः नकली होते थे। पुरोहितों के लिए ब्रह्मचर्य की व्यवस्था थी। पापमोचन में आस्था थी। (स्वर्ग और नरक के बीच एक ऐसे स्थान की कल्पना जहाँ पापियों का पापमोचन अथवा शुद्धि करके उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाया जाता है)

24. (अ) मुक्ति-पत्रों की बिक्री

(आ) मुक्ति-पत्रों की बिक्री

चर्च जिसकी स्थापना शैतान से आत्मा की रक्षा करने के लिए हुई थी तेरहवीं शती तक आते-आते नियंत्रण एवं शोषण का शक्तिशाली साधन बन चुका था। प्रोटेस्टैंट क्रांति को प्रायः कैथोलिक चर्च की कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह कहा जाता है। चर्च के कुछ पुरोहित और पदाधिकारी उच्च पद प्राप्त करने के लिए भ्रष्ट तरीके अपनाते थे। वे भोग विलास का पतित जीवन व्यतीत करते थे। उनमें से कई तो जुए घर चलाते थे और रखैलें रखते थे। धार्मिक पद नीलाम होते थे। पद प्राप्त कर लेने के बाद वे पद प्राप्ति के लिए खर्च किया अपना धन वसूलते थे। इसके लिए वे लोगों से दक्षिणा के रूप में धन लेते थे। वे लोगों की विवाह शादी एवं प्रायश्चित के मामलों में चर्च के नियम कानूनों से मुक्ति के पत्र (indulgences) भी बेचा करते थे। पोप और बड़े पादरी राजाओं की भाँति रहते थे। इसी प्रकार एक और नई बुराई का जन्म हुआ। लोग अपने जीवनकाल में ही पुरोहितों को धन देकर इहलोक के पापों और पापमोचन स्थल (Purgatory) से मुक्ति पा सकते थे। एक प्रकार से यह स्वर्ग जाने का टिकट खरीदना था और यह टिकट धर्माधिकारी बेचते थे। चर्च का यह भ्रष्टाचार प्रोटेस्टैंट विद्रोह का प्रमुख कारण था।

चर्च के सिद्धान्तों के विरुद्ध कही जाने वाली प्रत्येक बात धर्मद्रोह मानी जाती थी और धर्मद्रोहियों का दमन करने के लिए चर्च ने व्यापक व्यवस्था की थी। धर्मद्रोह का पता लगाने एवं दोषी व्यक्तियों को दंड देने के लिए धार्मिक न्यायालय की स्थापना की गई। हठमत से किसी भी प्रकार के मतभेद तथा चर्च के दोषों के विरोध का कठोरता से दमन किया जाता था, तथा धर्मद्रोहियों को जीवित जला दिया जाता था। तेरहवीं शती के आरंभ में ईसाई साधुओं की दो श्रेणियाँ स्थापित हुईं

फ्रांसिस्कन और डोमिनिकन। शीघ्र ही इन दोनों वर्गों के घुमक्कड़ साधु धमकी और भय दिखाकर पैसा ऐंठने का घृणित कार्य करने लगे। काले वस्त्र काला कनटोप और हाथ में विशेष छड़ी (staff) धारण किए धर्माधिकारी गाँव में जाता था और सब ग्रामवासियों को अपने सामने एकत्र होने का आदेश देता था। ग्रामवासियों से कहा जाता था कि यदि उनके बीच कोई धर्मद्रोही हो तो उसका नाम बताएँ। दुश्मनी निकालने के लिए झूठे दोषारोपण भी किये जाते थे।

चौदहवीं शताब्दी से चर्च के कुछ सिद्धान्तों एवं चर्च की बुराइयों क. विरोध बढ़ने लगा। इस बात की भी माँग उठने लगी कि चर्च का आश्रय लेने के स्थान पर धर्मग्रंथों एवं आरंभिक मसीही धर्म की शरण ली जाए। इंग्लैंड के जौन विक्लिफ ने धर्मग्रंथों के आप्तवचन माने जाने पर बल दिया। कैथोलिक चर्च की भाषा लैटिन थी जिसे आम लोग नहीं समझते थे। तब तक किसी भी यूरोपीय भाषा में धर्मग्रंथों का अनुवाद नहीं हुआ था। लैटिन, ग्रीक और हीब्रू पवित्र भाषाएँ मानी जाती थीं। किसी अन्य भाषा में धर्मग्रंथों का अनुवाद करना उनकी पवित्रता को नष्ट करना माना जाता था। विक्लिफ का दावा था कि चूँकि धर्मग्रंथ ही आस्था और मसीही धर्म का एकमात्र आधार तथा धर्मनिष्ठा की कसौटी है। अत: आवश्यक है कि आम लोगों को इस बात का ज्ञान हो कि उनमें क्या लिखा है, इसके लिए जन भाषाओं में धर्मग्रंथों का अनुवाद करना आवश्यक था। विक्लिफ की प्रेरणा से ही बाइबिल का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद हुआ। उसने पोप को शैतान की सेना का प्रमुख कहा। विक्लिफ ने पादरी वर्ग की निंदा की, स्वर्ग के मुक्ति पत्र बेचे जाने की प्रथा की भर्त्सना की तथा पवित्र रोटी जैसे कतिपय सिद्धांतों को अस्वीकार किया। उसने गरीब उपदेशकों की मंडली बनाई ताकि धर्मग्रंथों का ज्ञान आम लोगों तक पहुँच सके।

8.9.2 प्रोटेस्टैंट क्रांति

कहा जा सकता है कि प्रोटेस्टैंट क्रांति का आरंभ 1517 में हुआ जब सेंट ऑगस्टीन की परम्परा के एक साधु मार्टिन लूथर ने जर्मनी के विटेनबर्ग चर्च को अपनी 95 स्थापनाएँ अथवा कथन भेजे। इनमें चर्च द्वारा स्वर्ग का मुक्तिपत्र बेचने की भर्त्सना की गई थी। उसने खुली चुनौती दी कि कोई भी व्यक्ति उससे उन स्थापनाओं पर बहस करे। इन स्थापनाओं की प्रतियाँ उसने अन्य नगरों में अपने मित्रों को भेजीं। इन स्थापनाओं में से कुछ यहाँ उद्धृत हैं।

इस प्रकार स्वर्ग का मुक्तिपत्र बेचने वाले पादरी गलत हैं जो यह कहते हैं कि पोप लोगों को पाप का दंड पाने से बचा लेगा।

वे लोग उपदेशक बने हुए हैं जो कहते हैं कि चर्च की पेटी में सिक्के डालते ही आत्मा पाप मुक्त होकर स्वर्ग जा पहुँचेगी।

निस्संदेह चर्च की पेटी में सिक्कों के पड़ते रहने से लोभ और लाभ में वृद्धि होती है किन्तु चर्च व्यक्ति की सहायता केवल तभी कर सकता है जब ईश्वर की ऐसी इच्छा हो।

ईसाइयों को बताया जाना चाहिए कि यह पोप की इच्छा ही नहीं अपितु कर्त्तव्य भी है कि वह अपना धन देकर और आवश्यकता हो तो सेंट पीटर के बेसीलिका (Basilica) को भी बेचकर लोगों को वह पैसा चुकाए जो उपदेशकों ने पाप मुक्त कराने के बहाने उनसे ऐंठा है।

अगले दो सालों में लूथर ने अनेक पर्चे निकाले जिनमें उसने अपने सिद्धांतों का विस्तार किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उसके सिद्धांतों का कैथोलिक चर्च के सिद्धांतों से किसी भी प्रकार मेल नहीं हो सकता और उसके सामने कैथोलिक चर्च से नाता तोड़ने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। 1520 में पोप ने उसको आदेश दिया कि वह साठ दिन के भीतर अपने विचार वापस ले अन्यथा उसे धर्मद्रोही घोषित कर दिया जाएगा। उसने पोप के आज्ञा पत्र को सबके सामने जला दिया। इस अवधि में उसका मित्र सैक्सानी का शासक उसका संरक्षक रहा। जर्मनी में अनेक शासक चर्च के विरोधी थे। अत: जब लूथर को धर्म बहिष्कृत किया गया तो उसे कोई क्षति नहीं पहुँची। अगले पच्चीस वर्षों तक वह एक स्वतंत्र जर्मन चर्च स्थापित करने की बात करता रहा। इस बीच उसने अपने सिद्धांत भी प्रतिपादित किए। उसने कैथोलिक चर्च की श्रेणीबद्ध व्यवस्था को अस्वीकार किया, जर्मन भाषा को चर्च के कार्य-व्यवहार की भाषा बनाया। मठवाद का अंत किया और पुरोहितों के विवाह करने के अधिकार पर बल दिया। धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहितों के विशेष पद को समाप्त किया। बपतिस्मा एवं पवित्र रोटी के संस्कारों के अतिरिक्त अन्य संस्कारों को अनावश्यक घोषित किया। तीर्थयात्रा एवं अवशेषों की पूजा जैसे धर्म कर्मों की अपेक्षा आस्था पर अधिक बल दिया। दैववाद के सिद्धांतों (पूर्वनियति) एवं धर्मग्रंथों की सर्वोच्चता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि राज्य के ऊपर कैथोलिक चर्च की प्रभुता नहीं रही।

कैथोलिक चर्च के टूटते ही विद्रोहों का सिलसिला आरंभ हो गया। पहले सामंतों ने विद्रोह किया और फिर निम्न वर्गों विशेषतया कृषकों ने विद्रोह कर दिया। ये विद्रोह एक ओर जहाँ लूथर के प्रति विरोध समाप्त करने में सहायक हुए वहीं दूसरी ओर इन्होंने उसके आंदोलन की सीमाएँ भी निश्चित कीं। सामाजिक एवं आर्थिक आंदोलन के रूप में उसका आंदोलन उग्र सुधारवादी नहीं था। कृषकों का विद्रोह दबाने में लूथर ने शासकों और ज़मींदारों का साथ दिया। वह विद्रोहियों को पागल कुत्तों की भाँति मार डालने के पक्ष में था। विद्रोहियों में ऐनाबैप्टिस्ट पंथ के अनुयायी भी थे। ऐनाबैप्टिस्ट उस समय के सर्वाधिक उग्रसुधारवादी माने जाते थे। वे चर्च और राज्य के पूर्ण अलगाव के पक्षधर थे। पुरोहितों को अनावश्यक मानते थे, धन संचय करने और भेदभाव की भर्त्सना करते थे। उनकी मान्यता थी कि सच्चा ईसाई वही है जो अपनी वस्तुओं में साथियों को भागीदार बनाए। इन लोगों की भर्त्सना करते हुए लूथर ने कहा, "ऐसे लोग धर्मद्रोही हैं जो किसी भी सत्ताधिकार को मानना नहीं चाहते ... इनका कहना है कि व्यक्ति धन-संपत्ति न रखे घर-बार छोड़ दे या जो भी उसके पास है उसे सामान्य संपत्ति बना दे। ऐसे लोग न केवल धर्मद्रोही अपितु विद्रोही भी होते हैं और उन्हें दंड दिया ही जाना चाहिए।"

8.9.3 आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन

चर्च के सैद्धांतिक विवादों एवं पतन के अतिरिक्त समाज में हो रहे आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों से भी प्रोटेस्टेंट क्रांति प्रभावित हुई। यह वह समय था जब यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय चेतना का उदय हो रहा था। इन देशों में यह भावना घर करती जा रही थी कि वे अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न एक अलग राष्ट्र हैं और उन पर विदेशियों का शासन नहीं होना चाहिए। उनकी अपनी सरकार और शासक होना चाहिए तथा उन पर किसी बाह्य शक्ति (चर्च) का नियंत्रण न रहे। इस भावना के अनुरूप यूरोप में राष्ट्र राज्यों का निर्माण हुआ। सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण समाज में व्यापारी वर्ग का महत्व बहुत बढ़ गया था। इस तथ्य ने भी राष्ट्र राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया को दृढ़ बनाया। सब देशों पर रोमन कैथोलिक चर्च की प्रभुता थी। चर्च इन देशों के सभी मामलों में दखल देता था। यहाँ तक कि राजाओं को गद्दी पर बिठाने और उतारने में भी चर्च का ही हाथ होता था। अतः बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना और चर्च के बीच वैमनस्य उत्पन्न हुआ। चर्च की शक्ति को कम किये बिना राष्ट्रवाद की वृद्धि संभव नहीं थी।

पुनर्जागरण काल के राजनीतिक सिद्धांतों का विवेचन करते समय हमने निरंकुशतंत्र के उदय का उल्लेख किया था। अपने क्षेत्र में शासकों की शक्ति सर्वोच्च थी। वे तो अपने शासनाधिकार को दैवी अधिकार भी मानते थे। ये शासक न केवल इहलौकिक मामलों में पूर्ण अधिकार (इस अधिकार का दावा पोप भी करता था) चाहते थे, अपितु अपने क्षेत्र में पड़ने वाले चर्चों तथा पुरोहितों पर भी अपना नियंत्रण रखना चाहते थे। इसके अतिरिक्त अनेक आर्थिक घटक भी थे। चर्च कई प्रकार के कर लगाता था जैसे पीटर्स पेंस (Peter's Pence) तथा दशांश कर (Tithe)। इस संपत्ति का अधिकांश भाग यूरोप के देशों से रोम आता था। पाप मुक्ति के नाम पर वसूले जाने वाला धन भी रोम ही भेजा जाता था।

एक ओर आम जनता अपनी संपत्ति के बहुत बड़े भाग के रोम भेज दिए जाने से असंतुष्ट थी वहीं दूसरी ओर शासक चर्चों की संपत्ति जब्त करके अपने संसाधनों को बढ़ाने का स्वप्न देख रहे थे। उन्हें स्थायी सेनाएँ रखने तथा अन्य कार्यों के लिए बढ़े हुए संसाधनों की आवश्यकता थी। चर्चों की संपत्ति कर मुक्त होती थी अतः राज्य में कर का अधिकांश बोझ व्यापारियों तथा पूँजीपतियों के नवोदित वर्ग पर पड़ता था। धार्मिक मतभेदों को तो शायद सुलझाया भी जा सकता था किंतु इन आधारभूत शत्रुताओं को समाप्त करना संभव नहीं था।

पोप के अधीन कैथोलिक चर्च की भाँति एक सार्वभौमिक प्रोटेस्टेंट चर्च की स्थापना करना प्रोटेस्टेंट क्रांति का न तो लक्ष्य था न ही इसने ऐसा किया। इसके परिणामस्वरूप राज्यों के अधीन स्वतंत्र राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हुई।

जर्मनी में लूथर की सफलता के पश्चात् प्रोटेस्टेंट क्रांति कई अन्य देशों में भी फैली किंतु सभी स्थानों पर प्रोटेस्टेंटस् के सिद्धांत एक ही नहीं थे। स्विटजरलैंड में प्रोटेस्टेंट क्रांति के नेता थे जिंगली (Zwingli) और काल्विन (Calvin)। वस्तुतः यूरोप के अनेक भागों में काल्विन के विचार लूथर के विचारों से अधिक लोकप्रिय थे। इंग्लैंड में राजा हेनरी अष्टम को इंग्लैंड के चर्च का प्रमुख बनाया गया। इंग्लैंड का चर्च स्वतंत्र राष्ट्रीय इकाई घोषित किया गया जो केवल इंग्लैंड के राजा के अधीन था।

प्रोटेस्टेंट क्रांति ने कैथोलिकों की आँखें खोल दीं। इनमें पोप, पादरी वर्ग तथा कैथोलिक शासक और विद्वान सम्मिलित थे। वे समझ गए कि प्रोटेस्टेंट क्रांति को दमन अथवा राजनीतिक एवं सैन्य

उपायों से रोका नहीं जा सकता। उन्होंने अनुभव किया कि चर्चों तथा पोपतंत्र को नैतिक रूप से पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है। अतः सोलहवीं शती में ही कैथोलिक चर्च में अनेक सुधारवादी कदम उठाए गए।

धर्म सुधार के परिणामस्वरूप पश्चिमी ईसाई जगत् में एक दरार उत्पन्न हो गई। साथ ही धार्मिक संघर्षों एवं युद्धों में भी बढ़ोत्तरी हुई जो लम्बे समय तक बनी रही। 1560 से प्रारम्भ होकर अगले पच्चीस वर्षों की अवधि में आठ धार्मिक युद्धों ने फ्रांस को तहस-नहस कर डाला। सुधर्मवाद (evangelicalism) — एवं प्रतिस्पर्धा चर्चों की धर्म की भावना ने पुनर्जागरण की कुछ उपलब्धियों को कम किया। पुनर्जागरण काल में दैवीय कार्य-कलाप की तुलना में मानव कार्य-कलाप की ओर चिंतन का जो रुख आरंभ हुआ था, उस पर इन घटनाक्रमों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1560 से 1630 तक का काल डाकिनी-आखेट (witch-hunting) इतिहास का सबसे बुरा समय था। जादूगरनियों (डाकिनियों) को खोजकर जीवित जला देने की इस प्रथा ने पागलपन का रूप धारण कर लिया था।

बोध प्रश्न 3

1 निम्नांकित कथनों में कौन-से सही हैं और कौन से गलत (√ या × का चिन्ह लगाइए)
   i) प्रजातंत्र मध्ययुग की प्रमुख राजनीतिक पद्धति थी।
   ii) पैडुआ का मार्सिलियस लोकसत्ता के सिद्धांत का पक्षधर था।
   iii) बपतिस्मा, प्रायश्चित और पवित्र रोटी महत्वपूर्ण संस्कार थे।
   iv) धर्मसुधार के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय चर्चों का उदय हुआ।

2 लगभग दस पंक्तियों में लिखिए कि चर्च ने यूरोप के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर प्रभुत्व जमाने के लिए किन उपायों का सहारा लिया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए कि प्रोटेस्टैंट क्रांति से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

4 धर्म सुधार के कुछ प्रमुख परिणामों का उल्लेख पाँच पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

8.10 राष्ट्र-राज्यों का उदय

यदि हम तेरहवीं शती यूरोप के राजनीति मानचित्र पर दृष्टि डालें तो उसमें हम आधुनिक यूरोप के बहुत थोड़े राष्ट्र ही पहचान पाएँगे। यूरोप हजारों सामंतशाही राज्यों में बँटा हुआ था। आधुनिक यूरोप की राजनीतिक सत्ताओं का तब अस्तित्व ही नहीं था। सामंती ज़मींदारों की शक्ति एवं स्थिति के बारे में हम पढ़ चुके हैं। राजा भी थे किन्तु वे विशेष शक्तिशाली नहीं थे। अन्य राजाओं से युद्ध के समय उन्हें भूस्वामियों द्वारा दिये जाने वाले राजस्व पर ही निर्भर रहना पड़ता था। जागीरों और राज्यों के सीमा निर्धारण का कोई तर्कसंगत आधार नहीं था और ये बदलती रहती थीं। राष्ट्रीयता का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं था जिसके आधार पर अलग-अलग राज्य के नागरिकों की पहचान हो सकती थी।

बारहवीं शती में पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। रोमन साम्राज्य सार्वभौमिक साम्राज्य होने का दावा करता था (उसी अर्थ में जिस अर्थ में कैथोलिक चर्च सार्वभौम होने का दावा करता था), यद्यपि इसके अंतर्गत मुख्यतया जर्मनी और इटली ही आते थे किंतु इन क्षेत्रों में भी सम्राट् का नियंत्रण सीमित था। राजनीतिक विकास की जिस प्रक्रिया का चरम उत्कर्ष आधुनिक विश्व के स्वतंत्र संप्रभुता-संपन्न राष्ट्रीय राज्यों में हुआ उसका आरंभ पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार के युग में हुआ था। राष्ट्रीय चेतना के उदय के साथ ही इस प्रक्रिया का आरंभ हुआ। न्यूनाधिक रूप से एक भूभाग पर रहने वाले लोग इस बात के प्रति सचेत हुए कि एक देश के रूप में वे विशिष्ट हैं। इस चेतना का आरंभ राष्ट्रीय राजतंत्रों के उदय के साथ हुआ। इन राष्ट्रीय राजतंत्रों में सर्वप्रथम थे इंग्लैंड और फ्रांस।

राजाओं ने सामंतवादी भूस्वामियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया। राजाओं और भूस्वामियों के बीच यह संघर्ष लम्बे समय तक चला। इस स्थिति में व्यापारी तथा शहरी लोग राजाओं के साथ थे। व्यापार के उत्कर्ष के परिणामस्वरूप शहरों में मध्यवर्ग का उदय पहले ही हो चुका था। अब सामंती जमींदारों के चंगुल से छूटने के लिए तथा अपने हितों की अभिवृद्धि के लिए शहरों को एक केंद्रीय सत्ता की आवश्यकता थी। सामंती जमींदारों की शक्ति पर अंकुश लगाकर राजा ऐसी ही केंद्रीय सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। राजाओं के शक्तिशाली होने से व्यापारियों के हितों की अभिवृद्धि होती क्योंकि ऐसे राजा सामंतवादी अराजकता एवं स्थानीय व्यवस्था का अंत करते, राजनीतिक विघटन के फलस्वरूप व्यापार पर लगे प्रतिबंध को समाप्त करते, सड़कों एवं नहरों का निर्माण करवाते तथा कानून और व्यवस्था लागू करते। इस प्रकार से राजा अपने-अपने देशों के व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों की प्रतिस्पर्धा से संरक्षण प्रदान कर सकते थे एवं अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा उनकी रक्षा करके व्यापार को बढ़ावा दे सकते थे। राजाओं को भी व्यापारियों के रूप में ऐसे मित्र मिल गए थे जो उन्हें धन देते थे। राजाओं को सशस्त्र सेनाएँ रखने, अपनी प्रशासनिक एवं न्याय-व्यवस्था स्थापित करने तथा राज्य संबंधी ऐसे ही अन्य प्रबंध करने के लिए धन की आवश्यकता थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है राजा सैनिकों के लिए भी सामंती ज़मींदारों पर निर्भर करते थे तथा उनके आगे शक्तिहीन थे। अब सामंती ज़मींदारों की शक्ति के विघटन की प्रक्रिया आरंभ हुई। यूरोप में बंदूक के आगमन के साथ ही यह प्रक्रिया तीव्र हो गई क्योंकि बंदूकों के आगे सामंतों के किले और गढ़ बेकार साबित हुए।

राष्ट्रीय भाषाओं के उदय ने राष्ट्रीय चेतना को दृढ़ करके सुदृढ़ राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण में योगदान दिया। नए समुद्री मार्गों एवं नये देशों की खोज के साथ आरंभ होने वाले औपनिवेशिक विस्तार भी इन घटनाक्रमों से जुड़े थे।

इस काल में स्थापित हुए राष्ट्र राज्यों ने मध्ययुग की राजनीतिक व्यवस्था को समाप्त कर दिया। मध्ययुगीन राजनीतिक व्यवस्था की विशेषता थी राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकृत होना। इसका स्थान अब राष्ट्र राज्यों ने ले लिया जिनकी विशेषता थी निरंकुश सरकारें। आने वाली कुछ शताब्दियों तक जहाँ राष्ट्रवाद एवं सशक्त शासक पर आधारित सुसंगठित राज्य बने रहे वहीं राजनीतिक घटनाक्रम में शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष का आरंभ तथा राजनीतिक जनतंत्र का विकास हुआ।

इस काल की राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति को समझने के लिए हम कुछ चुने हुए देशों जैसे इंग्लैंड एवं फ्रांस के राजनीतिक घटनाक्रमों का अध्ययन करेंगे। स्मरणीय है कि यूरोप में राष्ट्र राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया को पूरा होने में बहुत समय लगा और कुछ यूरोपीय राष्ट्र तो बीसवीं शती में जाकर स्वाधीन हुए।

8.11 भौगोलिक खोजें और उपनिवेशीकरण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है व्यापार और शहरों की वृद्धि एवं विकास ने सामंतवादी व्यवस्था के ह्रास में योगदान दिया तथा नए बौद्धिक, कलात्मक, धार्मिक, राजनीतिक घटनाक्रमों की पृष्ठभूमि प्रदान की। पूर्वी देशों के साथ होने वाला लाभप्रद व्यापार इटलीवासियों, विशेषतः वेनिसवासियों के हाथ में था। इस व्यापार में भागीदारी प्राप्त करने के उद्देश्य से पंद्रहवीं शती के आस-पास पहले पुर्तगाल एवं स्पेन तथा बाद में इंग्लैंड, फ्रांस और हालैंड ने महान् भौगोलिक खोजें की। इसके परिणामस्वरूप यूरोप में अंदरूनी परिवर्तन आया तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के नए रूप उभरे।

पंद्रहवीं शती के उत्तरार्ध तक विश्व के किसी भी भाग में रहने वालों के लिए विश्व का बहुत बड़ा भाग अनजान था। अमरीकी महाद्वीपों, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, तथा अफ्रीका एवं एशिया के अधिकांश भागों से शेष दुनिया के लोग परिचित नहीं थे। तब तक विशाल अटलांटिक सागर पर नौवहन नहीं हुआ था और इस सागर के पार विशाल भूखंडों के होने की लोगों ने कल्पना तक नहीं की थी। लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि समुद्री मार्ग से अफ्रीका महाद्वीप की परिक्रमा की जा सकती है। यद्यपि अब धरती के गोल होने की बात आमतौर पर मानी जाने लगी थी फिर भी यह माना जाता था कि समुद्र में चलते जाने पर शायद उसका अंत कभी न मिले या कि धरती का छोर आ जाने पर नाविक धरती से गिर पड़ेंगे।

सर्वप्रथम धरती की खोज के बड़े अभियान पुर्तगाल और स्पेन के नाविकों ने वहाँ के शासकों की अनुमति लेकर आरम्भ किए। आरम्भ में इन अभियानों का उद्देश्य पूर्वी देशों तक एक समुद्री मार्ग खोजना तथा उस लाभकारी व्यापार में हिस्सा लेना था जिस पर तब तक वेनिस के व्यापारियों का एकाधिकार था। इस समय तक दिशा सूचक यंत्र एवं नक्षत्र यंत्र का ज्ञान हो गया था। ये यंत्र लम्बी समुद्री यात्रा के लिए आवश्यक थे। खगोलीय तालिकाएँ तथा मानचित्र बनाने की कला का तेज़ी से विकास हो रहा था।

बार्थोलोम्यू डायज़ (Bartholomew Diaz) ने 1487-88 में पश्चिमी अफ्रीका के पार समुद्री यात्रा की। वह आशा अंतरीप पार करके अफ्रीका के पूर्वी किनारे आ पहुँचा। 1492 में कोलम्बस पूर्वी देशों के समुद्री मार्ग की खोज में पश्चिम की ओर चला तथा अमरीका जा पहुँचा। यद्यपि इसके बाद उसने तीन और सफल यात्राएँ की किन्तु वह नहीं जान सका था कि जिस देश की उसने खोज की है वह भारत नहीं अमरीका है। अपनी महान् खोज से अनजान कोलम्बस की मृत्यु हो गई। अंततः 1497-98 में वास्कोडिगामा ने भारत तक पहुँचने का समुद्री मार्ग खोज निकाला।

मैगिंलान (Magellan) (1519-22) सफलतापुर्वक धरती की परिक्रमा करने वाला पहला व्यक्ति था। उसके ज़हाज़ों ने अटलांटिक महासागर और प्रशांत महासागर पार किये तथा हिन्द महासागर पार करते हुए उसके बचे हुए साथी स्पेन जा पहुँचे। यद्यपि विश्व का बहुत-सा भाग अभी अज्ञात था जिसमें अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के बड़े भाग सम्मिलित थे फिर भी इन खोजी समुद्री यात्राओं ने विश्व के लगभग सम्पूर्ण भौगोलिक ज्ञान की नींव डाल दी थी। इन खोजों के फलस्वरूप विश्व के लगभग सभी भागों के बीच पहली बार नियमित सम्पर्क हुआ।

25. (अ) समुद्र यात्रा के लिए प्रस्थान करता हुआ कोलम्बस

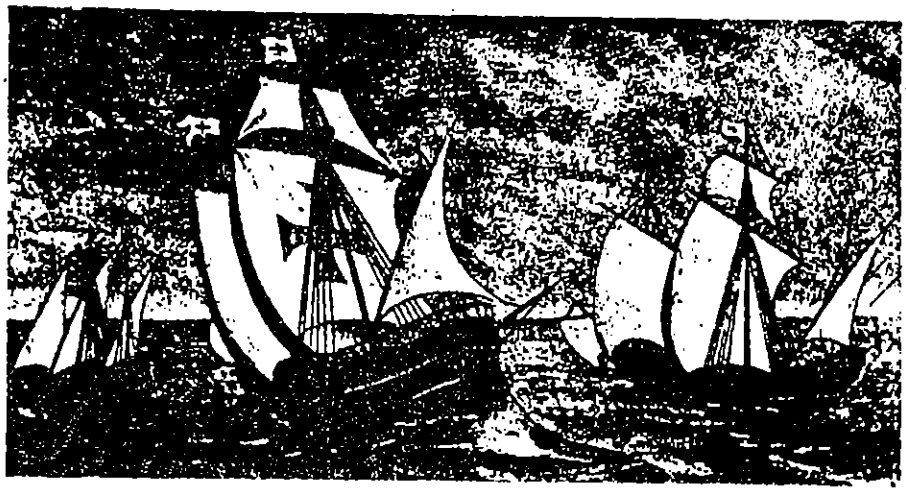

(आ) कोलम्बस द्वारा एकत्रित उष्णकटीबंधीय पेड़ा

इन नई भौगोलिक खोजों ने समूचे विश्व पर दूरगामी प्रभाव डाला। भारत के समुद्री मार्ग की खोज ने पूर्वी देशों के साथ व्यापार में वेनिस के एकाधिकारों को समाप्त कर दिया। अब यूरोप के एशियाई व्यापार पर पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हो गया। बाद में पुर्तगाल का स्थान ब्रिटेन, होलैंड तथा फ्रांस ने ले लिया। व्यापार और व्यापारिक वस्तुओं में आशातीत वृद्धि हुई। यहीं से एशिया के उपनिवेशीकरण का आरंभ हुआ। आगे चलकर संपूर्ण एशिया पूर्णतया यूरोपीय देशों के अधीन हो गया। अफ्रीका का उपनिवेशीकरण भी आरंभ हो गया था किंतु यह तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित रहा।

अफ्रीका पर यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों की बड़े पैमाने पर विजय 19वीं शताब्दी में संभव हो सकी। अमरीका की खोज के कुछ ही दशकों पश्चात् अल्पसंख्यक यूरोपीयों ने वहाँ की मूल इंका (In Cas) एवं एजेटिक (Aztecs) जातियों की सभ्यताओं को नष्ट करके वहाँ के बहुसंख्यक मूल निवासियों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उन्होंने इंकाओं और एजेटिकों के स्वर्ण तथा चाँदी के भंडारों को लूट लिया तथा कीमती धातुओं के लिए पीरू, मैक्सिको तथा बौलिविया की खानों का दोहन किया। सोने, चाँदी के विशाल भंडार यूरोप पहुँचने लगे।

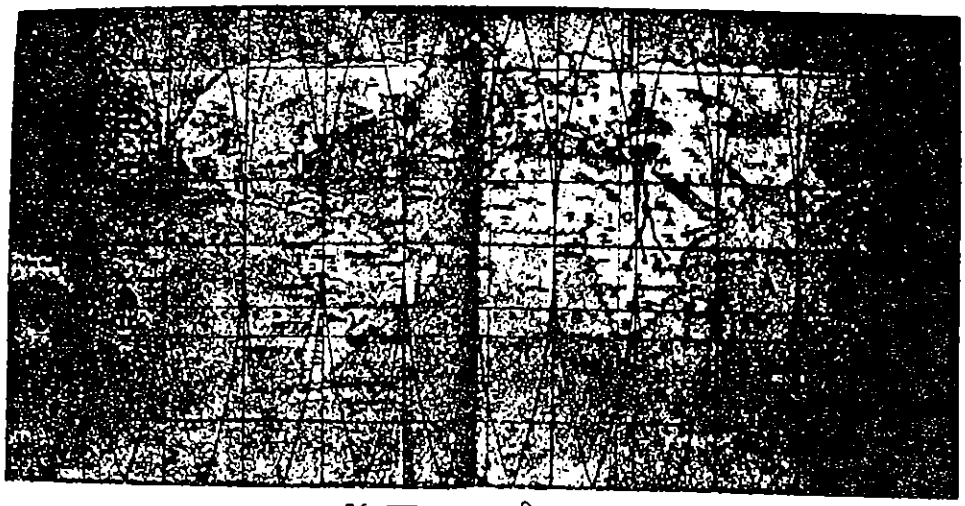

26. एक पुराना मानचित्र

आलू, तंबाकू तथा मक्का जैसी वस्तुएं जो यूरोप में अपर्याप्य अथवा अनजान थी, अब सुलभ हो गईं। चीनी काफी, कपास और चावल की पैदावार के लिए अमेरिका के विशाल संसाधनों का यूरोपीयों द्वारा दोहन होने लगा। यूरोपीयों की अमरीका विजय के परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि रोपाई पद्धति का प्रचलन हुआ। यह पद्धति उत्तरी अमरीका, वेस्टइंडीज तथा ब्राज़ील में विशेष रूप से गन्ने, तम्बाकू तथा कपास की खेती के लिए प्रयुक्त होती थी। इन खेतों में काम करने के लिए गुलाम श्रमिकों को अफ्रीका से लाया जाता था। अफ्रीका और अमरीका के महाद्वीपों को निकट लाने में शोषण की निर्मम व्यवस्था का हाथ था। अमरीका के मूल निवासी (जिन्हें अमरीकी इंडियन कहा जाता था) यूरोपीयों के खेतों में काम करने वाले कृषिदास बन कर

27. अमरीका के बन्दरगाह पर व्यापारी

रह गए थे जबकि रोपाई वाले विशाल खेतों में गुलाम काम करते थे। पंद्रहवीं शती के अंत में व्यापारियों, नाविकों और समुद्री लुटेरों ने व्यक्तिगत स्तर पर गुलामों का व्यापार आरंभ किया किन्तु सोलहवीं शती के अंत में इसने बाकायदा व्यापार का रूप धारण कर लिया। अब गुलामों का व्यापार करने वाली कम्पनियाँ होती थीं जिन्हें यूरोपीय देशों की सरकारों का शासकीय अनुमोदन प्राप्त था। तीन सौ साल तक गुलामों के व्यापारी और दलाल अफ्रीका के लोगों को पकड़ कर अटलांटिक महासागर पार गुलाम बनाकर बेचते रहे। यह कार्रवाई पहले अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों में होती रही किंतु बाद में इसका जाल भीतरी क्षेत्रों तक फैल गया। इन गुलामों में से हजारों तो स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक परिस्थितियों के कारण जहाज़ पर ही दम तोड़ देते थे। अनुमान है कि केवल वेस्टइंडीज में ब्रिटिश उपनिवेशों से सौ साल की अवधि में बीस लाख से अधिक गुलाम लाए गए। अमरीकी महाद्वीपों में यूरोपीय उपनिवेशकों की समृद्धि का आधार वहाँ के मूल निवासियों तथा अफ्रीकी गुलामों का श्रम था।

इस घटनाक्रम का यूरोप के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा विशेषतया उन देशों पर जो उपनिवेश स्थापित करने तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियंत्रण करने में आगे रहे। इन सब बातों ने पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भौगोलिक खोजों की वजह से पहली बार लोगों का समूचे संसार से परिचय हुआ और विश्व के देश एक दूसरे के संपर्क में आए। इस नियमित और भौतिक संपर्क की बहुत बड़ी कीमत उन लोगों को चुकानी पड़ी जो उपनिवेशवाद और गुलामी जैसे अमानवीय शोषण के शिकार हुए।

बोध प्रश्न 4

1 निम्नलिखित कथनों में से कौन से सही हैं और कौन से गलत (✓ या × का चिह्न लगाइए)

i) यूरोप में थोड़े समय में राष्ट्र-राज्यों का उदय हो गया।

ii) बार्थोलोम्यू डायज़ 1462 में समुद्री यात्रा कर के अमरीका पहुँचा।
iii) अफ़्रीकी लोगों को अमरीका में दास बना कर भेजा जाता था।
iv) दिशासूचक यंत्र दूरी मापने के काम आता था।

2 लगभग दस पंक्तियों में भौगोलिक खोजों के प्रमुख परिणामों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.12 सारांश

पुनर्जागरण और धर्म सुधार ने ऐसी प्रक्रिया आरंभ कर दी जिसने लोगों के धर्म, समाज, राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण को ही बदल दिया। इस प्रक्रिया के पीछे अनेक आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन थे जैसे कस्बों और शहरों में नागरिक स्वतंत्रता का उदय, व्यावसायिक संघों का निर्माण, समुद्री व्यापार का विकास, भौगोलिक खोजें आदि। पुनर्जागरण के काल में मानववाद ने जन्म लिया जिसने चिंतन को दैवी विषयों से मानव विषयों की ओर मोड़ दिया। मानव शरीर अब पाप का प्रतीक नहीं रह गया था। अब इसे सुन्दरता, गरिमा और आनन्द की वस्तु माना जाने लगा। इस दृष्टिकोण ने साहित्य के क्षेत्र में नए लेखन को जन्म दिया। कला और वास्तुकला में मानवीय स्थितियों के संदर्भ में सौंदर्य और सौंदर्य शास्त्रीय मानदंडों पर बल दिया जाने लगा।

धर्मनिरपेक्ष विचारों एवं तर्कसंगत चिंतन में वृद्धि होने के साथ ही आधुनिक विज्ञान के विकास के द्वार खुल गए। चर्च और विज्ञान के संघर्ष में अंततः विजय विज्ञान की हुई। वैज्ञानिक अन्वेषणों को बढ़ावा तथा मान्यता देने के लिए अब चर्च की अनुज्ञा आवश्यक नहीं रह गई थी। धर्म-सुधार के तत्वों ने चर्च के द्वारा अपनी शक्ति के दुरुपयोग को चुनौती दी। परिणामस्वरूप न केवल राष्ट्रीय चर्चों का उदय हुआ अपितु रोमन कैथोलिक चर्च भी अपनी व्यवस्था में सुधार करने को बाध्य हुआ, जिन्हें प्रति सुधार कहा जाता है। इसी समय यूरोप में राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ, साथ ही नए राजनीतिक सिद्धांत भी प्रतिपादित किए गए। व्यापारियों एवं अन्य व्यावसायिक समुदायों ने नई राजनीतिक सत्ता को दृढ़ करने में सम्राटों का साथ दिया। उपनिवेश बनाने तथा अंततः उपनिवेशिक राज स्थापित करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

8.13 शब्दावली

पूंजीवाद (Capitalism):– लाभ कमाने के उद्देश्य से वस्तुओं का उत्पादन करने की प्रणाली।

संघ (Guild):– मध्ययुग के कारीगरों की यूनियन।

मिस्तरी (Journey men):– प्रशिक्षित कार्यकुशल कारीगर।

भित्ति चित्र (Fresco):– पलस्तर सूखने से पहले दीवारों पर की जाने वाली चित्रकारी।

गौथिक (Gothic):– वास्तुकला की एक शैली जिसमें पुश्तों और नुकीली मेहराबों का प्रयोग अधिक होता था।

मानववाद (Humanism):– चिंतन की वह प्रणाली जो मानव को नैतिक और गरिमापूर्ण मानती है।

अनुभववाद (Empiricism):– अवलोकन पर आधारित प्रमाण की पद्धति।

निगमनात्मक (Deductive):– तर्क के आधार पर निष्कर्ष निकालने की पद्धति।

बपतिस्मा (Baptism):– किसी व्यक्ति को पवित्र मूल छिड़ककर ईसाई धर्म में दीक्षित करने का संस्कार।

संस्कार (Sacrament):– यीशु मसीहा द्वारा स्थापित रीतियां जिनका पालन ईसाई धर्मावलंबी करते हैं।

धर्मद्रोही (Heretic):– चर्च के दृढ़मत के विपरीत विचार रखने वाला व्यक्ति।

ऐनाबैप्टिस्ट (Anabaptist):– सोलहवीं शती के स्विस धर्म सुधारवादी सम्प्रदाय।

दशांश कर (Tithe):– चर्च को वार्षिक रूप से दिया जाने वाला फसल का दशमांश कर।

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 देखिए भाग 8.2
2 (i) × (ii) × (iii) √ (iv) √
3 देखिए उपभाग 8.3.1

बोध प्रश्न 2

1 देखिए भाग 8.5
2 (i) √ (ii) × (iii) √ (iv) ×
3 देखिए भाग 8.7

बोध प्रश्न 3

1 (i) × (ii) √ (iii) √ (iv) √
2 देखिए उपभाग 8.9.1
3 देखिए उपभाग 8.9.2
4 देखिए उपभाग 8.9.3

बोध प्रश्न 4

1 (i) × (ii) × (iii) √ (iv) ×
2 देखिए भाग 8.11

इकाई 9 औद्योगिक क्रान्ति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 औद्योगिक क्रान्ति
  9.2.1 व्यापारिक पूँजीवाद
  9.2.2 वेतन भोगी श्रमिकों का उदय
  9.2.3 गृह उत्पादन पद्धति
  9.2.4 बाड़े-बन्दी आंदोलन
9.3 कृषि के क्षेत्र में बाजार और उपभोक्ता उत्पादन
  9.3.1 कृषि क्रान्ति
  9.3.2 कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध
9.4 कारखाने और मशीन
  9.4.1 नई प्रौद्योगिकी
  9.4.2 कारखाना प्रणाली, श्रमिक और विधि निर्माण
9.5 पूँजी संग्रहण और लाभ प्रेरण का प्रयोजन
  9.5.1 पूँजी संघटन में परिवर्तन
  9.5.2 वृद्धि का चक्रीय प्रक्रम
9.6 पूँजीवाद का विस्तार
9.7 व्यक्तिवाद का उदय
9.8 संसार का विभाजन तथा उपनिवेश
9.9 सारांश
9.10 शब्दावली
9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

औद्योगिक क्रान्ति ने आधुनिक विश्व की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ बदलने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- यह बता सकेंगे कि औद्योगिक क्रान्ति का आधार किस तरह तैयार हुआ,
- यह बता पायेंगे कि कृषि उत्पादन के विस्तार ने औद्योगिक क्रान्ति को लाने में क्या भूमिका निभाई,
- समझ सकेंगे कि औद्योगिक क्रान्ति में नई प्रौद्योगिकी और श्रम ने क्या भूमिका निभाई,
- यह व्याख्या कर सकेंगे कि इस क्रान्ति का उस समय के राजनैतिक ढाँचे पर क्या प्रभाव पड़ा, और
- जान सकेंगे कि औद्योगिक क्रान्ति ने किस प्रकार उपनिवेशवाद के बीज बोये।

9.1 प्रस्तावना

यदि हम भारत भ्रमण करें तो कारखाने, औद्योगिक इकाइयों और खानयुक्त क्षेत्रों तथा कृषि प्रधान क्षेत्रों में एक स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार यदि हम विदेश भ्रमण करें तो औद्योगिक रूप से विकसित देशों तथा औद्योगिक रूप से कम विकसित देशों में (जहाँ उद्योग देश की राष्ट्रीय आय में अल्प-योगदान करते हैं) स्पष्ट अन्तर नजर आता है। विकसित देश मुख्यत: उत्तरी यूरोप के एटलांटिक क्षेत्र के आस-पास और अमेरिका में स्थित हैं। सोवियत रूस और जापान औद्योगिक रूप से विकसित देशों के समूह में काफी देर से 20 वीं शताब्दी में शामिल हुए।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अधिकांश देश दूसरे समूह के अंतर्गत आते हैं। ये देश औद्योगिक रूप से पिछड़े हैं, मुख्यत: कृषि पर निर्भर हैं तथा प्रौद्योगिकी के ज्ञान के लिए कम या अधिक मात्रा में प्रथम समूह के औद्योगिक रूप से विकसित देशों पर निर्भर हैं। औद्योगिक विकास

में पिछड़े इन देशों में से अधिकांश अभी हाल तक ब्रिटेन, हॉलैंड, फ्रांस, अथवा अन्य यूरोपीय शक्तियों के उपनिवेश अथवा अर्ध उपनिवेश थे। इनमें से कुछ भूतपूर्व उपनिवेश अभी भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं हैं और सापेक्षत: निर्धन हैं जिसक कारण अल्पविकसित देश कहलाते हैं।

9.2 औद्योगिक क्रान्ति

आधुनिक विश्व के देशों में इंग्लैंड प्रथम औद्योगिक देश के रूप में उभरा और औद्योगिक विकास की इस प्रक्रिया को विभिन्न कारणों से क्रान्ति कहते हैं। वस्तु निर्माण अथवा उत्पादन प्रविधि में अथवा व्यापार संगठन विधियों में धीमा परिवर्तन तो सदैव ही होता है परन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इतनी तीव्रगति से परिवर्तन हुआ कि इस परिवर्तन के लिए क्रान्ति ही उपयुक्त शब्द है जिससे कि विकास की सामान्य प्रक्रिया से विभेद किया जा सके।

औद्योगिक वृद्धि एवं विकास का यह स्वरूप मध्ययुगीन सामंतवाद में आधुनिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण की चरम सीमा का प्रतिनिधित्व करता है। हम यहाँ औद्योगिक क्रान्ति से संबंधित कुछ प्रमुख विशेषताओं के बारे में बताएँगे। औद्योगिक पूँजीवाद का अर्थ है :

- वर्ग संबंधों में क्रान्तिकारी परिवर्तन, पूँजीपति वर्ग और कार्मिक श्रमिक वर्ग का विकास,
- नई मशीनों और कारखानों का बढ़ा हुआ उत्पादन,
- घरेलू तथा विदेशी बाजारों की वृद्धि जहाँ कि उत्पादन की खपत होती है,
- यूरोप में विकसित नव बुर्जुवा वर्ग (Bourgeosie) की संस्कृति,
- विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अटूट संबंध,
- राजनीतिक विचारधारा पर नई वर्ग संरचना का प्रभाव, और
- लोकतांत्रिक बुर्जुवा पद्धति का प्रादुर्भाव।

उपर्युक्त सभी घटकों/तत्वों के कारण इंग्लैंड में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए और इन्हें एक नया नाम दिया गया-- औद्योगिक क्रान्ति। 19वीं शताब्दी में अन्य यूरोपीय देशों में भी ये परिवर्तन धीरे-धीरे फैले। औद्योगिक क्रांति में इंग्लैंड एक आदर्श प्रतिरूप के रूप में विकसित हुआ इसलिए हमें इस क्रांति को समझने के लिए इंग्लैंड के इतिहास पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

9.2.1 व्यापारिक पूँजीवाद

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति के प्रारंभ के कुछ शताब्दियों पहले व्यापारिक पूँजीवाद के अधीन, पूँजी का प्रारंभिक एकत्रीकरण प्रारंभ हो चुका था। भारत और अन्य एशियाई देशों के साथ प्रारंभ हुए व्यापार तथा इनमें से कुछ गैर-योरोपीय देशों से लूट के रूप में भी योरोप में धन आया। केन्द्रीय और दक्षिणी अमेरिका के एजटेक्स और इन्कस देशों से यूरोप में लूट कर लाए गए सोने-चाँदी का एकत्रीकरण इस खुली लूट का वर्णनीय उदाहरण है। इन देशों से यूरोप में लायी जाने वाली बहुमूल्य धातु ने व्यापारिक धन के संग्रह में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नयी व्यापारोन्मुख अर्थव्यवस्था (व्यापारवादी अर्थशास्त्र) ने नये राष्ट्र राज्यों के शासकों जैसे इंग्लैंड में ट्यूडर्स और फ्रांस में बूर्बो को बहुमूल्य धातुओं के अपने देश में आगमन को प्रोत्साहित और अपने देश से धातु मुद्रा के निर्गमन को निरुत्साहित करने के लिए प्रेरित किया। शायद प्रोटेस्टैंट सुधारवादियों ने इस विचारधारा के मानसिक विकास अथवा विश्व दृष्टिकोण के विकास में योग दिया जिसे शहरों में नवविकसित मध्यवर्ग ने अपनाया। कुछ देशों में इस वर्ग ने महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली, साथ ही इंग्लैंड जैसे देश में जहाँ का कुलीन तंत्र राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थिति में था, व्यापारी वर्ग और मध्यवर्गीय व्यक्तियों का भी राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप प्रारंभ हो गया।

9.2.2 वेतन भोगी श्रमिकों का उदय

सामान्तवादी काल में भी निस्संदेह पारंपरिक कारीगर औद्योगिक श्रमिक था तथापि वह वेतन भोगी श्रमिक नहीं था। मध्ययुगीन कारीगर के पास प्राय: अपने उपकरण होते थे जिसकी सहायता से वह औद्योगिक उत्पादन करता था। वह किसी औद्योगिक इकाई या कारखाने में नहीं जाता था अपितु अपने घर अथवा कार्यशाला में अपने समूह के अन्य सहयोगी कारीगरों के साथ कार्य करता था और नियमानुसार उसे उत्पादन के अनुरूप मूल्य मिलता था। यह मूल्य प्रति उत्पादन के हिसाब से भी हो सकता था। तब उसे घंटे के हिसाब से पारिश्रमिक नहीं मिलता था

लेकिन धीरे-धीरे परिस्थिति बदलने लगी। 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के मध्य इस प्रकार के आत्मनिर्भर उत्पादन प्रणाली के स्थान पर नई प्रणाली का विकास शुरू हुआ।

9.2.3 गृह उत्पावन पद्धति (Putting out system)

इस प्रणाली में एक बिचौलिया व्यापारी संपर्क व्यक्ति की तरह कार्य करता था। विभिन्न कारीगरों (कामगारों) को दिए गए कच्चे माल से तैयार माल को दूसरे कारीगरों तक पहुँचाता था और वे उसका इस्तेमाल अपने उत्पादन में करते थे। उदाहरणार्थ, कपड़ा उद्योग में मध्यस्थ व्यापारी सूत कातने वाले, बुनकर और रंगसाज के मध्य संपर्क करने का कार्य करता था। आर्थिक कुशलता के दृष्टिकोण से यह प्रभावी था क्योंकि इस व्यवस्था में कामगार को कच्चा माल और तैयार माल के लिए खरीददार सहज उपलब्ध था, श्रम विभाजन के कारण उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर विशिष्टीकरण के कारण अधिक कौशल्य विकास संभव हुआ। विशिष्टीकरण और प्रभावी संगठन के कारण अधिक परिमाण में उत्पादन प्रारंभ हुआ तथा किसी विशिष्ट उत्पाद के उत्पादन का सुविधायुक्त क्षेत्रों में स्थानीयकरण भी हो गया। कुछ अर्थों में कामगार कारखाने में नहीं जाता था तथा वेतन न पाकर प्रति उत्पादन पारिश्रमिक (पीस रेट) पाता था। इस व्यवस्था के कारण एक तरह से काफी महत्वपूर्ण अन्तर आया कि कामगार की आत्मनिर्भरता कम हो गयी क्योंकि कच्चे माल की उपलब्धता तथा तैयार माल को बेचने के लिए वह मध्यस्थ व्यापारी पर निर्भर था तथा अपरिहार्य संपर्क व्यक्ति के लाभ के अवसर कहीं अधिक बढ़ गए थे। यह संपर्क व्यक्ति कोई व्यापारी हो सकता था अथवा कोई प्रमुख कामगार जिसके पास बिचौलिया या मध्यस्थ व्यापारी बनने के साधन हों। कुछ लोगों का विश्वास है कि इस तरह जो अवस्था आयी उसमें औद्योगिक क्रान्ति की ओर जाने की क्षमता काफी हद तक निहित थी।

गृह उत्पादन प्रणाली में कुछ कामगार विशेष व्यवसायों में सफल हुए जबकि अधिकांश संक्रमण काल में उन पूँजीपतियों पर निर्भर हो गये जो कि उत्पादों का उत्पादन से विक्रय तक नियंत्रण रखते थे। मध्य 18वीं शताब्दी से नई मशीनों के उपयोग ने वास्तविक कामगारों को पूँजीपतियों पर आश्रित कर दिया क्योंकि कुछ संपन्न कारीगर ही जिनके पास पर्याप्त पूँजी थी, मध्यकालीन उपकरणों के स्थान पर कीमती मशीनें लगा सकते थे। नई मशीनों पर कार्य करने के लिए पूँजीपतियों को कुशल कारीगरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। उद्योगपति नई कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न कर सकते थे और इसके लिए अन्य बहुत से कारण थे जैसे इंग्लैंड में बाड़ेबन्दी आंदोलन।

9.2.4 बाड़ेबन्दी आंदोलन (Enclosure movement)

इंग्लैंड के बाड़ेबन्दी आन्दोलन ने औद्योगिक वेतन भोगी कामगारों के एक वर्ग को तैयार कर दिया। इस आन्दोलन में किसानों को खेती से बेदखल कर दिया गया और भूमि की बाड़ेबंदी हो गयी। अब व्यक्तियों के समूह काम की तलाश में शहरों में एकत्रित होने लगे। उनमें से अधिकांश निम्न स्तरीय खेतिहर मजदूर थे जोकि बाड़ेबंदी प्रक्रिया के कारण कृषि रोज़गार से बाहर हो गये थे। बाड़ेबन्दी आन्दोलन की दो लहरें आईं। प्रथम लहर 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में प्रारंभ हुई जबकि बड़े भूस्वामियों ने छोटे किसानों और काश्तकारों को भूमि से बेदखल कर दिया और भूमि पर बाड़ेबंदी करके उसका उपयोग भेड़ पालन के लिए किया जाने लगा जिससे कि बढ़ते हुए ऊनी कपड़ा उद्योग के लिए ऊन प्राप्त किया जा सके। द्वितीय लहर 18वीं शताब्दी और 19वीं शताब्दी में आयी जब कि भूमि की बाड़ेबंदी भूमि को व्यापारिक दृष्टिकोण से सुधारने और उस पर कृषि करने के लिए की गयी।

बाद के विकास अर्थात् द्वितीय लहर में किसानों को राजा अथवा संसद के प्राइवेट एक्ट द्वारा प्रदत्त लाइसेंस के आधार पर भूमि से निकाल दिया गया (1700 से 1844 के मध्य ऐसे 2700 अधिनियम थे)। 1883 तक इंग्लैंड और वेल्स में भूमि वितरण कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो गया। 1.4 प्रतिशत वैयक्तिक भूस्वामियों के पास 73.9 प्रतिशत भूमि का स्वामित्व था। इससे अधिक उत्पादनशील पूँजीवादी तकनीक और खेती के विकास में सहायता मिली। साथ ही, इससे भूमिहीन श्रमजीवी वर्ग (ऐसे व्यक्तियों का वर्ग जो अपनी मेहनत बेचकर जीवन यापन कर सकते थे) उत्पन्न हुआ।

कुछ समय पहले तक यह विश्वास किया जाता था कि बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति औद्योगिक श्रमजीवी वर्ग के रूप में शहरों और कस्बों में आए। किंतु हाल ही में इस मत का खंडन किया गया और यह तर्क दिया जाता है कि पूँजीवादी आधार पर कृषि क्रांति के लिए भी श्रमजीवी/सर्वहारा वर्ग की आवश्यकता थी। यह संभव है कि खेती और कारखाने दोनों ही ने इस नये वर्ग को वेतन भोगी श्रमिक के रूप में उपयोग किया हो।

बोध प्रश्न 1

1 औद्योगिक क्रांति के प्रमुख तत्वों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 बाड़ेबंदी आंदोलन किन दो लहरों में आया?

1 .....

2 .....

3 निम्न प्रश्नों के सही उत्तर पर निशान (√) लगाइए

1 सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड के भू-सामन्तों ने भूमि के बड़े-बड़े टुकड़ों की बाड़ेबंदी क्यों की

क) क्योंकि वे अनाज उगाना चाहते थे।

ख) कारखाने लगाना चाहते थे।

ग) भेड़ें पालना चाहते थे।

घ) जंगल लगाना चाहते थे।

2 इंग्लैंड में 1700 से 1848 के बीच बड़ी संख्या में लोग गाँवों से शहरों में चले गये क्योंकि

क) वहाँ जीवन अधिक आरामदायक था।

ख) इंग्लैंड में सूखा पड़ा था।

ग) लगातार युद्ध हो रहे थे।

घ) उन्हें जमीनों से निकाल दिया गया था।

9.3 कृषि के क्षेत्र में बाज़ार और उपभोक्ता उत्पादन

कार्य के लिए मिली मज़दूरी और पूँजीवादी संबंधों (श्रमिक एवं उत्पादन साधन उपलब्ध कराने वाले पूँजीपति) के विवेचन से पूर्व हमें कृषि क्रान्ति पर भी ध्यान देना चाहिए जो कि औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अथवा उसके समकालीन थी, इसके कारण एक ओर कृषि उत्पादन और उसमें प्रयुक्त प्रौद्योगिकी में व्यापक परिवर्तन तथा दूसरी ओर उत्पादन संबंधों के परिवर्तन हुए जिनसे कृषि ने भी पूँजीवादी शक्ल अख्तियार कर ली।

यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कृषि क्रान्ति के बिना औद्योगिक क्रान्ति संभव नहीं थी। औद्योगिकीकरण का अर्थ है जनशक्ति का कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र की ओर जाना। 1688 में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति पूर्व विशिष्ट प्रकार का जनशक्ति का विभाजन देखने को मिलता है। यह कथन 1688 में ग्रेगरी किंग के अनुमान पर आधारित है। ग्रेगरी किंग ने अनुमान लगाया कि लगभग 80 प्रतिशत व्यक्ति कृषि में तथा 20 प्रतिशत अन्य क्षेत्रों में कार्यरत थे। सन् 1800 में कृषि क्षेत्र में लगभग 40 प्रतिशत श्रमिक थे तथा 1901 में यह संख्या घटकर श्रमिक शक्ति का केवल 8.5 प्रतिशत रह गई। इससे विदित होता है कि बड़ी मात्रा में कृषि व्यवसाय से श्रमिक अन्य व्यवसायों में चले गये। कृषि उपभोक्ता उत्पादन में कमी को तभी रोका जा सकता था जब कृषि में प्रति व्यक्ति उत्पादन दर ज्यादा हो।

1850 के दशक तक ब्रिटेन खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर था। औद्योगिक वृद्धि का अर्थ था शहरीकरण। शहरी आबादी में वृद्धि के कारण शहरों में मक्के की मांग विशेष रूप से बढ़ गई। मक्के की कमी से शहरों में समस्या पैदा हो सकती थी। विशेषत: अस्थायी श्रमिक वर्ग एवं नियमित अंतराल पर या कभी-कभी कार्यरत जनसंख्या के कारण। घरेलू बाजार के विकास, से कृषि और उद्योग के बीच अंतर्निर्भरता विकसित हुई। उद्योग में निवेशित पूँजी का कुछ अंश ग्रामीण अथवा कन्ट्री बैंकों से आता था जो अंग्रेजी सिटी बैंकों से भिन्न थे क्योंकि सिटी बैंक का

कार्य विदेशी व्यापार तथा हुन्डी का लेन-देन आदि था। कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त कार्मिक शक्ति उद्योग में लग गई। इन कृषि श्रमिकों की तकनीकी रूप से उन्नत पूँजीवादी कृषि में मांग थी तथा कृषि उत्पादों की भी विकसित हो रहे औद्योगिक शहरों में मांग बढ़ रही थी।

9.3.1 कृषि क्रांति

अब हमें कृषि क्षेत्र के उन परिवर्तनों का विश्लेषण करना चाहिए जिन्हें हम क्रांतिकारी कह सकते हैं। इन परिवर्तनों में कृषि क्षेत्र में उत्पादन की प्रविधि में परिवर्तन और उत्पादन प्रक्रिया में लगे व्यक्तियों के संबंध में परिवर्तन महत्वपूर्ण थे। ये दोनों परिवर्तन अंतर्संबंधित थे परन्तु विवेचन के दृष्टिकोण से हम इन्हें अलग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, बड़ी मशीनों के उपयोग अथवा उद्योग उत्पादित उर्वरकों के प्रयोग में बड़ी मात्रा में पूँजी निवेश निहित हैं। केवल बड़े कृषि क्षेत्रों में ही बड़ी मशीनों का उपयोग संभव था और प्रभावी खेती के लिए बड़े कृषि भूखण्डों की आवश्यकता थी। इसलिए छोटे किसानों ने पूँजीवादी किसानों के लिए, जो कि अपने खेतों में प्रयुक्त नयी प्रौद्योगिकी में पूँजी निवेश कर सकते थे, रास्ता छोड़ दिया।

कृषि क्षेत्र में प्रौद्योगिकी परिवर्तन बड़े विस्तृत थे। निम्न परिवर्तन अत्याधिक महत्वपूर्ण थे।

i) भूमि सुधारों के कारण खेती योग्य भूमि का क्षेत्र बढ़ गया। दलदल और कीचड़ युक्त क्षेत्रों से आधुनिक पंप के द्वारा जल निष्कासन से 1800 से 1900 के मध्य इंग्लैंड में 750,000 एकड़ अतिरिक्त भूमि खेती के लिये उपलब्ध की गयी।

ii) सघन खेती और फसल चक्र की नयी विधि के उपयोग द्वारा प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ गयी।

iii) आधुनिकीकरण की मात्रा बढ़ गयी। उदाहरण के लिए 1840 में इंग्लैंड जैसे छोटे देश में 40,000 कटाई की मशीनें थीं जो कि फ्रांस और जर्मनी में लगी मशीनों की संयुक्त संख्या से अधिक थीं।

कुल परिणाम इंग्लैंड के कृषि उत्पादन में सराहनीय वृद्धि था। यदि हम सन् 1700 को आधार वर्ष मानें तो देखेंगे कि 1750 में सूचकांक (Index number) 111 था और 1800 में 143 था। तब से 1850 तक 1.5 प्रतिशत वार्षिक चक्रवृद्धि की दर से उत्पादन बढ़ा।

9.3.2 कृषि में पूँजीवादी संबंध

कृषि क्रांति में परिवर्तन का दूसरा पहलू था इस क्षेत्र में पूँजीवादी संबंधों का विकास। यह प्रवृत्ति, जो कि पूरे यूरोप में व्याप्त थी, विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में देखने को मिलती है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत छोटे किसानों को खेती छोड़नी पड़ी जिससे बड़े किसानों के पास भूमि एकत्रित हो गई। इसके लिए राज्य की सहायता भी उपलब्ध थी।

हम देख चुके हैं कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड में बाड़े-बंदी आंदोलन, इस परिवर्तन का स्पष्ट उदाहरण था। इसमें गाँव के जानवरों की चरने योग्य भूमि का विनियोजन, छोटे-छोटे भूमि के भागों को संगठित करना और परती भूमि का अधिग्रहण भी शामिल था। स्कैंडिनेविया में यह भूमि की चकबंदी स्वैच्छिक अदला-बदली के माध्यम से हुई (1749 के अधिनियम) और बाद में एक प्रकार के अनिवार्य पुनर्विभाजन से (1783, 1807, 1827 के अधिनियम)। फ्रांस में भिन्न पद्धति विकसित हुई जहाँ कि 1789 की क्रान्ति के पश्चात् छोटे किसानों, भूमिधरों और सहयोगी खेतिहरों की बँटाई (metayage) प्रणाली के अन्तर्गत अधिकता थी। जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्र में भी छोटे किसानों की अधिकता थी जबकि पूर्वी जर्मनी में ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े भूस्वामियों की अधिकता थी जिन्हें कि जंकर्स कहते थे।

रूस में कृषिदासों की मुक्ति के कारण (1861 और 1863 के नियमों द्वारा) किसान अनेक स्तरों में बँटे हुए थे। लेनिन ने पूँजीवाद के विकास पर अपनी पुस्तक में रूस में इस प्रकार के तीन स्तर बताए हैं। ये स्तर थे (1) कुलक वर्ग जिनके बड़े खेत थे तथा जो व्यापारिक कृषि में लगे थे उनकी आमदनी का कुछ भाग उधार देने के धंधे में जाता था (2) मध्यवर्गीय कृषक जो कि व्यापारिक कृषि नहीं कर सकते थे और कुलक तथा साहूकारों पर बहुत अधिक निर्भर रहते थे तथा (3) ग्रामीण सर्वहारा वर्ग जोकि 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में कृषक जनसंख्या का कम से कम 50 प्रतिशत थे। ये वे व्यक्ति थे जिनके पास या तो कोई भूमि नहीं थी अथवा बहुत कम भूमि थी जिसके कारण वह श्रमिक आय पर अर्थात् विभिन्न प्रकार की मजदूरी पर निर्भर थे।

ऊपर वर्णित परिस्थितियों में संसाधनों का अमीर किसानों के हाथों में एकत्रीकरण होना एक महत्वपूर्ण परिणाम था और इससे भूमिधर किसान वेतनभोगी मज़दूर बनने लगे। इस प्रकार इंग्लैंड की तरह ही बाज़ार में बिक्री हेतु पण्य माल के उत्पादन के लिए व्यापारिक कृषि में पूँजीवादी संबंधों का विकास होने लगा था।

9.4 कारखाने और मशीन

जैसे कि कृषि उत्पादन के क्षेत्र में भूमि और कृषि पूँजी (जैसे हल, मशीन, जानवर) के स्वामी तथा श्रमिकों (जिनके पास उत्पादन के नगण्य अथवा अल्प साधन थे और जो श्रम आजीविका के लिए मजदूरी पर आधारित थे) के बीच पूँजीवादी संबंध विकसित हुए, ठीक उसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार के संबंध विकसित हुए। यहाँ ये संबंध फैक्ट्री मालिकों (जिनके पास उपकरण और मशीनें थीं) तथा पूर्णतः निर्भर श्रमिक वर्ग अथवा सर्वहारा वर्ग के बीच विकसित हुए। लेकिन यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि पूँजीपतियों द्वारा इन उत्पादन साधनों के स्वामित्व का कोई फायदा तब तक नहीं था जब तक कि बिकी योग्य माल के उत्पादन के लिए उसके पास श्रमिक न हों।

हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधन उत्पादन की प्रक्रिया में मालिक तथा श्रमिक के मध्य सामाजिक संबंधों में पूँजी की तरह कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, एक अप्रयुक्त मशीन मात्र सम्पत्ति है लेकिन यदि यह मशीन श्रमिकों की सहायता से उत्पादन करती है तो यह पूँजी बन जाती है। अतिरिक्त माल के उत्पादन की प्रक्रिया में मालिक अपना मुनाफा लेता है और श्रमिकों को उनका पारिश्रमिक देता है। इस प्रकार नई कारखाना प्रणाली का तात्पर्य बड़ी और अच्छी मशीनों में अधिक पूँजी लगाना ही नहीं था बल्कि इसे दो वर्गों—पूँजीपतियों और औद्योगिक श्रमिकों के मध्य विभिन्न प्रकार के संबंधों के विकास के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

9.4.1 नयी प्रौद्योगिकी

नयी फैक्ट्री में निश्चय ही बड़ी और अच्छी मशीनें थीं। 18वीं शताब्दी के मध्य में यह उपलब्धि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विज्ञान के उपयोग से प्राप्त हुई थी। इनमें से कुछ प्रमुख उपलब्धियाँ थीं—

- लौह और इस्पात उद्योग में रोलिंग मशीन का आविष्कार (1754)
- हारग्रीव्ज की 'स्पिनिंग जैनी' जिससे 8 से 120 धागे एक साथ काते जा सकते थे (1769)
- कपास मिलों में भाप शक्ति का प्रयोग (1785)
- कार्टराइट का शक्ति चलित लूम (1787)
- बोलटन और वाटम के संयुक्त प्रयास से निर्मित भाप चलित रेल इंजन और पेडलशिप (1800-2)
- अन्य आविष्कारों ने कपड़ा उद्योग, लौह एवं इस्पात तथा अभियांत्रिकी उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों ने इंग्लैंड के प्रारंभिक औद्योगिकीकरण की आधारशिला रखी

ऐतिहासिक रूप से किसी प्रक्रिया अथवा आविष्कार की खोज अपने आप में इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितना उत्पादन में इन आविष्कारों का उपयोग। इसी कारण सामाजिक और आर्थिक परिवेश जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है औद्योगिक क्रान्ति के लिए महत्वपूर्ण था। इस परिवेश का एक महत्वपूर्ण पक्ष विज्ञान का विकास और इसके उपयोग के लिए उपर्युक्त मनःस्थिति का विकास था, ठीक उसी तरह जिस तरह यह यूरोप के पुनर्जागरण काल में स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है।

9.4.2 कारखाना प्रणाली, श्रमिक और विधि निर्माण

नये मशीनी काल में कारखाना प्रणाली का श्रमिकों के लिए क्या अर्थ है? यहाँ पर यदि हम मध्ययुगीन काल में कामगारों की स्थिति का स्मरण करें अथवा गृह उत्पादन पद्धति के औद्योगिक प्रारूप का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है। बाद की प्रणाली ने कारीगरों की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया। कारखाना प्रणाली के विकास के कारण औद्योगिक श्रमिक पूँजी के अधीनस्थ हो गए क्योंकि

i) पूँजीपति अथवा उसके प्रतिनिधि नियोजक थे, संगठनकर्त्ता थे और उत्पादन प्रणाली के सुपरवाइजर थे (जबकि गृह उत्पादन पद्धति में व्यापारी उत्पादन प्रक्रिया में बाह्य घटक था)

ii) फैक्ट्री मशीनों के संचालन में भाप और बाद में विद्युत शक्ति के उपयोग ने नये युग का सूत्रपात किया किंतु 19वीं शताब्दी की कारखाना प्रणाली में कार्य की गति मशीन संचालित करती और श्रमिकों को उसके अनुसार कार्य करना पड़ता था। वे अब मशीनों का अंग मात्र थे।

iii) कारखानों ने बिखरे उत्पादन को सकेन्द्रित उत्पादन में बदल दिया। वहाँ बहुत से श्रमिक एक ही क्षेत्र में कार्य करते थे, जिससे उत्पादन प्रक्रिया को सामूहिक चरित्र मिलता था। इससे औद्योगिक शहरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ गयी।

औद्योगिक शहरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ने के कारण इन श्रमिकों के अपने वर्ग के समान हित के प्रति जागरूकता का विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई कारखाना प्रणाली में प्रौद्योगिक विकास ने एक ओर तो उत्पादकता बढ़ाई और दूसरी ओर श्रमिकों को पूँजीवादी प्रणाली के अधीन बना दिया। औद्योगिकीकरण की प्रारंभिक अवस्था में शहरों में विशेष रूप से श्रमिकों और निम्न वर्गों के जीवन स्तर में गिरावट आई। चार्ल्स डिकन्स के साहित्य से श्रमिकों और निम्न वर्गों के जीवन की गहरी जानकारी मिलती है। उसने संभवतया अपने अनुभवों और प्रेक्षणों के आधार पर 19वीं शताब्दी के इंग्लैंड के समाज के दुखद पक्ष का अपने उपन्यासों में चित्रण किया। इसी प्रकार अन्य समकालीन कवियों तथा विद्वानों ने औद्योगिकीकरण के कई घृणित पहलुओं की आलोचना की और इन कारखानों को 'अँधेरे शैतानी कारखाने' कहा।

शहरों में निम्न वर्ग की दयनीय दशा तथा पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण ने परोपकारी वर्ग का भी ध्यान आकृष्ट किया। इसके अलावा जो वर्ग पूँजीवादी औद्योगिक प्रणाली का लाभग्राही था वह देख रहा था कि इन हालातों में यह व्यवस्था खतरे में पड़ सकती है और जन सामान्य का असंतोष दूर करके ही पूँजीवादी औद्योगिक प्रणाली में स्थायित्व लाया जा सकता है। अत: यह वर्ग अतिशोषण के नियंत्रण हेतु सुधारवादी कानून बनाने के लिए आतुर था। अत: सरकार ने फैक्ट्रियों के श्रमिकों की दशा सुधारने, बालकों को फैक्टरियों में काम करने से रोकने, महिलाओं के कार्य घंटे कम करने तथा बाद में पुरुष श्रमिकों के लिए भी कार्य घंटे कम करने के संबंध में फैक्ट्री अधिनियम लागू किये। प्रारंभिक नियम (उदाहरणार्थ 1802 का राबर्ट पील का फैक्ट्री अधिनियम) निष्प्रभावी था परन्तु बाद के कानून (1833, 1844 और 1847 के अधिनियम) के द्वारा इन लक्ष्यों में से कुछ को प्राप्त किया जा सका। फैक्ट्री अधिनियम का एक परिणाम इंग्लैंड में फैक्ट्री निरीक्षकों द्वारा श्रमिक मजदूरों की स्थिति पर तैयार प्रतिवेदन (रिपोर्ट) थे। इन रिपोर्टों को कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजल्स ने औद्योगिक पूँजीवाद के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग की दशा का विश्लेषण करने के लिए प्रयोग किया।

सन् 1740 से 1850 के बीच श्रमिकों के जीवन स्तर में लगातार गिरावट आई। 1850 के बाद मजदूरी की दर बढ़ी। एक अनुमान के अनुसार 1860 से 1910 तक शहरी श्रमिक के वास्तविक वेतन में 60 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। श्रमिक वर्ग में अधिक कुशल कार्मिकों एवं पर्यवेक्षक कार्मिकों के एक वर्ग का उदय हुआ जिसे सामान्य श्रमिक की तुलना में अधिक जीवन स्तरीय सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इस वर्ग को कभी-कभी अभिजात श्रमिक वर्ग भी कहा गया है।

बोध प्रश्न 2

1 उन तीन तकनीकों का वर्णन कीजिये, जिन्होंने इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति लाने में सहायता की।

क) .....

ख) .....

ग) .....

2 निम्नलिखित में से वे तीन श्रेणियाँ कौन सी हैं जिन्हें लेनिन ने रूस में पूँजीवाद के विकास के काल में सामाजिक श्रेणियों की संज्ञा दी।

क) व्यापारी	ख) कुलक
ग) कारीगर	घ) मध्यम किसान
ङ) बटाईदार	च) सर्वहारा वर्ग
छ) बुद्धिजीवी	ज) धनी किसान

3 अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में उद्योगों के क्षेत्र में होने वाले तीन प्रमुख आविष्कार कौन से थे?

क) .....

ख) .....

ग) .....

4 19वीं शताब्दी इंग्लैंड में जो फैक्ट्री कानून बने उन्होंने किन दो क्षेत्रों में मजदूरों की दशा सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई?

क) .....

ख) .....

9.5 पूँजी संग्रहण और लाभ प्रेरण का प्रयोजन

प्राथमिक पूँजी संग्रहण के बारे में हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं और देख चुके हैं कि किस प्रकार औद्योगिक उत्पादन में अतिरिक्त लाभ पूँजी संचय में वृद्धि करता है। पूँजी वृद्धि की दर अर्थव्यवस्था में वृद्धि की क्षमता की सूचक है। 17वीं शताब्दी में इंग्लैंड में पूँजी वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय का 3 से 4 प्रतिशत थी जो 1860 में लगभग 10 प्रतिशत हो गयी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह घटकर 7 से 8 प्रतिशत रह गयी। अन्य औद्योगिक देशों जैसी जर्मनी और अमेरिका में आरम्भिक वृद्धि में यह दर और भी अधिक थी (लगभग 12 से 15 प्रतिशत)। शायद इंग्लैंड में औद्योगिकीकरण दर उन अन्य देशों की औद्योगिकीकरण दर से कम थी जिनमें उद्योगिकीकरण देर में शुरू हुआ था।

9.5.1 पूँजी संघटन में परिवर्तन

गौर करने लायक महत्वपूर्ण तथ्य पूँजी संग्रहण की दर न होकर पूँजी संघटन में परिवर्तन है। मशीनी युग में प्रौद्योगिक परिवर्तन के प्रकार के अनुरूप "स्थिर" पूँजी का अंश (उदाहरणार्थ, मशीन और फैक्ट्री) परिवर्तनशील पूँजी (फैक्ट्री चलाने के लिए जन शक्ति सहित अन्य निवेश) की तुलना में बढ़ा। यह औद्योगिक पूँजीवाद का एक घटक था। पूँजी विनिर्माताओं के हाथ में जाने से श्रमिक भी उसी दिशा में निर्दिष्ट हुए। इस आधार पर हम देखते हैं कि इंग्लैंड में 17वीं शताब्दी के अंत में जहाँ श्रमिकों का 80 प्रतिशत कृषि क्षेत्र के रोजगार में लगा था वहीं 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह औसत लगभग 40 प्रतिशत तथा 1901 में 8.5 प्रतिशत हो गया।

अंग्रेजी औद्योगिकीकरण के इस काल में राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र के योगदान में ह्रास भी परिलक्षित होता है। 1750 में यह लगभग 40 से 45 प्रतिशत तथा 1851 में गिर कर 20 प्रतिशत और 1881 में 10 प्रतिशत रह गया। औद्योगिक पूँजी वृद्धि का दूसरा घटक विदेशी व्यापार के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिक देशों का समाकलन था। 1680 के दशक में इंग्लैंड के विदेश व्यापार का राष्ट्रीय आय में योगदान 5 से 6 प्रतिशत था। मोटे अनुमान के अनुसार 1790 में यह अनुपात 14 प्रतिशत तथा 1880 में 36 प्रतिशत था। यह आय पूँजी संग्रहण का प्रमुख साधन थी। इंग्लैंड में जब औद्योगिक क्रान्ति चरम सीमा पर पहुँची तब यह वृद्धि दर उल्लेखनीय थी। यह प्रति व्यक्ति नेट राष्ट्रीय आय से परिलक्षित होती है (स्थिर मूल्य दर : 1900) यह आय 1855 में 18.3 से बढ़कर 1890 में 37.8 तथा 1910 में 41.9 हो गई।

9.5.2 वृद्धि का चक्रीय प्रक्रम

इंग्लैंड और अन्य देशों में पूँजीवाद के विकास का ऐतिहासिक पहलू यह भी है कि इसके दौरान बाजार में मंदी और गतिरोध भी आए। औद्योगिक पण्य माल की उच्च मांग, उपभोक्ता उत्पादन में अधिक निवेश और उच्च लाभ (औद्योगिक वृद्धि) काल के पश्चात् कम माँग, पूँजी निवेश की कमी और मंदी (कम लाभ) का काल भी रहा। विभिन्न कालों में इस प्रकार के चक्र चलते रहे। इन चक्रीय प्रक्रमों का अध्ययन अनेक इतिहासज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने किया है। उन्होंने अल्पकालिक चक्र, मध्य काल के चक्र (8 से 10 वर्ष) और दीर्घकालिक चक्र (50 वर्ष) निश्चित किए।

पश्चिम योरोपीय औद्योगिकीकरण में वृद्धि के तीन काल हैं

i) 1789 से 1815 तक का काल क्रान्ति और नेपोलियन के युद्धों का काल था।
ii) 1845 से 1873 का काल जिसमें जर्मनी और फ्रांस भी औद्योगिकीकरण की दौड़ में शामिल हो गए।
iii) 1895 से 1919 का काल जिसमें प्रथम विश्व युद्ध की तैयारी और प्रथम विश्व युद्ध हुआ।

1873 से 1895 के काल में बहुत अधिक मंदी थी तथा इस काल को वृहद मंदी का काल कहते हैं। 1929 से 1935 का समय और भी अधिक मंदी का काल था। इस मंदी का प्रभाव संपूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था पर पड़ा।

9.6 पूँजीवाद का विस्तार

हम देखते हैं कि औद्योगिक पूँजीवाद का जो स्वरूप 18वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में प्रारंभ हुआ 19वीं शताब्दी के मध्य से अन्य योरोपीय देशों में फैलने लगा। यह औद्योगिक क्रान्ति पड़ोसी देशों जैसे, फ्रांस और जर्मनी में तुरंत क्यों नहीं फैली? इसकी व्याख्या हेतु अनेक कारण सुझाए गए हैं। पहला कारण इन देशों के आन्तरिक बाजार का विभाजन था। उदाहरणार्थ, जर्मनी में 1871 तक राजनीतिक एकता की कमी थी और फ्रांस में व्यापारिक क्षेत्रीकरण तथा अन्य आंतरिक सीमा शुल्क थे। 1789 से 1815 के मध्य क्रांतिकारी युद्धों और नेपोलियन के युद्धों के कारण महाद्वीपीय (Continental) यूरोप का इंग्लैण्ड से सम्पर्क टूटा हुआ था जहाँ नई मशीनों और प्रौद्योगिकी से औद्योगिक स्वरूप बदल रहा था। 1789 में कांटीनेन्ट में बुर्जुआ वर्ग का सामाजिक और आर्थिक स्तर अंग्रेजी बुर्जुआ वर्ग की तुलना में कम था।

1789 से तथा विशेष रूप से नेपोलियन के शासन काल में महाद्वीपीय बुर्जुआ वर्ग को विकास का अवसर प्राप्त हुआ। पूँजी और श्रमिक गत्यात्मकता पर लगे अनेक सामंतवादी नियंत्रण समाप्त कर दिए गए। ये नियंत्रण पहले फ्रांस में तत्पश्चात् अन्य योरोपीय देशों में समाप्त कर दिए गए। जर्मनवासियों ने आन्तरिक बाजार को उल्लेखनीय रूप से एक जुट किया, पहले शुल्क अनुबन्धों द्वारा (जोलवेरीन 1834) और इसके बाद राजनीतिक एकीकरण (1871 में बिसमार्क की उपलब्धि)। फ्रेंच क्रान्ति के फलस्वरूप तकनीकी उत्कृष्टता का विकास हुआ अर्थात् इकोल पोलीटेक्नीक भावना का विकास हुआ। व्यापारिक और समष्टि नियमों को नये फ्रांसीसी और इंग्लिश प्रतिरूपों के आधार पर पूँजीवादी प्रतिष्ठानों को संस्थागत वैधानिक संरचना प्रदान करने के संदर्भ में परवर्तित किया गया। 1850-70 के काल में दो अन्य प्रक्रियाओं ने विकास में योग दिया।

i) 1870 में रेलों का 15 हजार मील से 50 हजार मील तक विकसित होना।

ii) मंद मुद्रास्फीति की परिस्थितियों और 1850 में आस्ट्रेलिया तथा केलीफोर्निया से आए सोने की अधिकता के कारण ऋण की सुविधा की वृद्धि।

परिणामतः जर्मनी तथा फ्रांस औद्योगिकीकरण की दौड़ में इंग्लैंड के समकक्ष होने का प्रयास करने लगे। इन देशों के उत्पादन विश्व बाजार में पहुँचने लगे और शताब्दी समाप्ति तक अंग्रेज एक चुनौती अनुभव करने लगे।

बोध प्रश्न 3

1 17वीं शताब्दी से 1901 तक इंग्लैंड की कुल जनसंख्या में कृषि श्रमिकों की संख्या 80 प्रतिशत से घटकर 8.5 प्रतिशत रह गई। इसके क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 पश्चिमी यूरोप के औद्योगिकीकरण में तीन प्रमुख चरण कौन से थे?

क) .....

ख) .....

3 इंग्लैंड की तुलना में फ्रांस और जर्मनी में औद्योगिक क्रान्ति देर से क्यों हुई?

क) .....

ख) .....

9.7 व्यक्तिवाद का उदय

हॉब्स के काल से व्यक्तिवाद का उदय अंग्रेजी बुर्जुवा वर्ग की संवृद्धि से जुड़ा था। तथापि औद्योगिक क्रान्ति के काल में, 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, सभी प्रकार की संबद्ध विचारधाराओं का विकास हुआ और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में इनका विस्तार हुआ। यह वह समय था जबकि, इंग्लैंड के श्रमिक वर्ग से तथा चैनल के दूसरी ओर फ्रांसीसी क्रान्ति से उत्पन्न आमूल परिवर्तनवाद (Radicalism) के विरुद्ध दृढ़ रूढ़िवादी प्रतिरोध दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि मध्य वर्ग उदार था तथापि कहीं पर वह सीमा निर्धारित करने के लिए दृढ़ था जिससे कि अब तक चली आ रही स्थिति में परिवर्तन न आ जाए। इस प्रकार हम दो विरोधी प्रवृतियों को देखते हैं। 19वीं शताब्दी के इंग्लैंड में प्रजातांत्रिक उदारवादी परंपराओं की प्रशंसा करते समय इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है।

19वीं शताब्दी का उदारवाद (यहाँ इंग्लैंड में टोरी कंजरवेटिव पार्टी के विपरीत की लिबरल पार्टी की बात नहीं कर रहे हैं) का उदय मूलत: आर्थिक व्यक्तिवाद, राज्य के हस्तक्षेप से स्वतंत्र उद्यमी के तथा स्वतंत्र व्यापार के विचारों अर्थात् विदेशी व्यापार पर कम से कम कराधान तथा व्यापार में अप्रतिबंधित प्रतियोगिता से उत्पन्न हुआ था। राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका अर्थ राज्य के कम से कम नियंत्रण का आदर्श, वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा और व्यक्तियों की नागरिक स्वतंत्रता थी। इन कार्यक्रमों के पीछे एक विचारधारा थी जो धर्मनिरपेक्ष थी, आडंबर मुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास तथा प्रसार में सहयोगी थी और चर्च के प्रति विरोध की भावना से प्रेरित थी। वैचारिक स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया गया जब तक कि इस प्रकार की स्वतंत्रता सामाजिक स्थायित्व के लिए चुनौती नहीं थी। उत्पीड़ित जातीयताओं (Nationalities), दासों और उपनिवेशीय राष्ट्रों जोकि अन्य योरोपीय शक्तियों के राज्याधीन थे के प्रति एक अमूर्त प्रकार की संवेदना और सहानुभूति का विकास हुआ। यद्यपि मध्य-वर्गीय लोगों का झुकाव उदारवाद की स्थापना करने की ओर था लेकिन तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की ओर से इस विचारधारा को कोई अनुकूल अभिव्यक्ति या सहायता प्राप्त नहीं हुई जिससे कि इस विचारधारा को वर्गीय हितों की सीमा के परे ले जाया जा सकता था।

सरकार का संसदीय स्वरूप : इस उदारवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इससे इंग्लैंड की सरकार का संसदीय, प्रतिनिधि व संविधानिक स्वरूप सुनिश्चित हुआ। इससे लोगों को मताधिकार प्राप्त हुआ और इसके कारण प्रतिनिधित्व प्रणाली में जो सुधार आया उसके परिणामस्वरूप भू-स्वामियों के कुलीन समूह द्वारा चलाए जा रहे अल्प तंत्र और वाणिज्यिक रईसों के कुछ छोटे-छोटे वर्गों द्वारा चलाए जा रहे शासन तन्त्र का हमेशा के लिए अन्त हो गया। नए-नए उद्योगपतियों व मध्य-वर्गीय लोगों ने संसदीय सुधार के लिए दबाब डाला और इसमें जेरेमी बेनथेम व जेम्स मिल जैसे विद्वानों ने अपना बौद्धिक समर्थन प्रदान किया। इसके परिणामस्वरूप 1832 व 1867 में सुधार अधिनियम बनाए गए और इससे मजदूर वर्ग के बहुत से लोगों को मताधिकार प्राप्त हो गया, जो कि अब तक केवल सम्पत्ति मालिकों को ही प्राप्त था। इससे इंग्लैंड में नए-नए औद्योगिक शहरों को और भी अधिक राजनीतिक महत्व मिला।

इसके साथ ही इंग्लैंड में लिबरल या कन्जरवेटिव दोनों पार्टियों ने मज़दूरों के बीच पनप रहे समाजवादी रुझान के मज़दूर संघों को बुरी तरह हतोत्साहित किया। इस बात का भी विशेष ध्यान रखा कि कहीं मज़दूरों पर फ्रांस के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव न पड़ सके। मज़दूरों के विरोध के दमन का सबसे उल्लेखनीय उदाहरण 'पीटरलू नर-संहार' था जो कि वर्ष 1819 में मज़दूरों द्वारा आयोजित की जा रही सभा पर पुलिस आक्रमण के परिणामस्वरूप घटित हुआ। इस समय तक काम्बीनेशन एक्ट का प्रयोग मज़दूर संघ के प्रतिनिधियों पर षड्यन्त्र का आरोप लगाकर उनको गिरफ्तार करने के लिए किया जाता था। 1830-39 में हुए निम्न वर्ग के आंदोलनों को चार्टिस्ट आन्दोलन का नाम दिया गया क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य मताधिकार प्राप्त करना था जिसका कि सरकार ने डटकर विरोध किया। सन् 1859 तक शान्तिपूर्ण धरना देने को वैधानिक मान्यता नहीं मिल पायी थी और मज़दूर संघों को पूर्ण वैधानिक मान्यता 1875 में प्राप्त हुई। (यद्यपि मज़दूर संघ का इतिहास 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मिल जाता है) 19वीं शताब्दी के मध्य से ही इंग्लैंड में मज़दूर संघ के क्रिया-कलापों को संस्था का रूप देने व मज़दूर वर्ग को संसदीय प्रतिनिधि प्रणाली के अंतर्गत लाने का प्रयास किया गया। हालाँकि यूरोपीय महाद्वीप में इस आवश्यकता को महसूस न करने के कारण 1848 में यूरोप के कई देशों में क्रांति हुई।

9.8 संसार का विभाजन तथा उपनिवेश

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि यूरोप में शुरू में ही पूँजी संचय की प्रक्रिया में एशिया व अमरीका की लूट तथा व्यापारिक पूँजीवाद के व्यापारिक लाभों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। औद्योगिक पूँजीवाद की संवृद्धि के साथ ही विकसित यूरोपीय देश निम्नांकित बातें चाहने लगे (क) सस्ता कच्चा माल (ख) औद्योगिक उपभोक्ता उत्पादनों के लिए बाजार और, (ग) एशिया, दक्षिण अमरीका व अफ्रीका महाद्वीप में अधिशेष पूँजी के निवेश के लिए उचित अवसर।

लेनिन ने इन नए शोषण पर आधारित संबंधों को पूँजीवाद का अपरिहार्य परिणाम माना। धन और आय के असमान वितरण के कारण समाज के गरीब तबके ने उपभोक्ता वस्तुओं का कम उपयोग करना शुरू कर दिया और उद्यमी (उद्योगकर्ता) अपनी वस्तुओं के लिए विदेशी बाजारों की ओर देखने लगे। चूँकि पूँजीवाद अपनी चरम सीमा पर था उद्योगों पर बड़े-बड़े बैंकों का एकाधिकार स्थापित हो गया और विदेशों में पूँजी निवेश किया जाने लगा विशेषकर उपनिवेशीय देशों में। चूँकि औद्योगिक पूँजीवाद फ्रांस, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमरीका जैसे अन्य देशों में फैल रहा था, इन देशों की घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने वाली शुल्क नीति के कारण घरेलू उद्योगों को बढ़ावा मिला। औद्योगिक शक्तियों के उपनिवेश ही ऐसे स्थान थे जहाँ पर अधिशेष मुद्रा या पूँजी का निवेश किया जा सकता था तथा वस्तुओं की बिक्री द्वारा मुनाफा कमाया जा सकता था। सामान्यतया यूरोपीय देश औद्योगिक रूप से प्रगति कर रहे थे, अत: पूँजीवादी वर्ग और वह सरकार जिस पर इस वर्ग का आधिपत्य था दोनों की दूसरे राष्ट्रों के साथ गहन प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय शक्तियों ने दुनिया को उपनिवेशों, अर्ध-उपनिवेशों व प्रभाव के क्षेत्रों में विभाजित कर दिया। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाला अन्तिम महाद्वीप अफ्रीका था जो 1870 से लेकर आगे के समय तक प्रभावित रहा।

ब्रिटेन को हम एक विशेष उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं। ब्रिटेन अपने उपनिवेशीय देशों से कच्चे पदार्थों का आयात करता था उदाहरण के लिए, ब्रिटेन, भारत व मिस्र से कपास, वेस्टइंडीज से चीनी, मलाया से टिन व रबर, नाइजीरिया से गरी का तेल, दक्षिण अफ्रीका से हीरे व सोना इत्यादि का आयात करता था। वह अर्ध-उपनिवेशीय देशों जैसे अर्जेन्टीना से गेहूँ तथा गो मांस, चीन से चाय, चिली से नाइट्रेट तथा ताँबा व ब्राजील से कॉफी और इसी तरह अन्य वस्तुओं का आयात करता था। औद्योगिक उत्पादनों के दृष्टिकोण से भी ये उपनिवेशीय देश अति महत्वपूर्ण थे उदाहरण के लिए 1840 में चीन और भारत दोनों कुल मिलाकर ब्रिटिश कपड़े का 22 प्रतिशत आयात करते थे और 1893 में अकेला भारत ही इन आयातों का 40 प्रतिशत माल खरीदता था। जहाँ तक ब्रिटेन के विदेशी निवेश का सवाल है, इसका 39 प्रतिशत निवेश उपनिवेशीय देशों में होता था। एशिया के उपनिवेशीय तथा अर्ध-उपनिवेशीय देशों में इस निवेश का 14 प्रतिशत निवेश होता था व अफ्रीका का हिस्सा इस तरह के निवेश में 11 प्रतिशत था (1870-1914)। फिर भी कुल मिलाकर अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में ब्रिटेन की निगाहों में पूँजी निवेश के लिए ये उपनिवेशीय देश कम महत्वपूर्ण थे। ब्रिटेन के लिए ये उपनिवेशीय देश कच्चे पदार्थों के स्रोत के रूप में कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे, साथ ही तैयार की गई औद्योगिक वस्तुओं के बाजार के लिए भी उपयोगी थे।

लेनिन ने इस आर्थिक साम्राज्यवाद को सामान्य तौर पर पूँजीवादी प्रणाली का परिणाम बताया दादाभाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, तथा एम.जी. रानाडे जैसे भारतीय मनीषियों ने उपनिवेशीय देशों की अर्थव्यवस्था पर इस प्रक्रिया के प्रभाव का विश्लेषण किया है। इन राष्ट्रवादी मनीषियों ने बताया कि उपनिवेशवाद का उद्देश्य उपनिवेशों में स्थानीय शिल्प उद्योगों को नष्ट करना, आधुनिक उद्योग को विकसित होने से रोकना भारतीय कच्चे माल तथा खनिज संसाधनों का विदेशों द्वारा उपयोग तथा उपनिवेश से धन खींचकर साम्राज्यवादी देशों में लाना था। औद्योगिक रूप से विकसित यूरोपीय शक्तियों द्वारा अपनाई जा रही साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की तीक्ष्ण समालोचना ने भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ावा दिया।

बोध प्रश्न 4

1 ऐसा माना जाता है कि औद्योगिक पूँजीवाद ने व्यक्तिवाद और उदारवाद के विकास में योगदान किया। अपने अध्ययन के आधार पर इस कथन की व्याख्या कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2 औद्योगिक देशों ने उपनिवेशों से कौन से तीन प्रमुख लाभ प्राप्त किये?

क) .....

ख) .....

ग) .....

3 भारत के प्रारंभिक राष्ट्रवादी चिन्तकों ने उपनिवेशवाद के कौन से चार प्रमुख परिणाम बताये?

क) ..... ख) .....

ग) ..... घ) .....

9.9 सारांश

कृषि और औद्योगिक क्रान्ति की दोनों प्रक्रियाओं को आधुनिक विश्व के स्वरूपों को बनाने का पूरा श्रेय दिया जा सकता है।

सामन्तवाद के पतन के साथ कुछ महत्वपूर्ण तत्त्वों जैसे व्यापारिक पूँजी, वेतन भोगी श्रमिक प्रणाली, गृह उत्पादन पद्धति तथा बाड़ेबन्दी प्रणाली ने औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की। बढ़े हुए कृषि उत्पादन और नई प्रौद्योगिकी ने इसके विकास में और भी योगदान दिया। औद्योगिक विकास के साथ पूँजी संघटन में भी परिवर्तन हुआ। विकास की एक नई चक्रीय प्रणाली अस्तित्व में आई। इस औद्योगिक विकास में समय-समय पर मंदी आई लेकिन धीरे-धीरे इस समस्या का निदान किया गया। कुछ ही समय में बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन ने पूँजीवाद और नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया। बहुत से देशों में नई राजनैतिक व्यवस्था भी आई। बढ़ते हुए उत्पादन के साथ नये बाजारों की जरूरत पड़ी। इसके कारण औद्योगिक देशों के बीच अधिक बाज़ारों पर कब्ज़ा करने की दौड़ शुरू हुई। इस दौड़ ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म दिया।

9.10 शब्दावली

एजटेक्स (Aztecs): मैक्सिको की एक खानाबदोश जाति जो मध्य मैक्सिको में बस गई।
बुर्जुवा वर्ग: आधुनिक पूँजीगत वर्ग जो उत्पादन के साधनों का स्वामी है।
कुलक: समृद्ध कृषक वर्ग जो कृषि कार्य के लिए मजदूर रखता था।
सर्वहारा वर्ग: औद्योगिक श्रमिक वर्ग।
स्पिनिंग जैनी: प्रारंभिक कताई की मशीन जिसमें एक से अधिक तकुआ (Spindle) होते हैं जिसके द्वारा कई धागे एक साथ काते जा सकते हैं।
इन्कास (Incas): दक्षिण अमेरिका में भारतीय मूल की एक जाति। इन लोगों ने एक सैन्य साम्राज्य स्थापित कर लिया था जिसमें पेरू, इकएडोर और चिली शामिल थे।
सहयोगी खेतिहर (Share Cropper): वह काश्तकार जिसे फ़सल का एक हिस्सा लगान के रूप में देना पड़ता था।
बटाई प्रणाली (Metayage System): फ्रांस में प्रचलित एक तरह की कृषिदासता जिसमें अपनी कृषि भूमि को बेच देने के कारण किसान नए भू-स्वामियों की भूमि पर खेती का काम करने और उपज का केवल आधा भाग पाने को बाध्य थे।

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 भाग 9.2 देखें
2 उपभाग 9.2.4 देखें
3 1) ग 2) घ

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 9.3.1 देखें
2 ख, घ, च
3 उपभाग 9.4.1 देखें
4 उपभाग 9.4.2 देखें

बोध प्रश्न 3

1 उपभाग 9.5.1 देखें
2 उपभाग 9.5.2 देखें
3 भाग 9.6 देखें

बोध प्रश्न 4

1 भाग 9.7 देखें
2 भाग 9.8 देखें
3 भाग 9.8 देखें

इस खंड के लिये कुछ उपयोगी पुस्तकें

पार्थसारथी गुप्ता, 1983, **आधुनिक पश्चिम का उदय**, हिंदी माध्यम से कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली।

प्योदोर कोरोव्किन, 1982, **प्राचीन विश्व इतिहास का परिचय**, पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

अर्जुन देव, 1986, **सभ्यता की कहानी**, भाग 1 व 2, एन.सी.ई.आर.टी

चाइल्ड, वी. गोर्डन, **मानव प्रगति की कहानी**, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान।

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

यू जी एफ एच एस - 01
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम

खंड

3

स्वतंत्र भारत का उदय

इकाई 10

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ: पूर्व औपनिवेशिक तथा औपनिवेशिक काल 5

इकाई 11

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन-I 17

इकाई 12

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन-II 32

इकाई 13

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के निहित मूल्य 48

• खंड परिचय

इससे पहले के खंडो में आपको मानव समाज के विकास के विभिन्न चरणों के विषय में बताया गया था। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार मानव विकास की प्रक्रिया विभिन्न स्तरों से गुजरती हुई औद्योगिक क्रान्ति लाई। इस काल में दुनिया के विभिन्न भागों में यूरोपीय शक्तियों के प्रभुत्व में उपनिवेशिक बस्तियों की स्थापना हुई। यूरोपीय देशों द्वारा क्रूर शोषण से उपनिवेशों में असंतोष उत्पन्न हुआ और विदेशी शक्तियों का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलनों का जन्म हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्वतंत्रता की अभूतपूर्व लड़ाई थी और दुनिया भर के अन्य उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के लिए मार्ग दर्शक साबित हुई। इस खंड में हम आपको भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों से परिचित करायेंगे। एक खंड में इस वीरतापूर्ण संग्राम के सभी गौरवशाली पहलुओं को समझना बहुत कठिन है किन्तु हमारा यह प्रयास है कि आप को सामान्यतः इसके मूल तत्वों से परिचित करा सकें।

इकाई 10 में आप को भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओं से परिचित कराने का प्रयास किया गया है। इस इकाई के अन्तर्गत यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवाद का क्या प्रभाव पड़ा और औपनिवेशिक शासन ने भारत के आर्थिक विकास में कैसे विघ्न डाला।

अंग्रेजों द्वारा भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के समय से ही भारत में औपनिवेशिक शासन का विरोध शुरु हो गया था। राजाओं, जमींदारों और किसानों ने अंग्रेजों का सामना किया परन्तु ये कोशिशें स्थानीय स्तर तक ही सीमित रहीं केवल 1857 में महान राष्ट्रीय विद्रोह आया, जिसने ब्रिटिश शासन को चुनौती दी। आंदोलन के रूप में तो यह विद्रोह असफल रहा किन्तु अंग्रेजों के विरुद्ध विरोध ने एक नवीन रूप ले लिया। इकाई 11 में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857) के भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रारम्भिक अवस्था और इससे संबंधित विभिन्न सांस्कृतिक एवं समाज सुधार आंदोलनों के विषय में विचार किया गया है।

प्रारम्भिक अवस्था में राष्ट्रीय आंदोलन राजनीति के उदार और संवैधानिक दृष्टिकोण पर आधारित था किन्तु शीघ्र ही इस आंदोलन की संवैधानिक विशेषता त्याग दी गई। धीरे-धीरे इसका उद्देश्य जनसाधारण को संघर्ष के लिए लामबंद (mobilizing) करना हो गया।

राष्ट्रीय आंदोलन को एक जन आंदोलन में बदलने का श्रेय महात्मा गांधी को है। इकाई 12 के अन्तर्गत आंदोलन की इस अवस्था और स्वतंत्रता प्राप्ति में इसकी परिणति पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त आपको राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित अन्य धाराओं जैसे क्रान्तिकारी आतंकवाद, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, कृषक और श्रमिक वर्ग का आंदोलन, इंडियन नेशनल आर्मी आदि से भी परिचित कराने का प्रयास किया गया है।

इकाई 13 खंड की अन्तिम इकाई में राष्ट्रीय आंदोलन में नये विचार और मूल्यों की उत्पति उन के प्रचार पर विचार किया गया है। इस संघर्ष के दौरान आंदोलन ने लोकतंत्र के मूल्यों, नागरिक स्वतंत्रता और धर्मनिरपेक्षता को बनाये रखा। भारतीयों ने धीरे-धीरे इन मूल्यों को राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदार के रूप में ग्रहण किया और उन्हें आत्मसात् कर लिया। इस इकाई में यह वर्णन किया गया है कि यह प्रक्रिया किस प्रकार पूरी हुई।

इतिहास के ऐच्छिक पाठ्यक्रम I– आधुनिक भारत (1857-1964) के लिये कुछ औडियो पाठ तैयार किये गये हैं। ये औडियो पाठ विश्वविद्यालय के अध्ययन केन्द्रों में उपलब्ध हैं। मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम के इस खंड के संबंध में भी में ओडियो पाठ उपयोगी होंगे।

आभार: राष्ट्रीय आंदोलन संबंधी चित्र उपलब्ध कराने के लिए हम नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नई दिल्ली के प्रति आभार है।

इकाई 10 भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ: पूर्व औपनिवेशिक तथा औपनिवेशिक काल

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 पूर्व-औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ
  10.2.1 कृषि
  10.2.2 व्यापार
  10.2.3 हस्तकला उद्योग
10.3 औपनिवेशिक शासन के विविध पक्ष
10.4 औपनिवेशिक शासन का विकास
10.5 औपनिवेशिक शासन का प्रभाव: पाश्चात्य दृष्टिकोण
10.6 ब्रिटिश शासन का प्रभाव: भारतीय दृष्टिकोण
  10.6.1 निकासी सिद्धांत
  10.6.2 अनुद्योगीकरण
10.7 औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरण
10.8 औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत कृषि
  10.8.1 नया भूमि बन्दोबस्त
  10.8.2 कृषि का व्यवसायीकरण
  10.8.3 कृषि पर प्रभाव
10.9 औपनिवेशिक शासन की भूमिका
10.10 सारांश
10.11 शब्दावली
10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

भारत में ब्रिटिश शासन का अर्थ केवल राजनैतिक प्रभुत्व ही नहीं था। इसने भारत के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश किया। ब्रिटिश शासन ने आर्थिक क्षेत्र में कुछ मौलिक परिवर्तन करके भारतीय अर्थव्यवस्था को बदल डाला। इस इकाई में ब्रिटिश शासन द्वारा लाये गये आर्थिक परिवर्तनों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- ब्रिटिश विजय से पूर्व भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति के विषय में समझ सकेंगे।
- भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जान सकेंगे।
- धन निकासी और अनुद्योगीकरण की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- भारत को गरीब बनाने में औपनिवेशिक राज्य की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत ब्रिटिश का प्रत्यक्ष उपनिवेश था। भारत की अर्थ-व्यवस्था, समाज और राज्यव्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन का गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के बहुत से गंभीर परिणाम आज भी मौजूद हैं। समकालीन भारतीय समाज के पहलुओं को समझने के लिए भारत की औपनिवेशिक व्यवस्था का अध्ययन उपयोगी है। यह कहना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन उपनिवेश समाज पर पूरा प्रभाव डालता है क्योंकि सामाजिक जीवन का हर पहलू उपनिवेशवादियों की औपनिवेशिक नीति से प्रभावित होता है। एक प्रत्यक्ष उपनिवेश पूर्ण रूप से उपनिवेशवादियों के अधीन होता है और औपनिवेशिक नीतियाँ और स्वार्थ उपनिवेश के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर हावी हो जाते है।

भारत के विषय में दूसरी सच्चाई यह थी कि उपनिवेशी शासन बहुत लम्बे समय के बाद समाप्त हुआ और भारत में दीर्घकालीन औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया। भारत में ब्रिटिश शासन के लम्बे काल ने अंग्रेजों को शासन करने के लिए मजबूत तथा स्थिर संस्थाओं को स्थापित करने का पर्याप्त समय दिया। भारत में ब्रिटिशों के बसने की गति धीमी व नियमित थी और यह विभिन्न स्तरों से होकर गुजरी। इस क्रांतिकारी प्रक्रिया ने अपने कार्यों से प्राप्त

किये गये अनुभव के आधार पर अंग्रेजों को अपनी नीतियाँ विकसित करने और बदलने का अवसर दिया लेकिन इससे पहले कि हम इस पर विचार करें, हमें ब्रिटिश शासन से पहले की भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति पर एक दृष्टि डालनी चाहिए।

10.2 पूर्व-औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ

पूर्व-औपनिवेशिक काल में भारत की अर्थ-व्यवस्था मजबूत थी। स्वनिर्भर कृषि, सफल व्यापार और समृद्ध हस्तकला उद्योग — ये भारतीय अर्थ-व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थी। इनमें से प्रत्येक पर हम अलग-अलग विचार करेंगे।

10.2.1 कृषि

भारत में कृषि कार्य छोटे ग्राम समुदायों में संगठित थे। किसान अपने गुजारे भर की पैदावार कर लेता था। गाँव लगभग स्वनिर्भर आर्थिक इकाई थे। बाहरी दुनियाँ से इनके व्यापारिक सम्पर्क केवल भू-राजस्व चुकाने (साधारणतः वस्तु के रूप में) और नजदीक के शहर से कुछ आवश्यक वस्तुएँ खरीदने तक ही सीमित थे। किसान केवल उन्हीं फसलों को उगाते थे, जिनकी उन्हें अपने इस्तेमाल के लिये आवश्यकता थी। उसका कुछ अंश गाँव के कारीगरों को दे दिया जाता था, जो किसानों को घरेलू उपयोग के लिए साधारण उत्पाद उपलब्ध कराते थे।

संचार के साधन पिछड़े हुए थे इसलिए कृषि उपज में व्यापार कुछ हद तक सीमित था। सामान्यतः किसान अपने और समाज के अन्य वर्गों के पोषण के लिए पर्याप्त अनाज पैदा कर लेता था। यदि अनुकूल जलवायु के फलस्वरूप उसकी फसल उपभोग से अधिक होती थी, तो वे उस अतिरिक्त फसल को जरूरत के वक्त के लिए संचित कर लेते थे। अनाज संचय पूर्व-औपनिवेशिक कृषकों की एक सामान्य प्रथा थी और इन परिस्थितियों में अकाल के विरुद्ध यही एक उपाय था।

कृषि की यह प्रणाली पूरे मध्य काल तक चलती रही। किन्तु 18वीं शताब्दी के अन्त में नई शक्तियों के दबाव से ग्रामीण समुदाय टूट गये। इस प्रक्रिया ने भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को गतिशील बनाया। इसके मुख्यतः दो कारण थे। (1) जमीन संबंधी पट्टे के नये रूपों के आ जाने से सम्पत्ति-संबंधों में परिवर्तन। (इस इकाई में आगे चलकर आप इसका अध्ययन करेंगे)। (2) भारत के कृषि उत्पादन में सक्रिय निर्यात व्यापार का विकास। ब्रिटिश शासन की स्थापना द्वारा पश्चिम के साथ संपर्क इन दोनों विकास के लिए उत्तरदायी था।

10.2.2 व्यापार

इस तथ्य के बावजूद कि भारतीय गाँव बड़े पैमाने पर स्वनिर्भर इकाई थे और संचार के साधन पिछड़े हुए थे, भारत ने अपने देश में एवं एशिया और योरोप के अन्य देशों के साथ बड़े पैमाने पर व्यापार किया। निर्यात और आयात में बराबर संतुलन बना हुआ था। भारत में फारस की खाड़ी से मोती, कच्चा रेशम, ऊन, खजूर, मेवा और गुलाब जल; अरब से कॉफी, सोना, दवाई और शहद; चीन से चाय, चीनी और सिल्क तथा योरोप से सोना, कस्तूरी और ऊनी कपड़े, तांबा, लोहा, सीसा जैसी धातुओं और कागज का आयात होता था। भारत से निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तु सूती कपड़ा था जो विश्व भर में प्रसिद्ध था। सूती कपड़े के अतिरिक्त भारत कच्चे सिल्क, नील, अफीम, चावल गेहूँ, चीनी, काली मिर्च और अन्य मसालों, बहुमूल्य पत्थरों और दवाओं का निर्यात करता था।

पूर्व-उपनिवेशकाल में भारतीय व्यापार के निम्नलिखित प्रमुख रूप थे। (1) व्यापार का अनुकूल संतुलन और (2) भारत में उत्पादन स्तर के अनुरूप विदेशी व्यापार। व्यापार के अनुकूल संतुलन का तात्पर्य है — आयात की तुलना में निर्यात की अधिकता। जैसे भारत को जितने आयात की आवश्यकता थी उससे अधिक निर्यात किया क्योंकि हस्तशिल्प और कृषि-उत्पादनों में पूरी तरह स्वनिर्भर अर्थ-व्यवस्था थी। अतः भारत को विदेशी आयात की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए भारत लाभप्रद व्यापार का उपभोग करता रहा। दूसरे, भारत का विदेशी व्यापार पूरी तरह इसकी मांगों के उपयुक्त था। दूसरे शब्दों में वस्तुओं का प्रकार, जो किसी भी देश के विदेशी व्यापार के लिए अति आवश्यक है, भारत के अनुकूल था। भारत ने उन वस्तुओं का निर्यात किया, जिसमें उसकी विशेषज्ञता और विशिष्टता थी और उन्हें आयात किया, जिसकी उसे आवश्यकता थी।

भारत के विदेशी व्यापार में पूर्व-उपनिवेशिकाल से उपनिवेशकाल में वस्तुओं के प्रकार में प्रमुख परिवर्तन हुआ, यद्यपि भारत से निर्यात जारी रहा, विदेशी व्यापार का ढाँचा पूरी तरह बदल गया। उदाहरण के लिये भारत सूती कपड़ों के निर्यातकर्ता से सूती कपड़ों का आयातकर्ता हो गया। इससे भारत का परम्परागत समृद्ध हस्तशिल्प नष्ट हो गया।

10.2.3 हस्तकला उद्योग

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि भारत विस्तृत उत्पादनों का देश था। भारतीय शिल्पी अपनी दक्षता के लिये विश्वभर में विख्यात थे। वास्तव में भारत के विदेशी व्यापार की अनुकूलता का कारण — इसके स्वदेशीय उत्पादन की श्रेष्ठता था। भारत बड़े पैमाने पर सूती और रेशमी कपड़ों, चीनी, जूट रँगने का मसाला, खनिज और धातु संबंधी उत्पादन जैसे हथियार, धातु की वस्तुएँ और तेल का विनिर्माता था। बंगाल में ढाका और मुर्शिदाबाद; बिहार में पटना, गुजरात में अहमदाबाद और

सूरत; मध्य प्रदेश में चन्देरी; महाराष्ट्र में बुरहानपुर; उत्तर प्रदेश में जौनपुर, वाराणसी, लखनऊ और आगरा; पजाब म मुल्तान और लाहौर; आंध्र में मसूलीपट्नम, औरंगाबाद और विशाखापट्नम; मैसूर में बंगलौर; मद्रास में कोयम्बत्तूर और मदुरई जैसे शहर कपड़ा उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। कश्मीर ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। महाराष्ट्र, आंध्र और बंगाल जहाज निर्माण उद्योग के प्रसिद्ध केंद्र थे। भारत के जहाजों को अनेक यूरोपीय कम्पनियाँ अपने इस्तेमाल के लिए खरीदती थीं।

18वीं शताब्दी के अंत तक भारत निःसंदेह व्यापार और उद्योग में विश्व का प्रमुख केन्द्र था। उपनिवेशकाल में भारत की यह प्रतिष्ठा पूरी तरह नष्ट हो गयी। इसका आरम्भ इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के बाद हुए परिणामों में देखा जा सकता है। मशीन से बने इंग्लैंड के वस्त्र स्वदेशी कपड़ों का स्थान लेने लगे। भारत के शिल्पियों को विवश होकर उत्पादन बंद करना पड़ा। इसके मुख्य कारण ब्रिटिश वस्तुओं का भारत में आयात तथा उनका सस्ता होना था। इससे भारत के परंपरागत उपरोक्त औद्योगिक केन्द्रों का विनाश हुआ। बुनकरों की संख्या कम हो गयी।

10.3 औपनिवेशिक शासन के विविध पक्ष

भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के क्रमिक विस्तार के दो पहलू विशेष ध्यान देने योग्य है। अंग्रेजों ने भारत के एक भाग में प्राप्त अनुभव को कुछ परिवर्तनों के साथ दूसरे प्रदेशों में आजमाया, इस प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान ने ब्रिटेन की भारत जैसे विशाल उपनिवेश की समस्याओं से निपटने योग्य बनाया। बदलते हुए ब्रिटिश समाज में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी जो इसमें उभर रहे सामाजिक समूहों के हितों के अनुरूप हो। भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के मुख्य पहलुओं को ब्रिटिश समाज की गतिशीलता ने निर्धारित किया। आधुनिक ब्रिटिश समाज व्यवसायिक पूँजीवाद से औद्योगिक पूँजीवाद और प्रतियोगात्मक औद्योगिक पूँजीवाद से एकाधिकार औद्योगिक पूँजीवाद जैसे चरणों से गुजरा। व्यावसायिक ब्रिटिश पूँजीवाद के लिए भारत के साथ व्यापार करना लाभप्रद था, दूसरी और औद्योगिक पूँजीवाद बाजार से जुड़ा हुआ था। इसके अन्तर्गत भारतीय उपनिवेश कच्चा माल उपलब्ध कराता था और ब्रिटेन में निर्मित वस्तुओं को खरीदता था। इस प्रकार ब्रिटेन के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों ने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

10.4 औपनिवेशिक शासन का विकास

1600 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मुगल शासन से व्यापार के लिये कानूनी चार्टर प्राप्त किया। लगभग डेढ़ सौ वर्ष व्यापारिक विस्तार करने के बाद कंपनी ने राजनैतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप शुरु कर दिया। राबर्ट क्लाइव ने 1757 में बंगाल के नवाब को पराजित करके भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना की प्रक्रिया शुरु कर दी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1757 की प्लासी की निर्णयात्मक लड़ाई से लेकर भारतीयों द्वारा स्वतंत्रता के लिये छेड़ी गई 1857 की लड़ाई तक लगभग 100 साल तक शासन किया। 1857 के संघर्ष में अंग्रेजों ने भारतीयों को हरा दिया और 1858 में रानी विक्टोरिया ने भारत पर प्रत्यक्ष शासन करने का उत्तरदायित्व ले लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया और ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत की सरकार के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो गयी। यह सिलसिला 1947 तक चला।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित कथनों को पढ़िये और सही पर (√) या गलत पर (×) का चिन्ह् लगाइये।
   क) ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति ने भारतीय समाज के प्रत्येक पहलू पर प्रभाव डाला।
   ख) भारत में ब्रिटिश नीतियाँ ब्रिटेन के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित हुई।
   ग) औपनिवेशिक राज्य की स्थापना के बाद स्वदेशी उद्योगों का विकास हुआ।

2 पूर्व औपनिवेशिक काल की कृषि, व्यापार तथा उद्योगों की स्थिति क्या थी? प्रत्येक पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए:

कृषि

.....

.....

.....

.....

.....

व्यापार

.....

.....

.....

.....

.....

उद्योग

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 औपनिवेशिक शासन का प्रभाव: पाश्चात्य दृष्टिकोण

भारत पर अंग्रेजी शासन का क्या प्रभाव रहा है? यहाँ यह स्पष्ट रूप से बतलाना आवश्यक है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था, समाज और राज्य शासन विधि पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का प्रभाव दर्शाने के लिये भारतीय राष्ट्रवादियों और पाश्चात्य विद्वानों में सदैव स्पष्ट अन्तर रहे हैं और अब भी विद्यमान हैं।

बहुत से पाश्चात्य लेखकों के अनुसार ब्रिटिश राज्य ने भारत को राजनैतिक एकता और प्रशासकीय स्थिरता प्रदान की। इन विद्वानों का यह भी विचार है कि अंग्रेजों ने भारत को उपद्रवों से बचाया और राजनैतिक स्थिरता प्रदान की। जैसा कि अमेरिकी विद्वान मौरिस डी. मौरिस का मत है — "साम्राज्य के विस्तार की हिन्दू परम्परा के बावजूद, भारतीय इतिहास में ऐसा कोई समय नहीं था जबकि किसी बड़े क्षेत्र पर किसी राजनैतिक इकाई का एक या डेढ़ शताब्दी से ज्यादा अवधि तक अस्तित्व कायम रह सका हो। भारत में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसकी तुलना रोम, मिश्र और चीन के साम्राज्यवादी कालक्रम से की जा सकती हो। एक निर्णायक परिणाम यह है कि शासन संस्थाओं की कोई परंपरा विकसित नहीं हो पायी तथा कोई स्थिर अधिकारी-तंत्र भी नहीं उभर सका।"

भारतीय राजनैतिक एकता एक कल्पना और एक अव्यवहारिक सिद्धांत था, जो ब्रिटिश शासकों ने यथार्थरूप में साकार किया। राजनैतिक एकता के अभाव में 18वीं शताब्दी में भारत में "वाणिज्य और पूँजी संचय" का स्तर बहुत नीचा था। इसके फलस्वरूप भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान अर्थ-व्यवस्था का स्तर भी बहुत नीचा था। राष्ट्रवादियों के इस तर्क को,. कि भारत अंग्रेजों के लिए आर्थिक रूप से बहुत आकर्षक और लाभप्रद था, पाश्चात्य लेखकों ने चुनौती दी।

दूसरे, पाश्चात्य लेखकों का मत था कि भारतीय इतिहास में कृषि उत्पादकता का स्तर बहुत निम्न था क्योंकि यहाँ कृषि कार्यों में पशुशक्ति का प्रयोग उस अनुपात में नहीं हो रहा था जैसा कि यूरोप में किया जाता था। बहुत से पाश्चात्य इतिहासकारों के अनुसार उचित प्रौद्योगिकी के अभाव ने भारत के एक बड़े भूभाग को "1800 तक बंजर रखा"। इसके साथ-साथ भारत को यूरोपियों ने आलू, मूँगफली जैसी फसलों की खेती से भी अवगत कराया।

तीसरे, उनके अनुसार तकनीकी पिछड़ेपन के कारण भारत उत्पादन में महत्वपूर्ण उपलब्धियों का दावा नहीं कर सकता। यद्यपि भारत में कुछ बहुत अच्छे कारीगर थे और कपड़े और कुछ अन्य वस्तुओं का उत्पादन होता था परन्तु यह विकसित तकनीकों का नहीं बल्कि कठिन परिश्रम का परिणाम था। इस विचारधारा के लिये अंग्रेजों के 17वीं शताब्दी के रिकार्ड से प्रमाण एकत्र किये गये, जो भारत में कपड़ों के उत्पादन में ठहराव की ओर संकेत करते हैं। डब्लू.एच. मोरलैंड तथा कई अन्य विद्वानों ने भारतीय प्रौद्योगिकी को पिछड़ा सिद्ध करने के लिये प्रारंभिक योरोपीय यात्रियों के प्रमाणों को प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर मोरिस डी. मोरिस का मत है कि —

".....भारतीय उपमहाद्वीप एक ऐसा स्थान था, जहाँ पर 1800 से पहले की शताब्दियों में प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम थी। राजनैतिक स्थिरता का अभाव, कृषि और गैर कृषि उत्पादकता का निम्न स्तर और नगण्य वाणिज्य को देखते हुए और कोई निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है।"

यदि मोरिस डी. मोरिस, डब्लू.एच. मोरलैंड, योरोपीय यात्रियों या ब्रिटिश फैक्टरी रिकार्डों के इस मत को स्वीकार किया जाता है कि जब ब्रिटिश धीरे-धीरे भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रहे थे उस समय भारत अविकसित था तो इसका अर्थ यह है कि ब्रिटिशों द्वारा भारत पर विजय देश की अर्थ-व्यवस्था, समाज, राज्य शासन-विधि के लिए लाभप्रद थी। इतिहास यह बताता है कि जब भी दो समाज एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तब विकसित व संगठित समाज कम विकसित समाज को अपने अधीन करने में सफल होता है और कम विकसित समाज विकसित समाज की प्रौद्योगिकी एवं व्यवस्था को ग्रहण करता है। यह उन पाश्चात्य लेखकों का मूल मत है, जो उपनिवेशिक शासन को विकसित समाज का अविकसित समाज पर शासन के रूप में देखते थे। इस प्रक्रिया में भारत जैसे अविकसित समाज को ब्रिटिश शासन से बहुत से लाभ हुए तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इनके निम्न लाभ गिनाए। अंग्रेजों ने भारत को राजनैतिक एकता व स्थिरता प्रदान की, सड़क व यातायात व रेल यातायात को विकसित किया। भारत के आर्थिक विकास में इससे सकारात्मक मदद मिली। अंग्रेजों ने सिंचाई व सार्वजनिक कार्यों को विकसित किया, जिससे भारत में कृषि, वाणिज्य व उत्पादन की गतिविधियों के विकास में सहायता मिली।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य लेखकों ने भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव के दो रूप बतलाए है। पहला, औपनिवेशिक विस्तार से पहले अंग्रेजों ने भारत को अत्याधिक अविकसित स्थिति में पाया जहाँ कृषि उत्पादन स्तर निम्न था, प्रति व्यक्ति आय कम थी तथा विकसित तकनीक और उत्पादन के औजारों का अभाव था। दूसरा, अंग्रेजों की उदार नीति ने राजनैतिक एकता और प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना करने में सहायता की और भारत में आर्थिक विकास की नींव डाली।

10.6 ब्रिटिश शासन का प्रभाव: भारतीय दृष्टिकोण

इसके विपरीत भारतीय राष्ट्रवादी विद्वानों का दृष्टिकोण भिन्न था। 19वीं शताब्दी में दादा भाई नौरोजी, आर.सी. दत्त और 20वीं शताब्दी में रजनी पामदत्त ने भारतीय राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी धीरे-धीरे स्थानीय लड़ाइयों में क्यों उलझ गयी? 1858 में ब्रिटिश रानी ने भारत पर शासन करने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व क्यों लिया? जो ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में 68,000 पौंड व्यापारिक पूँजी लेकर आई थी, उसने किस प्रकार इतनी सम्पत्ति एकत्र की? यदि भारत की आर्थिक दशा वास्तव में खराब थी तो उसने ईस्ट इंडिया कंपनी को कैसे कायम रखा और उसके खर्चों की पूर्ति कैसे की?

भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दो प्रमुख पहलुओं, धन की निकासी व अनुद्योगीकरण पर प्रकाश डाली।

10.6.1 निकासी सिद्धान्त

निकासी सिद्धान्त, जैसा कि राष्ट्रवादियों ने सूत्रबद्ध किया, उस प्रक्रिया से संबंधित है, जिसके द्वारा भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक बड़ा भाग इंग्लैंड को निर्यात किया, और इसके बदले में भारत को कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में भारत को इंग्लैंड को अप्रत्यक्ष शुल्क देना पड़ता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत के धन की निकासी भारत में नियुक्त ब्रिटिश अधिकारियों के वेतन, भारतीय प्रशासन पर होने वाले खर्च के रूप में होती और भारत में ब्रिटिश पूँजी निवेश से प्राप्त लाभ के रूप में इंग्लैंड पहुँच जाती थी। यह इंग्लैंड के लिए लाभप्रद थी परन्तु इसने भारत में निवेश के स्रोतों को कम कर दिया।

अमिय बागची का कथन है: "भारत पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी व अनधिकृत व्यापारी भारतीय माल-अथवा कर अथवा लाभ को वास्तव में बिना किसी भुगतान के ले सकते थे। इंग्लैंड को अब अपने खातों को संतुलित रखने के लिये भारत को सोना-चाँदी भेजने की जरूरत नहीं थी। इसके स्थान पर भारत से सोना चाँदी चीन या ब्रिटेन को भेजा जाने लगा था।"

बागची का अनुमान है कि बंगाल से बाह्य निकास कुल घरेलू उत्पादन पदार्थ का 3 से 4 प्रतिशत था। यदि ईस्ट इंडिया कंपनी की लड़ाइयों का खर्च इसमें जोड़ा जाए तो बागची का मत है कि शासित भूमि से 5 या 6 प्रतिशत संसाधनों को किसी निवेश की संभावना से दूर खींच कर अलग कर दिया गया था।

आर्थिक विकास का एक आधारभूत सिद्धांत है कि अतिरिक्त लाभ को निवेश के लिए उत्पन्न किया जाता है परन्तु यदि अतिरिक्त लाभ निवेशकों द्वारा उपनिवेश से बाहर खींच लिया जाए तो उपनिवेश पिछड़ जाता है। यही 1757 की प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल से आरम्भ हुये ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत की अर्थ-व्यवस्था पर बाह्य निकास का प्रभाव था। किन्तु भारत में ब्रिटिश शोषण का केवल एक तत्व था। इसके अतिरिक्त बाह्य निकासी, जो शोषण के अन्य स्रोतों, जैसे भारी टैक्स लगाने और अलाभकारी व्यापार से संबद्ध थी। भारत के शोषण और लूट से ब्रिटेन को बहुत अधिक लाभ हुआ। लार्ड कर्जन ने लिखा है कि—

"भारत हमारे साम्राज्य का केन्द्र बिन्दु है यदि साम्राज्य अपने औपनिवेशिक शासन के किसी और भाग को खो देता है तो भी यह साम्राज्य बना रहेगा, लेकिन यदि हमने भारत को खो दिया तो अवश्य ही हमारे साम्राज्य का सूरज अस्त हो जाएगा।"

1765 में कंपनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी (Dewani) या कर वसूली और नागरिक प्रशासन संबंधी-अधिकार प्राप्त किए। इससे कंपनी को लूट के नये अवसर मिल गये। कंपनी का लूट और शोषण में एकाधिकार 18वीं शताब्दी के अंत तक जारी रहा, जब इंग्लैंड व्यवसायिक पूँजीवाद से औद्योगिक क्रांति की ओर बढ़ा और ब्रिटेन में उभरते हुये औद्योगिक पूँजीपतियों ने भारत में कंपनी शासन समाप्त करने की माँग की।

10.6.2 अनुद्योगीकरण

बाह्य निकासी सिद्धांत के अतिरिक्त राष्ट्रवादियों ने तर्क दिया कि ब्रिटिश शासन भारत को अनुद्योगीकरण की ओर ले गया। भारत सूती कपड़ों का निर्यात करता था और कंपनी ने इस प्रकार अपना व्यापार आरंभ किया कि धीरे-धीरे भारत सूती कपड़ों का आयातकर्त्ता हो गया। इस प्रकार भारत के शिल्पी, कारीगर एवं प्रमुख व्यापारिक केन्द्र नष्ट हो गये और केवल ब्रिटेन से सूती कपड़ों के आयात का प्रभाव यह हुआ कि जो रहे-सहे उत्पादन संबंधी कार्यकलाप थे, वे भी नष्ट हो गये। अमिया बागची के

अनुसार — "लगभग 75 वर्षों यानि 1913 तक भारत ब्रिटेन के सूती कपड़े का सबसे बड़ा आयातकर्त्ता रहा, ब्रिटिश निर्यात

का 40 प्रतिशत से अधिक भारत को ही होता था।"

इस प्रकार इंग्लैंड के औद्योगीकरण से भारतीय सूती कपड़ों के कारीगरों का विनाश हो गया। इसके फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के आरंभ से भारत में देशी उद्योगों पर निर्भर लोगों की संख्या निरंतर कम होने लगी। जिसके परिणामस्वरूप कृषि पर दबाव पड़ा। यह दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इसके राजनैतिक प्रभावों के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए सुमित सरकार ने लिखा है कि — "उस समय के कई आंदोलनों को समझने के लिए शिल्पियों की व्यथा को ध्यान में रखना होगा, जो एक अहम् कारक था। इस प्रकार अनुद्योगीकरण ने बुद्धिजीवियों में चाहे वे नरमपंथी उग्रवादी हों या गांधीवादी देश प्रेम की भावना को प्रेरित किया तथा प्रत्यक्ष रूप से शहरी और ग्रामीण असंतोष को उत्तेजित करने में प्रमुख भूमिका निभाई।"

ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद तथा अन्य बहुत से महत्वपूर्ण शहरों का पतन भारत के अनुद्योगीकरण का प्रमाण है।

1840 में सर चार्ल्स ट्रेवेलयान ने लिखा था—
"मलेरिया के भीषण प्रकोप के कारण ढाका शहर वीरान होता जा रहा था। शहर की जनसंख्या 150,000 से घटकर 30,000 या 40,000 रह गयी थी..... ढाका जो भारत का मेनचेस्टर कहलाता था, एक अत्यन्त समृद्ध शहर से बहुत गरीब और छोटे शहर में बदल गया था। वास्तव में, यह बहुत बड़ी दुर्गति थी।"

10.7 औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरण

निकासी (drain) और अनुद्योगीकरण की दोहरी प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरणों में कार्यान्वित हुई। यह प्रक्रिया 1757 में प्लासी की लड़ाई से शुरु हुई, जब अंग्रेजी व्यापारिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इस काल में नये आविष्कारों के कारण इंग्लैंड में ऐसे मौलिक परिवर्तन हो रहे थे जिन्होंने औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया। उदाहरण के लिए 1764 में हारग्रीव्ज़ ने कताई की जेनी का आविष्कार किया, 1765 में जेम्स वाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया, 1769 में आर्कराइट ने वाटर फ्रेम तैयार किया, 1779 में क्रोम्पटन ने म्यूल नामक काटने की मशीन का आविष्कार किया, 1785 में कार्टराइट ने पावर लूम (मशीन का करघा) बनाया, और 1788 में लोहा गलाने की भट्ठियों में भाप का इंजन इस्तेमाल किया गया। इन आविष्कारों से पहले 1694 में बैंक आफ इंग्लैंड की स्थापना हुई। भारत में अंग्रेजों द्वारा किये गये पूँजी संचय में और आविष्कारों से औद्योगिक क्रांति लाने में सहायता मिली। इंग्लैंड में हो रहे परिवर्तनों ने नए हितों को जन्म दिया और ईस्ट इंडिया कंपनी पर प्रहार होने लगे (क्योंकि इसका भारत के व्यापार पर अधिकार था) अंत में 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने कंपनी के भाग्य का निर्धारण कर दिया।

आरम्भिक अवस्था में ब्रिटिश शासन के प्रभाव को आर.पी. दत्त ने इन शब्दों में व्यक्त किया है —
"मशीन से बने इंग्लैण्ड के सूती कपड़ों ने बुनकरों को बेकार कर दिया और मशीन से बने सूत ने चरखा कातने वालों को बरबाद कर दिया। 1818 से 1836 के बीच इंग्लैंड में बने सूत से भारत को निर्यात में 5,200 गुना वृद्धि हुई।

रेशमी, कपड़ों, ऊनी कपड़ों, लोहे तथा मिट्टी के बर्तनों, कांच और कागज जैसी वस्तुओं के व्यापार में भी वही प्रक्रिया सामने आई जो सूती कपड़ों के व्यापार के संबंध में देखी गई। भारत के उद्योग-धंधों के इस तरह बरबाद हो जाने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इंग्लैंड में हाथ के करघे से काम करने वाले पुराने बुनकर तबाह हुए थे, लेकिन वहाँ उनकी तबाही के साथ-साथ मशीन से चलने वाले उद्योग कायम हो गये। लेकिन भारत में हजारों शिल्पियों और कारीगरों के तबाह हो जाने पर किसी नये प्रकार के उद्योग का विकास नहीं हुआ ..... पुराने औद्योगिक नगर ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत आदि, जो पहले घने बसे हुये थे अंग्रेजी शासन के दौरान ही ऐसे उजाड़ हो गये कि भयानक से भयानक युद्ध होने पर या विदेशी विजेताओं का शिकार होने पर भी उन की वैसी दशा न होती।"

कम्पनी की विजय के साथ ही ब्रिटिश व्यावसायिक पूँजी के भारत में निवेश के नये अवसर प्राप्त हुए। भारत से प्राप्त भू-राजस्व से भारतीय वस्तुओं की एकाधिकार खरीदारी करके उन्हें अधिकतम लाभ पर विदेशी बाजारों को निर्यात कर दिया जाता था। पूर्व-औद्योगिक ब्रिटिश पूँजी तथाकथित निवेश के स्थान पर लाभकारी निर्यात हेतु लगाई गई। यह पूँजी भारत से भू-राजस्व के रूप में प्राप्त हुई तथा इसका प्रयोग भारतीय माल को खरीदने में हुआ जिसका विदेशों को निर्यात किया जाता था। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की भारत पर विजय से उन्हें भू-राजस्व तथा अन्य करों को वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ और अत्याधिक लाभ के आधार पर कंपनी ने भारतीय माल का पूरा फायदा उठाया। अर्ध-बंधुआ (semi-bondage) स्थिति ने ब्रिटिश के वाणिज्यिक पूँजीवाद को "विजय के उपहार" प्राप्त करने में सहायता दी। प्रोफेसर इरफान हबीब के अनुसार 18वीं शताब्दी के दूसरे चरण में भारत से ब्रिटेन को किया गया कुल निर्यात 12 प्रतिशत से 24 प्रतिशत हो गया और ब्रिटेन से भारत को किया गया कुल ब्रिटिश निर्यात 6.4 प्रतिशत से केवल 9 प्रतिशत बढ़ा।

19वीं शताब्दी के आरंभ में व्यावसायिक पूँजीवाद की जगह औद्योगिक पूँजीवाद ने ले ली। अब भू-राजस्व इकट्ठा करने और व्यापार की अपेक्षा धन प्राप्त करने के अन्य साधनों की ओर ध्यान दिया जाने लगा। भारतीय अर्थ-व्यवस्था अब औद्योगिक इंग्लैंड के हितों की पूर्ति करने लगी। भारत अब इंग्लैंड के उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराता था और ब्रिटेन में बनी औद्योगिक वस्तुओं के लिए एक बाजार के रूप में प्रयुक्त होता था। भारतीय संसाधनों की निकासी निरंतर इंग्लैंड की ओर हुई। यद्यपि इसके रूप अलग-अलग थे। इसके साथ ही अनुद्योगीकरण की प्रक्रिया में भी तेजी आई।

1857 के बाद जब ब्रिटिश सरकार का भारत पर प्रत्यक्ष अधिकार हो गया तब भारतीय बाजार में निर्मित वस्तुओं के साथ-साथ कुछ ब्रिटिश पूँजी भी आने लगी। यह प्रमुख औद्योगिक देशों में अभूतपूर्व स्तर पर पूँजी संचय का परिणाम था। अब इंग्लैंड के लिए न केवल भारत को अपने उत्पादनों के बाजार में परिवर्तित करना जरूरी था बल्कि वे भारत को पूँजी निवेश के लिए भी उपभोग में लाए। जिसके परिणामस्वरूप भारत का औद्योगीकरण केवल विदेशी पूँजी के आधार पर होने लगा। सभी प्रमुख उद्योग जैसे रेल, जूट, लोहा, स्टील (सूती कपड़े को छोड़कर) ब्रिटिश पूँजी द्वारा चलाये जा रहे थे। इसके परिणामस्वरूप और अधिक धन की निकासी हुई अर्थात् ब्रिटिश पूँजी निवेश से प्राप्त लाभ इंग्लैंड जाने लगा।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी के अंत तक उपनिवेशवाद के दोनों चरणों —व्यावसायिक पूँजीवाद और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के दौरान ब्रिटेन ने भारत का भरपूर शोषण किया।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित कथनों को पढ़िये और सही पर (√) या गलत पर (×) का चिन्ह लगाइये।

क) भारतीय अर्थ-व्यवस्था के प्रति ब्रिटिश नीतियों की भूमिका के विषय में भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों में बुनियादी सहमति थी।

ख) राष्ट्रवादी विद्वानों का मत था कि ब्रिटिश शासन भारत को एकता और स्थायित्व प्रदान करेगा।

ग) पाश्चात्य विद्वानों ने निकासी सिद्धांत को तर्क के रूप में प्रस्तुत किया।

घ) इंग्लैंड का औद्योगीकरण भारत के अनुद्योगीकरण के लिए उत्तरदायी था।

2 निम्नलिखित विषयों पर 50-50 शब्द लिखिये।

धन की निकासी

.....

.....

.....

अनुद्योगीकरण

.....

.....

.....

3 औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरणों पर 10 पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.8 औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत कृषि

किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलू परस्पर संबंधित होते हैं। कृषि उद्योग को सहारा देती है और उद्योग कृषि को विकसित करने में मदद करता है भारत में अंग्रेजों की कृषि नीतियों के कारण समृद्ध कृषि अर्थ-व्यवस्था नष्ट हो गयी और गांव के लोगों को अत्याधिक कष्टों का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि अंग्रेजों की चाय, तम्बाकू, कॉफी और नील की खेती के विकास की नीति भी भारतीयों के लिये लाभदायक नहीं थी।

आइये अब देखें अंग्रेजों की उस कृषि व राजस्व नीति को, जिसने भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था को विनाश की ओर अग्रसर किया।

10.8.1 नया भूमि बन्दोबस्त

मुगल साम्राज्य के विघटन और ईस्ट इंडिया कम्पनी की विजयों तथा अधिक से अधिक नगद भू-राजस्व पाने की इच्छा के कारण अंग्रेजों ने भारत में एक ऐसी भूमि-व्यवस्था का विकास किया, जिससे भू-राजस्व की वसूली होती रहे और ग्रामीण भारत में अंग्रेजों का सहयोगी-वर्ग भी प्राप्त किया जा सके।

1793 में कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा और बाद में मद्रास के उत्तरी भागों में, जो प्रसिद्ध स्थायी बन्दोबस्त किया, उससे एक ऐसे जमींदार वर्ग का जन्म हुआ जो 'स्थायी भूस्वामी' बन गए। भूराजस्व की रकम निश्चित कर दी गई, जमींदार शासक और किसानों के बीच मध्यस्थ बन गये। जो रकम निश्चित की गई थी, उसने किसानों की कमर तोड़ दी। यह व्यवस्था किसानों के लिए कष्टदायी थी लेकिन जमींदारों और ब्रिटिश शासकों के लिये लाभप्रद थी। लार्ड विलियम बेंटिक ने स्वयं कहा कि —

"यद्यपि जन उपद्रवों या क्रांति के विरुद्ध सुरक्षा नहीं थी, और स्थायी बन्दोबस्त अनेक तरह से असफल कहा जा सकता है, परन्तु इसकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने एक धनी भूस्वामियों के वर्ग को जन्म दिया, जो ब्रिटिश उपनिवेश को बनाये रखना चाहता था और जिसका जन-साधारण पर पूरा नियंत्रण था।"

स्थायी बन्दोबस्त के अतिरिक्त अंग्रेजों ने **रैयतवाड़ी बन्दोबस्त** का भी विकास किया। यह व्यवस्था 1820 में सर टॉमस मुनरो ने मद्रास में शुरु की थी। रैयतवाड़ी व्यवस्था के दो पहलू थे। पहला, सरकार और काश्तकारों के बीच सीधे संबंध होंगे और भू-राजस्व का निर्धारण बिना किसी मध्यस्थ के इन दोनों के बीच किया जाएगा। दूसरा लार्ड कार्नवालिस की व्यवस्था के विपरीत मुनरो की व्यवस्था समय-समय पर भू-राजस्व के पुनः निर्धारण (re-assessment) पर आधारित थी।

भारत के कुछ भागों में चाहे स्थायी जमींदारी बन्दोबस्त (Zamindari settlement) **हो या इससे थोड़ा भिन्न, अस्थायी जमींदारी बंदोबस्त या रैयतवाड़ी बंदोबस्त हो, भूस्वामित्व प्रथा अंग्रेजी शासन व्यवस्था का अनिवार्य अंग बन गई। इससे काश्तकारों के अधिकार छिन गये, ग्रामीण भारत में महाजनों का प्रवेश हो गया, आसामी कृषक** (tenants) **असुरक्षित अनुभव करने लगे और कृषक बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर हो गये। जब कृषक के अधिकार छीन लिए जाते हैं और मध्यस्थ तथा गैर-खेतिहर के हित अधिक शक्तिशाली होते हैं तब कृषि के विकास में बाधा उत्पन्न होती है और अधिकांश खेतिहर गरीब हो जाते हैं। भारत में ब्रिटिश नीतियों के कारण ऐसा हुआ। जमींदार और सरकार लाभान्वित हुए लेकिन किसानों को कष्ट उठाने पड़े। डेनियल थॉर्नर के शब्दों में —**

"भारतीय इतिहास के किसी और काल में हमें भूमिपतियों के इतने विशाल, सुदृढ़ और इतने सुरक्षित समूह नहीं मिल सकते, जितने 1790 और 1940 के बीच बढ़े और विकसित हुये।"

अंग्रेजों द्वारा विकसित कृषि-व्यवस्था कृषि के विनाश की व्यवस्था थी। 1870 और 1890 के अंत में पड़े अकाल, महामारी और जनसंख्या के बढ़ने की धीमी गति इसके प्रमाण हैं।

कृषि का विकास तभी हो सकता है जब सरकार या किसान सार्वजनिक कार्यों में पूँजी लगायें। स्वाभाविक है कि गरीब किसान यह नहीं कर सकते। अंग्रेजों ने इसे बहुत सीमित ढंग से किया। फिर भी जहाँ कहीं सरकार ने सार्वजनिक कार्यों में रुचि ली, उसके परिणाम कुछ अच्छे हुए। उदाहरण के तौर पर पंजाब की नहर व्यवस्था को लिया जा सकता है। जब सरकार और जमींदारों ने सार्वजनिक कार्यों में कम रुचि ली, कृषि पिछड़ गई। भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान किसानों की गरीबी एक प्रत्यक्ष सत्य है। अंग्रेजों की कृषि नीति के कारण भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ी और पिछड़ी हुई ग्रामीण व्यवस्था पर अधिक जनसंख्या के दबाव और बड़े भूभाग में लाभप्रद फसलों को उगाने की अंग्रेजी नीति ने अंग्रेजों की जेबें भरी। ग्रामीण दरिद्रता की भीषणता का वर्णन इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि भारतीय ऋण में जन्म लेता है, ऋण में रहता है और ऋण में मर जाता है। साइमन कमीशन ने कहा था कि — "भारी संख्या में किसान महाजन के ऋण से दबे रहते हैं।" यहाँ तक कि सरकार को भू-राजस्व चुकाने के लिए किसान उधार लेने के लिए विवश थे। ऋणी किसान किस प्रकार कृषि का विकास कर सकता था?

10.8.2 कृषि का व्यवसायीकरण

नये भूमि बंदोबस्त, जिसके विषय में ऊपर चर्चा की गई है, से संपत्ति संबंधों में परिवर्तन आया और इसके साथ ही एक व्यापारिक क्रांति भी आयी, जिसे कृषि का व्यवसायीकरण कहते हैं। 1860 के लगभग इसने भारतीय कृषि में स्थान बनाना शुरू किया। साधारणतः कृषि के व्यवसायीकरण का अर्थ है बाजार को मद्दे नज़र रखते हुए कृषि उत्पादन करना। दूसरे शब्दों में बाजार की माँग के मुताबिक कृषि उत्पादन पर ज़ोर दिया जाने लगा। इसके अनेक कारण थे।

इस काल में रेलवे का तेजी से विकास हुआ। रेल पटरियों की लम्बाई 1857 में 288 मील से 1908 में 30576 मील हो गयी। रेलवे के विस्तार से कृषि के व्यवसायीकरण में सुविधा हो गयी।

1869 में स्वेज नहर के खुलने से इंग्लैंड और भारत के बीच की दूरी समुद्री मार्ग से 3000 मील रह गई, जिससे व्यापारिक उद्देश्य से दोनों देश एक दूसरे के निकट आ गये।

1873 और 1886 के बीच इंग्लैंड में कुछ औद्योगिक परिवर्तन हुये। पाल से चलने वाले जहाजों का स्थान भाप से चलने वाले आधुनिक जहाजों ने ले लिया। इससे माल ढोने की लागत लगभग आधी हो गयी और भारत से कृषि उत्पादनों के निर्यात को प्रोत्साहन मिला और माल की मात्रा और मूल्यों में अत्याधिक वृद्धि हुई।

उत्तरी अमरीका को गृह युद्ध के कारण इंग्लैंड को कुछ समय तक कच्चा सूत अमेरिका की जगह भारत से खरीदना पड़ा। अतः 1862 के बाद भारत से कच्चे सूत के निर्यात में अचानक वृद्धि हो गयी। 1859-60 में 5.6 करोड़ से यह 1864-65 में 37.5 तक बढ़ गया।

इसके परिणामस्वरूप भारत में कृषि संबंधी वस्तुओं के निर्यात में अद्भुत वृद्धि हुई। 1859-60 से 1906-07 तक निर्यात का कुल मूल्य 500 प्रतिशत से अधिक हो गया।

भारतीय कृषि उत्पादन की इस बढ़ी हुई विदेशी माँग के बावजूद भी भारतीय कृषि का विकास नहीं हुआ। इसके बहुत से कारण थे।

- देश की पिछड़ी हुई कृषि-व्यवस्था।
- तकनीकी सुधार के लिए किसानों के पास साधनों का अभाव।
- व्यवसायीकरण के लिए किसान पूरी तरह तैयार नहीं हो पाये थे इसी कारण दिये गये अवसर का पूर्ण लाभ न उठा पाये।
- भूमि की उपजाऊ शक्ति में वृद्धि नहीं हो पाई।
- उपनिवेशवाद की भूमिका के द्वारा व्यवसायीकरण की प्रक्रिया में "चीनी आयात" प्रमुख थी। यह मुख्यतः उपनिवेशवाद के कारण ही हुआ। कृषि का व्यवसायीकरण एक क्रमिक थोपी हुई प्रक्रिया बन गई, जो सच्चे अर्थों में कृषि की वृद्धि न कर सकी। उपनिवेशवाद ने इस वृद्धि के लिये अनुकूल वातावरण पहले ही नष्ट कर दिया था. व्यवसायीकरण का प्रभाव बहुत व्यापक था। पहला, इससे खाद्य पदार्थों की कमी हुई। इसका प्रमुख कारण था कि नकदी फसलें जैसे कच्ची कपास, जूट, नील व अफीम आदि की बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिए परम्परागत खाद्य फसलों के स्थान पर नकदी फसलें बोई जाने लगी। कृषकों ने अधिक लाभ कमाने के लिये ऐसा किया क्योंकि नकदी फसलें अधिक लाभ देती थी। परन्तु देश के खाद्यान्न आपूर्ति पर इसका अत्याधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1866 में बंगाल व उड़ीसा में पड़े अकालों का एक मुख्य कारण यह बतलाया जाता है कि वहाँ की उपजाऊ भूमि पर चावल के स्थान पर नील की खेती हो रही थी।

इसके अतिरिक्त किसानों पर इसका प्रभाव विविध रूपों में पड़ा। जहाँ एक ओर वे किसान, जिन के पास साधन थे, नकदी फसलों की खेती करके अधिक लाभ कमा रहे थे, वहीं गरीब किसान बहुत नुकसान उठा रहे थे और उन्हें अपनी खाद्य संबंधी आवश्यकताओं के लिए भी बाजार पर निर्भर रहना पड़ रहा था।

परन्तु इसके कुछ सकारात्मक पहलू भी थे। क्षेत्रीय विशेषताओं में वृद्धि के कारण गांवों का अलगाव समाप्त हुआ और वे विश्व बाजार से जुड़ गये। अब कृषक फसल का चयन बाजार की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताओं से अधिक ध्यान में रखकर करते थे।

परन्तु कुल मिलाकर भारतीय कृषि इस कृषि के व्यवसायीकरण का लाभ नहीं उठा सकती। इसका प्रमुख कारण उपनिवेशवाद द्वारा लगाये गये अंकुश थे। जब कि अन्य देशों में व्यवसायीकरण के द्वारा जमीन की उपज एवं उत्पादन में वृद्धि हुई थी वहाँ नकदी फसलों ने खाद्य फसलों का स्थान नहीं लिया बल्कि उनमें जुड़ गयी थीं। परन्तु भारत में ऐसा नहीं हुआ।

10.8.3 कृषि पर प्रभाव

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश नीति ने कृषि के विकास में अवरोध, ऋणी कृषक, बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर वर्ग, कुपोषण, अकाल व भुखमरी के कारण मृत्यु को बढ़ावा दिया। अंग्रेजों की मुख्य नीति कृषकों से भू-राजस्व वसूल करना था, चाहे वे दे सकें अथवा नहीं। भू-राजस्व के भुगतान के दबाव में आकर भूमि बेचने को रोका नहीं गया बल्कि यह ब्रिटिश भू-राजस्व नीति का सीधा परिणाम था। प्रोफेसर इरफान हबीब स्थिति का विवरण देते हुए लिखते हैं —
"पहले भारतीय राज्यकालों में भू-राजस्व फसल में एक नियत भाग होता था और फसल की उपज के अनुरूप बदलता था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत राजस्व चाहे किसान पर सीधा लगा हो अथवा जमींदारों से लिया हो, भूमि पर सीधा कर था।"

अतः राजस्व की वसूली की मात्रा बढ़ी, अनाज के मूल्य घटे, ग्रामीण अधिक ऋण-ग्रस्त होने लगे व ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पतन हुआ। अंग्रेजी राज्य का एक मात्र उद्देश्य अतिरिक्त कृषि उपज पर अधिकार करना था और उसका प्रत्यक्ष परिणाम हुआ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का अवरोध एवं कृषकों की दरिद्रता।

10.9 औपनिवेशिक शासन की भूमिका

1857 के पश्चात भारत पर राज्य करने का उत्तरदायित्व सीधे अंग्रेजी सरकार पर आ गया। इसके साथ ही औपनिवेशिक राज्य की नींव मजबूत हो गयी। अंग्रेजी औपनिवेशिक राज्य की विशेषता 'उदार निरंकुशता' या उदार अहस्तक्षेप की अवस्था कही गयी, जिसने भारत के मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप किया और एक पहरेदार की भूमिका निभाई। यह पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा फैलाया ऐतिहासिक झूठ था। शक्तिशाली औपनिवेशिक राज्य जमींदार, साहूकार, राजघरानों और भारत में ब्रिटिश आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए था।

1858 में महारानी विक्टोरिया ने उद्घोषणा की कि —
"हम भारतीय रजवाड़ों के अधिकार, सम्मान और प्रतिष्ठा का आदर करेंगे।"

इसके अतिरिक्त महारानी ने आश्वासन दिया कि —
"हम भारतीयों की पैतृक भूमि के प्रति उनके प्रेम को जानते हैं व उसका आदर करते हैं। हम इससे संबंधित उनके सभी अधिकारों की सुरक्षा राज्य की न्यायपूर्ण मांगों के अधीन करना चाहते हैं।"

उपरोक्त आश्वासनों द्वारा महारानी केवल भारतीय राजाओं व जमींदारों से सामाजिक सहायता व सहयोग चाहती थी। फिर भी,1858 में कंपनी राज्य को समाप्त करने का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश औद्योगिक वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए भारतीय बाजारों का शोषण करना था। 1858 में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना का मुख्य लक्ष्य ब्रिटिश औद्योगिक पूँजीपतियों के हितों की सुरक्षा व वृद्धि था। इन पूँजीपतियों को ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रमुख स्थान प्राप्त थे।

ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य ने भारत को विश्व पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से पूर्णतः एकीकृत कर दिया तथा एक औपनिवेशिक बस्ती के रूप में भारत का शोषण किया।

भारत के आर्थिक विकास में औपनिवेशिक राज्य की भूमिका को रेल की स्थापना या अन्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जैसे अंग्रेजी भाषा व शिक्षा के प्रसार से नहीं समझा जा सकता। ये भारत में औपनिवेशिक राज्य की भूमिका के मूल्यांकन में नगण्य सत्य है। औपनिवेशिक राज्य का मुख्य लक्ष्य भारत में मुनाफे के लिए ब्रिटिश पूँजी व इसके निवेश में वृद्धि करना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत को ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का बाजार बना दिया गया। ब्रिटिश पूँजी को भारतीय अर्थ-व्यवस्था के उन क्षेत्रों में लगाया गया, जहाँ से ब्रिटिश निवेशक लाभ कमा सके।

बागानों, खानों, जूट मिलों, बैंकों, बीमा कंपनियों, जहाजरानी, आयात-निर्यात कंपनियों तथा रेलवे में वृद्धि उन अंग्रेजों द्वारा की गई, जिन्हें औपनिवेशिक राज्य का आश्रय और कृपा प्राप्त थी। एक ओर जहाँ ब्रिटिश नौकरशाही भारत में अंग्रेजों को रियायतें व सुविधायें उपलब्ध करा रही थी, वहीं दूसरी ओर अत्याधिक पक्षपात व भेदभावपूर्ण टैरिफ (विभिन्न प्रकार के कर) व आबकारी नीति द्वारा भारतीयों के साथ भेदभाव कर रही थी।

प्रो॰ सुमित सरकार कहते हैं — "अहस्तक्षेप की नीति की आड़ में सरकारी नीति यूरोपीय उद्योगों (इसके प्रमुख उदाहरण हैं गारंटी व्यवस्था के अंतर्गत रेलवे और रियायती दर पर आसाम के चाय बागानों को बड़ी मात्रा में भूमि उपलब्ध कराना) को प्रोत्साहन देकर भारतीयों के साथ भेदभाव किया। रेल के जाल और जहाज के भाड़े ने बंदरगाह से यातायात को आंतरिक केंद्रों की अपेक्षा अधिक बढ़ावा दिया। संगठित मुद्रा बाजार मुख्यतः गोरों के नियंत्रण में था..... 19वीं शताब्दी की भारतीय अर्थ-व्यवस्था में वृद्धि की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसे निर्यात की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया गया और अंग्रेजों ने विनिमय बैंक, आयात-निर्यात फर्म और जहाजरानी उद्यम से भारत के बाह्य व्यापार के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमा लिया।

औपनिवेशिक राज्य व उसकी आर्थिक नीतियों की मुख्य विशेषता यह थी कि उसे भारत का निर्दयतापूर्वक शोषण करने के लिये बनाया गया था। भारत को विश्व पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जानबूझकर सम्मिलित किया गया था। भारत की अर्थ-व्यवस्था को निर्यातक बनाया गया। भारत को ब्रिटिश उद्योग के लिए कच्चा माल देना था। भारत में अंग्रेज औपनिवेशिक राज्य की छत्रछाया में सुरक्षित रहकर कार्य करते थे, जो ब्रिटिश निवेशकों के हितों की सुरक्षा करता था। ब्रिटिश औपनिवेशिक नौकरशाही द्वारा भेदभावपूर्ण नीति से भारतीय पूँजीपतियों के मार्ग में बाधा पड़ी। यह औपनिवेशिक राज्य रंगभेद व शोषण करने वाला था। इसने भारत का एक औपनिवेशिक बस्ती के रूप में ब्रिटिश हितों के लिए शोषण किया।

20वीं शताब्दी के आरंभ और विशेषकर दो विश्व युद्धों के बाद इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन आये, जिसके फलस्वरूप भारतीय पूँजीपतियों को कपड़ा, चीनी, जूट और कुछ रासायनिक उद्योग व स्टील मिलों के क्षेत्र में बढ़ने का अवसर मिला। विश्व युद्धों का प्रभाव ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था और युद्ध से पूर्व की भारत की उस स्थिति पर भी पड़ा जिसके अंतर्गत भारत ब्रिटिश निर्माताओं के लिए लाभकारी निर्यात व निवेश स्थल था, परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध की अर्थ-व्यवस्था व आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजों को भारत में देशी उद्योग व भारतीय पूँजीपतियों को प्रोत्साहित करने के लिए विवश होना पड़ा।

बोध प्रश्न 3

1 ब्रिटिश शासन द्वारा आरंभ किये गये विभिन्न भूमि बंदोबस्त और उनकी विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित कथनों को पढ़िए और सही पर (✓) या गलत पर (×) का चिन्ह लगाइए।

क) ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को अहस्तक्षेप नीति का शासन कहना उचित ही है।

ख) ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत की अर्थ व्यवस्था को विश्व पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अंग बना दिया।

ग) औपनिवेशिक नीति के द्वारा भारतीय पूँजीपतियों को सुरक्षा प्रदान की गई।

घ) दो विश्व युद्धों ने उपनिवेशवाद पर दबाव डाला।

10.10 सारांश

उपसंहार में दो मुख्य बातों पर बल देने की विशेष आवश्यकता है। पहली, औपनिवेशिक **शासन** ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के लिए भारत के शोषण हेतु एक शक्तिशाली व्यवस्था थी। दूसरे, दो विश्व युद्धों के **दबाव ने** ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी, कि भारतीय पूँजीपति वर्ग एवं चीनी, जूट, कपड़ा, लोहा व स्टील और रसायन के क्षेत्रों में **उद्योगों** को विकसित होने में सहायता मिली।

जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ा तब वे एक स्थिर अर्थ-व्यवस्था छोड़ गये थे। उद्योगों के विकास से, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यह अभिप्राय नहीं था कि 1947 में आजादी के दिन भारत एक औद्योगिक देश था। औद्योगिक राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है कि एक बुनियादी ढाँचा स्थापित किया जाए। साथ ही औद्योगीकरण में सहायक प्राथमिक उद्योग जैसे भारी मशीनी औजार, इस्पात और पूँजीगत माल के उद्योग भी स्थापित किए जाएँ। जो औद्योगीकरण में सहायता करें। ब्रिटिश आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत में औद्योगीकरण के बिना उद्योग स्थापित किए गए थे क्योंकि औपनिवेशिक राज्य ने अर्थ-व्यवस्था के इस पहलू पर ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषि के विकास में भी अवरोध थे। उद्योगों के लिए कच्चे माल की स्थिति बहुत खराब थी। भारत पर अंग्रेजी शासन के स्पष्ट परिणाम थे — प्रति व्यक्ति औसत आय की निम्न दशा, कृषि उत्पादन में कमी, बचत का निम्न स्तर, अविकसित आधारिक ढाँचा और निम्न स्तरीय मानवीय कौशल। अतः उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों का यह दावा कि उन्होंने भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया, अर्थहीन है।

10.11 शब्दावली

अविकसित समाज: ऐसा समाज, जिसका विकास कुछ कारणों जैसे औपनिवेशिक राज्य या औपनिवेशिक दबाव के कारण कम हो गया हो। यह पिछड़े व विकासशील समाज, जहाँ औपनिवेशिक कारण कोई भूमिका नहीं निभाता है, से भिन्न है। क्योंकि वहाँ औपनिवेशिक राज्य नहीं है।

पूँजी संचयन: वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा भूमि, मंजदूरी व ठेकेदारी आदि संसाधनों को औद्योगिक विकास के लिए एकत्र किया जाता है।

एकाधिकारिता: पूँजी, संसाधन या उद्योगों को व्यक्तिगत नियंत्रण में लाने की प्रकृति।

विदेशी-पूँजी: देश के बाहर से प्राप्त मुद्रा या संसाधन। चाहे वह दूसरे देश से हो या देश भर की फर्म से।

भूमि की उत्पादकता: प्रति एकड़ के हिसाब से भूमि से प्राप्त उत्पादन की मात्रा।

अहस्तक्षेपवाद: 19वीं शताब्दी का ब्रिटिश दर्शन, जिसका कथन था कि मुक्त व्यापार या बिना प्रतिबंध के व्यापार ही सभी आर्थिक समस्याओं का हल है।

प्रति व्यक्ति आय: प्रति व्यक्ति द्वारा अर्जित धन।

सकल आय: टैक्स, अवमूल्यन आदि को घटाने से पहले का कुल लाभ।

अनुद्योगीकरण: औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत वह प्रक्रिया, जिसके प्रभाव से बहुत से परम्परागत उद्योगों का पतन हुआ।

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 क) (√) ख) (√) ग) (×)

2 देखें भाग 10.2 और अपने उत्तर लिखें।

बोध प्रश्न 2

1 क)(×) ख)(√) ग)(×) घ)(√)

2 देखें भाग 10.6

3 देखें भाग 10.7

बोध प्रश्न 3

1 देखें भाग 10.8

2 क) (×) ख)(√) ग)(×) घ)(√)

इकाई 11 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन-I

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857)
  11.2.1 कारण
  11.2.2 विस्तार एवं गहनता
  11.2.3 पराजय
11.3 राष्ट्रीय आंदोलनों की प्रारम्भिक अवस्था
  11.3.1 बुद्धिजीवियों की भूमिका
  11.3.2 औपनिवेशिक शासन की भूमिका
  11.3.3 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
11.4 नरमपंथी और उग्रपंथी राष्ट्रवादी
  11.4.1 नरमपंथी : उद्देश्य एवं पद्धतियाँ
  11.4.2 राष्ट्रवादी: उद्देश्य और विधियाँ
11.5 स्वदेशी आंदोलन
11.6 सामाजिक-धार्मिक सुधार और सांस्कृतिक नवजागरण
  11.6.1 प्रमुख समाजसुधारक : विषय एवं विचार
  11.6.2 सामाजिक सुधार के प्रति उनका दृष्टिकोण
  11.6.3 कार्य-पद्धतियाँ
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

आधुनिक भारत के विकास की व्याख्या भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ के बिना नहीं की जा सकती है और न ही उसे राष्ट्रीय आंदोलन से पृथक रखकर समझा ही जा सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीयों की विदेशी गुलामी से स्वतंत्र होने की इच्छा का प्रतिनिधित्व किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 1857 के विद्रोह के सभी पहलुओं को समझ सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में योगदान देने वाले कारणों से अवगत हो सकेंगे।
- प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रीय नेतृत्व के उद्देश्यों और नीति की व्याख्या कर सकेंगे।
- नरमपंथी और उग्रपंथी राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोण में अंतर और इसके पश्चात् महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक मंच पर उद्भव से पहले की स्थिति को समझ सकेंगे।
- स्वदेशी आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर इसके प्रभाव को समझ सकेंगे।
- सांस्कृतिक जागृति की प्रक्रिया की पहचान कर सकेंगे।
- 19वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए विभिन्न समाज-सुधार आंदोलनों के बारे में जान सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आप को आरम्भिक अवस्था के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न पहलुओं के विषय में बतलायेंगे। ब्रिटिश शासन का छोटे-मोटे विरोध तो पहले भी किये गये थे। लेकिन सन् 1857 में भारतीयों के विभिन्न वर्गों ने अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिये मिल-जुल कर प्रयास किये। इसलिये इसे स्वतंत्रता का पहला संग्राम कहा जाता है। लेकिन कुछ कमजोरियों के कारण अंग्रेजों ने इस विद्रोह को दबा दिया। लेकिन जहाँ तक स्वतंत्रता हासिल करने का प्रश्न था उसके लिये संघर्ष जारी रहा। इससे एक नये संघर्ष की प्रेरणा मिली। बुद्धिजीवी वर्ग, जिसने कि पहले ब्रिटिश शासन की परोपकारिता में विश्वास किया था, अब अंग्रेजों के अत्याचारों का पर्दाफाश करने लगे। राजनैतिक संगठन बनाये गये और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई में हम नरमपंथी और उग्रपंथी राष्ट्रवादियों की भूमिका और स्वदेशी आंदोलन के दौरान जनसाधारण को स्वतंत्रता संग्राम में सम्मिलित करने के लिये किये गये प्रयासों के विषय में चर्चा करेंगे।

भारतीय समाज के लिये यह समय सांस्कृतिक जागृति का भी था। बहुत से सामाजिक और धार्मिक सुधारकों ने हमारे समाज में फैली हुई सामाजिक और धार्मिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। इससे नये भारत के निर्माण में अत्यधिक सहायता मिली। इस इकाई में आप को भारतीय समाज सुधारकों द्वारा उठाये गये मुद्दों की एक झलक दिखाने का प्रयास किया गया है। यह इकाई गांधी जी के भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर उदय से पहले समाप्त हो जाती है।

11.2 प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857)

सन् 1857 के विद्रोह को भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के नाम से जाना जाता है। इस में लाखों सैनिकों, कारीगरों और किसानों ने विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिये मिल जुल कर प्रयास किये। यह विद्रोह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह लगभग एक शताब्दी से ब्रिटिश नीतियों और साम्राज्यवादी शोषण के प्रति असंतोष का परिणाम था। भारत पर अधिकार करने के बाद अंग्रेजों ने लम्बी प्रक्रिया द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज को अपने अधीन किया था। इस प्रक्रिया ने लोगों को जन संघर्षों के द्वारा अंग्रेजों के विरोध का मार्ग दिखाया। अंग्रेजी सत्ता को इस प्रकार की चुनौती प्रायः अधिकारच्युत राजाओं, बेदखल जमीदारों और पोलगारों (दक्षिण भारत में भूमि सम्पन्न फौजी उच्चपदाधिकारी) और अंग्रेजों द्वारा विजित राज्यों के भूतपूर्व अधिकारियों द्वारा दी गई थी। इन विद्रोहों का जनाधार बरबाद किसान, कारीगर और कार्य विरत सैनिक थे। सन् 1760 के दशक में बंगाल और बिहार मे सन्यासी और चुआर विद्रोह हुये। उस समय शायद ही कोई ऐसा वर्ष होगा, जिसमें देश के किसी न किसी भाग में कोई विद्रोह न हुआ हो। सन् 1763 से 1856 तक 40 से अधिक बड़े विद्रोह हुये। इसके अलावा छोटे-छोटे हजारों विद्रोह भी हुए। यद्यपि ये विद्रोह संख्या में बहुत अधिक थे परन्तु इन की प्रकृति और परिणाम पूरी तरह स्थानीय थे। समय की दृष्टि से भी ये अलग-अलग काल में हुए। सन् 1857 के विद्रोह में देश के अधिकांश हिस्सों से लाखों व्यक्तियों ने भाग लिया और अंग्रेजी शासन का जमकर मुकाबला किया।

1. 11वीं अनियमित घुड़सवार सेना के सिपाहियों के हथियारों का जब्त किया जाना (1 अगस्त, 1857)

11.2.1 कारण

10 मई 1857 में कम्पनी के भारतीय सिपाहियों ने मेरठ में गदर की शुरुआत की। उन्होंने अपने यूरोपीय अफसरों को मार डाला, दिल्ली के लिये रवाना हुए और लाल किले में घुस कर वृद्ध और अधिकारच्युत मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय को भारत का शासक घोषित किया।

कम्पनी के सिपाहियों को अपने अंग्रेज अफसरों से बहुत सी शिकायतें थीं जिनमे सेवा शर्तों में गिरावट से लेकर धार्मिक हस्तक्षेप और जातीय गर्व सम्मिलित था। लेकिन मूलतः ये शिकायतें ब्रिटिश शासन के प्रति व्याप्त असंतोष का चिह्न थीं। वास्तव में सिपाही भारतीय समाज के ही अंग थे — वे "वर्दी में किसान" थे। उनमें भारतीय समाज के अन्य वर्गों की आशाएँ, इच्छाएँ, निराशा और असंतोष झलकता था। सिपाहियों का विद्रोह भारतीयों के एकत्रित असंतोष का ही परिणाम था। गदर का सबसे प्रमुख कारण परम्परागत भारतीय अर्थव्यवस्था में बिखराव, इसका ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन होना और देश का आर्थिक शोषण था। भू-राजस्व की माँग को बढ़ाने की उपनिवेशिक नीति के कारण बड़ी संख्या में किसानों की

भूमि व्यापारियों और महाजनों ने हड़प ली थी। परम्परागत हस्तशिल्प के नष्ट होने से हजारों कारीगर गरीब और बरबाद हो गये। सन् 1770 से 1857 के दौरान 12 बड़े और अनेक छोटे अकाल पड़े। इनके कारण भी किसानों और कारीगरों की आर्थिक स्थिति खराब हुई थी।

हजारों जमींदार और पोलगर अपनी जमीन और भू-राजस्व से हाथ धो बैठे। हजारों छोटे रजवाड़ों ने अपने राज्य खो दिये। बहुत से भारतीय राजाओं को ईस्ट इंडिया कम्पनी का हस्तक्षेप पसंद नहीं था। इसके अतिरिक्त इन राजाओं, सेनापतियों, कुलीनों और जमींदारों पर आश्रित परम्परागत भारतीय विद्वान जैसे कि पुजारी आदि भी अपना संरक्षण खोकर दरिद्रता की ओर अग्रसर हो रहे थे।

विद्रोह का एक मुख्य कारण ब्रिटिश शासन की विदेशी प्रकृति थी। ब्रिटिश इस जमीन पर सदा विदेशी रहे उन्होंने कभी इसे अपना नहीं माना। भारतीय इन विदेशियों की आज्ञापालन करने में, जिन्होंने कि उनकी स्वतंत्रता का हनन किया था, अपमानित महसूस करते थे।

2. बरेली के युद्ध में हिस्सा ले रही आम जनता और सिपाही (5 मई, 1858)

11.2.2 विस्तार एवं गहनता

सन् 1857 का विद्रोह उत्तर भारत में तूफान की तरह फैल गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के लगभग आधे भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। उत्तर भारत में जगह जगह सैनिकों के विद्रोह में जनता भी शामिल हो गयी। एक अनुमान के अनुसार अवध में अंग्रेजों के साथ लड़ते हुये 1,50,000 लोग मारे गये, उन में 1,00,000 नागरिक थे। अवध, रूहेलखण्ड, दोआब, बुंदेलखण्ड मध्य भारत, बिहार का एक बड़ा हिस्सा और उत्तरी पंजाब में गदर फैल गया। राजस्थान में नसीराबाद, निमच और कोटा में विद्रोह उठे। कोल्हापुर में भी सिपाहियों ने विद्रोह में भाग लिया। इन क्षेत्रों के बहुत से रजवाड़े अंग्रेजों के प्रति वफादार बने रहे लेकिन सैनिकों और जनता ने क्रांतिकारियों का साथ दिया और उन के विरुद्ध लड़ने से इनकार कर दिया। सन् 1858 में लंदन टाइम्स के संवाददाता डब्ल्यू. एच. रसल (W.H. Russel) ने भारत का दौरा किया और लिखा "किसी भी समय अंग्रेज की गाड़ी की ओर कोई मित्रतापूर्वक दृष्टि नहीं उठाता ..... ओह यह आंखों की भाषा। इसमें क्या शक। कौन इस को गलत समझ सकता है? मैंने केवल इसी के द्वारा देखा कि अक्सर अधिकतर लोग हमारी जाति से नहीं डरते और सभी लोग हमारी जाति को नापसंद करते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम एकता से विद्रोह को काफी शक्ति मिली। सिपाही और जनता के स्तर के साथ-साथ नेतृत्व के स्तर पर भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पूरा सहयोग था। गदर में बहुत से साहसी और बुद्धिमान नेता उभर कर सम्मुख आए। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्याँ टोपे, अवध की बेगम हज़रत महल, कुंवर सिंह, बरेली के खान बहादुर, फैजाबाद के मौलवी अहमद उल्ला और बरकत खान आदि गदर के नेताओं के कुछ प्रसिद्ध नाम हैं। इस के अतिरिक्त सिपाही और जनता ने भी बिना किसी स्वार्थ के निष्ठापूर्वक अतुलनीय साहस से लड़ाई लड़ी।

3. लखनऊ में कैसरबाग का विध्वंस देखता हुआ टाइम्स का संवाददाता

11.2.3 पराजय

4. बेगम हज़रत महल

अंत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनी शक्ति द्वारा गदर को क्रूरतापूर्वक कुचल दिया। इसके बहुत से कारण थे। अपनी व्यापक पहुँच के बावजूद भी गदर पूरे देश या भारतीय समाज के सभी वर्गों तक नहीं पहुँच सका। बंगाल, दक्षिण भारत और पंजाब का बड़ा भाग इसकी पहुँच से बचा रहा क्योंकि ये क्षेत्र अंग्रेजों के विरुद्ध लम्बा विद्रोह और संघर्ष करते-करते शायद पहले ही थक गये थे। भारतीय राज्यों के बहुत से शासक और बड़े ज़मीदार विदेशी शासकों के प्रति वफादार बने रहे। इस प्रकार ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होल्कर, हैदराबाद के निजाम, जोधपुर के राजा, बहुत से राजपूताना के राज्यों, भोपाल के नवाब, पटियाला और काश्मीर के राजाओं, नेपाल के राजा और अन्य बहुत से राजा और सेनापतियों ने गदर का दमन करने में अंग्रेजों को अपना सक्रिय सहयोग दिया।

मुख्यतया व्यापारियों और महाजनों ने या तो अंग्रेजों को सहयोग दिया या क्रान्तिकारियों की सहायता करने से इनकार कर दिया। आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने भी गदर में सहयोग नहीं दिया। गदर के नेता साहस के साथ लड़े, लेकिन वे संघर्ष को क्रमबद्ध नहीं कर सके और न ही संयुक्त संचालन विकसित कर सके। इसके विपरीत वे निरंतर मामूली झगड़ों में उलझे रहते थे। उनके पास आधुनिक हथियारों का अभाव था और प्रायः वह तलवार और भाले जैसे पुराने हथियारों से लड़ते थे। वे ठीक से संगठित भी नहीं थे। सिपाही बहादुर थे परन्तु कई बार उनमें अनुशासन का अभाव रहता था जिसने उनकी सैनिक क्षमता को प्रभावित किया।

5. युद्ध के मैदान में झांसी की रानी

सबसे बढ़कर तो क्रान्तिकारियों में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आधुनिक समझ का अभाव था साथ ही राज्य और समाज की प्रकृति, जो इसका स्थान ले सकती थी, के बारे में भी समझ का अभाव था। वे ब्रिटिश शासन से घृणा करते थे और पूर्व ब्रिटिश अर्थव्यवस्था, राजनैतिक और सामाजिक संबंधों को पुनः स्थापित करने की इच्छा मात्र द्वारा संगठित थे। लेकिन स्वतंत्र भारत के राजनैतिक या सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के किसी सिद्धांत पर संयुक्त रूप से स्पष्ट नहीं थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि सारे भारत की संयुक्त चेतना और स्वार्थों में समानता अभी विकसित होनी थी। यदि यह विद्रोह कुछ वर्षों बाद समाप्त होता तो संघर्ष के दौरान एक आधुनिक समझ और राष्ट्रीय चेतना विकसित हो जाती जो कि बाद में हुई परन्तु क्रान्तिकारियों को इतना समय ही नहीं मिल पाया उनका विद्रोह 1858 के अंत तक कुचल दिया गया।

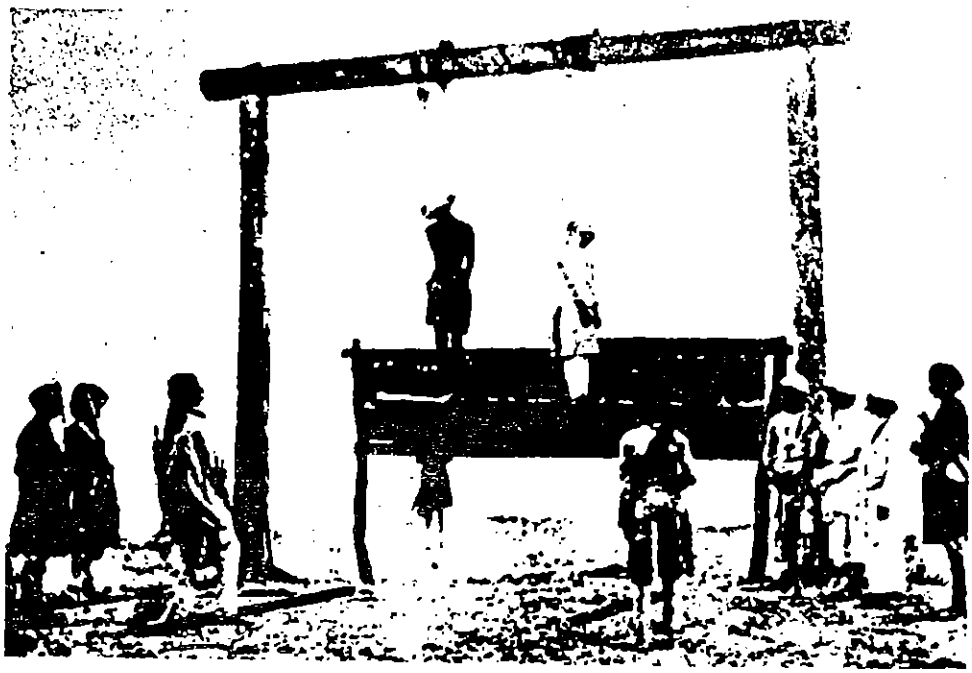

6. अंग्रेजों द्वारा "विद्रोहियों" को फांसी

भारतीयों द्वारा स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व के विरोध में किया गया पहला महान संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। इसने भारतीयों की चेतना पर अमिट छाप छोड़ी और इसके बाद वे स्वतंत्रता संग्राम में प्रेरणा का स्थायी स्रोत बन गया।

बोध प्रश्न 1

1 सन् 1857 के गदर के मुख्य कारणों को 100 शब्दों में लिखिए

2 निम्नलिखित में से कौन से कथन सही हैं सही के सामने (√) का और गलत के सामने (×) का चिन्ह लगाइये।

क) सन् 1857 का गदर ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए किया गया राष्ट्रीय स्तर का पहला प्रयास था।

ख) सन् 1857 का विद्रोह केवल सिपाहियों का गदर था।

ग) सभी व्यापारियों और महाजनों ने 1857 के विद्रोह में सहयोग दिया।

घ) हिन्दू-मुस्लिम एकता ने 1857 के विद्रोह को शक्ति प्रदान की।

3 क) उन तीन भारतीय शासकों के नाम दीजिये जिन्होंने 1857 में ब्रिटिशों को सहयोग दिया।

.....

.....

.....

ख) उन तीन भारतीय नेताओं के नाम दीजिये जिन्होंने 1857 में ब्रिटिश के विरुद्ध विद्रोह किया।

11.3 राष्ट्रीय आंदोलनों की प्रारम्भिक अवस्था

सन् 1857 के विद्रोह की पराजय से यह स्पष्ट हो गया कि पुराने विचारों और पुरानी सामाजिक शक्तियों पर आधारित संघर्ष से आधुनिक साम्राज्यवाद को पराजित नहीं किया जा सकता। इसके लिए नयी सामाजिक शक्तियों, नई विचारधाराओं, आधुनिक साम्राज्यवाद की समझ पर आधारित आधुनिक राजनैतिक आंदोलनों और राष्ट्रीय स्तर की राजनैतिक गतिविधियों के लिए जनसाधारण को जगाने की क्षमता की आवश्यकता थी। ऐसा आंदोलन राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों द्वारा 19वीं शताब्दी के दूसरे चरण में शुरू किया गया। नये आंदोलन का सामाजिक आधार अपेक्षाकृत संकुचित था। लेकिन यह नये राजनैतिक विचारों यथार्थ के नए ज्ञान और नए सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित था इसने नई ताकतों, संघर्ष के तरीकों, नेतृत्व के नवीन वर्गों और राजनैतिक संगठन की नई पद्धतियों का भी प्रतिनिधित्व किया।

इस शक्तिशाली आंदोलन के उद्भव के कई कारण थे। लेकिन इसका सबसे प्रमुख कारण था, भारतीयों के हितों और ब्रिटिश शासन के हितों (जिस के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज का विकास अवरुद्ध था) के बीच धीरे-धीरे उठता हुआ विरोध। यह भारत के आगे के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनैतिक विकास में भी विघ्न डाल रहा था। यहाँ हम संक्षेप में उन कारणों पर विचार करेंगे जिन्होंने संगठित राष्ट्रवाद के उभरने में योगदान दिया।

11.3.1 बुद्धिजीवियों की भूमिका

प्रारम्भिक अवस्था में इस प्रक्रिया को केवल बुद्धिजीवियों ने ही समझा। परन्तु 19वीं शताब्दी के दूसरे चरण के दौरान प्रारम्भ में उन्होंने औपनिवेशिक शासन की ओर सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया:

- उनका विश्वास था कि भारतीय समाज का पुनर्निर्माण ब्रिटिश शासन के अधीन ही हो सकता है क्योंकि ब्रिटेन उस समय का सबसे विकसित देश था।
- उन्हें आशा थी कि ब्रिटेन भारत को पिछड़ेपन से मुक्त करेगा।
- बुद्धिजीवी आधुनिक उद्योग और आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास की संभावना से आकर्षित थे। उन्हें आशा थी कि ब्रिटेन भारत का औद्योगीकरण करेगा।
- उनका विश्वास था कि ब्रिटेन प्रजातन्त्रात्मक सिद्धांत, नागरिक स्वतंत्रता और जनता की प्रभुसत्ता का समर्थक है और भारत को आधुनिक ज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी से परिचित करायेगा और इससे भारतीय जनता का सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से नवीन विकास होगा।

भारतीयों का उभरता हुआ एकीकरण एक अतिरिक्त आकर्षण था। अतः उन्होंने 1857 के गदर में भी ब्रिटिश शासन को सहयोग दिया और ब्रिटिश साम्राज्य को "दैवी" या "ईश्वरीय विधान" कहा।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बुद्धिजीवी इस भ्रम से मुक्त होने लगे थे। उनके बढ़ते हुये अनुभवों ने दिखा दिया कि उनकी वे आकांक्षाएँ जो कि ब्रिटिश शासन की प्रकृति और चरित्र की गलत समझ पर आधारित थी दोषपूर्ण थीं। बुद्धिजीवियों ने महसूस किया कि:

- व्यावहारिक रूप में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अव्यवस्थित किया और आधुनिक उद्योग और कृषि के उत्थान का मार्ग अवरुद्ध किया।
- प्रजातंत्र और स्वशासन के विकास की बात न करते हुए ब्रिटिश शासकों ने भारत में स्थायी रूप से उदार निरंकुश शासन का प्रस्ताव रखा।
- अंग्रेजों ने जनसाधारण की शिक्षा की उपेक्षा की, नागरिक स्वतंत्रता प्रदान करने में रुकावट डाली और "फूट डालो व शासन करो" की नीति का अनुसरण किया।

इस प्रकार इन परिस्थितियों में प्रश्न यह था कि बुद्धिजीवियों को क्या करना चाहिए? धीरे-धीरे बुद्धिजीवियों ने राजनैतिक जागरूकता का प्रसार करने के लिए राजनैतिक संगठन बनाये और देश में राजनैतिक कार्य आरम्भ किये। राजा राम मोहन राय पहले भारतीय नेता थे, जिन्होंने भारत में राजनैतिक सुधार के लिये आंदोलन आरम्भ किया। 1840 से 1850 तक सामान्य जनरुचि बढ़ाने के लिये बंगाल ब्रिटिश इंडियन सोसायटी और अन्य संगठन बनाये लेकिन ये संगठन स्थानीय प्रकृति के थे और इन पर धनी व कुलीन तत्वों का अधिकार था। किन्तु 1870 और 1880 के दशकों में भी अधिक आधुनिक, स्पष्ट रूप, से राजनैतिक और मध्यम वर्ग पर आधारित संगठन जैसे कि महाराष्ट्र में पूना सार्वजनिक सभा, बंगाल में इंडियन ऐसोसियेशन, मद्रास में महाजन सभा और बम्बई में प्रेसीडेन्सी ऐसोसियेशन उभर कर आए।

11.3.2 औपनिवेशिक शासन की भूमिका

1876 से 1880 के बीच लिटन के वायसराय काल की प्रतिक्रियावादी प्रकृति के कारण भारतीय राष्ट्रवाद की गति तेज हो गयी। यहां हम लिटन द्वारा अपनायी गई कुछ प्रतिक्रियावादी नीतियों का उल्लेख कर रहे हैं:

- 1878 के शस्त्र कानून ने एक ही क्षण में भारतीयों को शस्त्रहीन बना दिया।
- 1878 के वर्नाकुलर प्रेस एक्ट के द्वारा ब्रिटिश शासन की भारतीयों द्वारा निरंतर बढ़ती हुई आलोचना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

- भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा के लिये निर्धारित 21 वर्ष की अधिकतम आयु को घटाकर 19 वर्ष कर दिया गया, जिसके कारण भारतीयों के लिए उस सेवा में प्रवेश की संभावनाएँ कम हो गयीं।
- 1877 में शाही दरबार का आयोजन किया गया जब कि लाखों भारतीय अकाल से मर रहे थे। ऐसे ही समय में अफगानिस्तान के विरुद्ध अंग्रेजों के युद्ध का खर्च भारतीय अर्थव्यवस्था पर ही पड़ा।
- ब्रिटिश कपड़ों पर से आयात शुल्क हटा दिया गया जिसके कारण अपने पैरों पर खड़े हो रहे भारत के कपड़ा उद्योग को धक्का पहुँचा।

ये सभी भारत में ब्रिटिश शासन के उपनिवेशिक चरित्र को स्पष्ट करते थे। 1883 में तत्कालीन वायसराय लार्ड रिपन ने भारतीयों की भावनाओं को शांत तथा संतुष्ट करने की दृष्टि से जातीय भेदभाव को समाप्त करने के लिए इलबर्ट बिल पास करके अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। इस के अन्तर्गत भारतीय जिला और सेशन जज यूरोपियों के फौजदारी के मुकदमों में विचार कर सकते थे। भारत में यूरोपियों ने तीव्र नस्लवादी आंदोलन शुरू कर दिया और सरकार को बिल में संशोधन करने के लिये मजबूर कर दिया। इन सभी कारणों से भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिये सहानुभूति का वातावरण तैयार हो गया।

11.3.3 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

अब वह समय आ गया था जब विदेशी शासन और शोषण के विरुद्ध सारे भारत के भारतीयों की राजनैतिक गतिविधियों को संगठित और सहयोग करने वाले अखिल भारतीय संगठन की स्थापना की जा सकती थी। कई वर्षों से इस दिशा में अनेक प्रयत्न किये गये थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में "इंडिया ऐसोसियेशन" की स्थापना हुई। इस विचारधारा को अन्तिम रूप उस समय मिला जब दादाभाई नौरोजी, जस्टिस एम.जी. रनाडे,, के.टी. तेलंग और बरूद्दीन तैयबजी जैसे राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के एक बड़े समूह ने अवकाश प्राप्त ब्रिटिश सिविल सेवा के अधिकारी ए.ओ. ह्यूम के साथ मिल कर दिसम्बर 1885 में बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम सत्र का आयोजन किया। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता का संघर्ष छोटे पैमाने पर आरम्भ हुआ।

7. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन 1885

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रीय नेताओं का विश्वास था कि राजनैतिक मुक्ति के लिए प्रत्यक्ष संघर्ष अभी भी समय की माँग नहीं है पहले तो केवल संघर्ष की नींव ही डाली जानी आवश्यक थी आप यह जानना चाहेंगे कि प्रारम्भिक दौर में भारतीय राष्ट्रवादियों के मूल उद्देश्य क्या थे?

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों का पहला मूल उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना, भारत को एक राष्ट्र के रूप में बाँधना, भारतीय चरित्र का निर्माण और साम्राज्यवादियों के इस आरोप का खंडन करना था कि भारत एक राष्ट्र नहीं है बल्कि सैकड़ों परस्पर भिन्न भाषाओं, जातियों और धर्मों का समूह मात्र है।

दूसरा मूल उद्देश्य राष्ट्रीय राजनैतिक रंगमंच या कार्यक्रम की रचना करना था जिससे सभी भारतीय सहमत हो सकें और जो अखिल भारतीय गतिविधियों का आधार बन सके।

तीसरा उद्देश्य भारतीयों में राजनीतिक जागृति और राजनैतिक प्रश्नों में जनता की रुचि उत्पन्न करना और देश में जनता को इस क्षेत्र में प्रशिक्षित और संगठित करना था।

एक अन्य प्रमुख उद्देश्य उस समय अखिल भारतीय राजनैतिक नेतृत्व की रचना करना था। कोई भी आंदोलन बिना संगठित नेतृत्व के विकसित नहीं हो सकता। इस प्रकार का देशव्यापी संगठित नेतृत्व 1880 के दशक में अस्तित्व में नहीं था। इसके साथ ही राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की एक ऐसी मंडली को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता थी जिसमें एकरूपता हो।

इस प्रकार प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों के मूल उद्देश्य अखिल भारतीय स्तर पर उपनिवेश विरोधी विचारधारा की रचना करना था।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही है कौन सा गलत है। सही (√) और गलत (×) लगा कर बताइए।

क) 1857 के बाद यह स्पष्ट हो गया कि साम्राज्यवाद को परास्त करने के लिए नये तरीकों की आवश्यकता है।

ख) भारतीय बुद्धिजीवी हमेशा अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे।

ग) अंग्रेजों ने नागरिक स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया।

घ) भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटिश शासन के अधीन पनपी।

2 प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों के मूल उद्देश्य क्या थे? 10 पंक्तियों में उत्तर दीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 नरमपंथी और उग्रपंथी राष्ट्रवादी

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान, जिसे नरमपंथी राष्ट्रवादियों के नाम से जाना जाता है, साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन और आर्थिक प्रश्नों का दृढ़तापूर्वक विरोध था। उन्होंने औपनिवेशिक आर्थिक शोषण के तीन रूपों — व्यापार, उद्योग और वित्त पर नजर रखी। वे अच्छी तरह समझ गये थे कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद का मूल उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। उन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों — अर्थात् भारत को कच्चे माल का आपूर्तिकर्ता (supplier) बनाने तथा भारत को ब्रिटिश वस्तुओं का बाज़ार बनाकर इसे विदेशी पूँजी लगाने के एक क्षेत्र में बदलने के ब्रिटिश प्रयत्नों का जोरदार विरोध किया।

11.4.1 नरमपंथी : उद्देश्य एवं पद्धतियाँ

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों ने जनतांत्रिक नागरिक अधिकारों, स्वतंत्र प्रेस और बिना किसी जातिगत भेदभाव वाले शासन के लिए लगातार आंदोलन किया वास्तव में इस दौरान यह राष्ट्रवादियों के राजनैतिक कार्यकलापों का परिणाम था कि सामान्यतः भारतीयों और विशेषतः बुद्धिजीवियों के बीच जनतांत्रिक विचार पनपने लगे थे। नरमपंथियों ने आधुनिक शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रसार के लिए भी आवाज उठाई। राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने सुधारों की माँग की जिससे प्रशासन में और न्यायपालिकाओं में भारतीयों को अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व मिल सके।

प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों की सबसे बड़ी कमी उनके आंदोलन का संकीर्ण सामाजिक आधार था अभी तक आंदोलन का आकर्षण विस्तृत नहीं हुआ था। यह जनसाधारण में प्रवेश नहीं कर पाया था। नरमपंथियों के राजनैतिक कार्यकलाप शहरी शिक्षित मध्यमवर्ग तक ही सीमित थे परन्तु उनके कार्यक्रम और नीतियाँ केवल मध्यम वर्ग के हितों के लिए ही नहीं थे। उन्होंने सभी भारतीय वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व औपनिवेशिक प्रभुत्व का विरोध किया।

नरमपंथी कानून की चारदीवारी के अंदर संवैधानिक विरोध के तरीकों में विश्वास रखते थे। इस प्रकार उनका सार्वजनिक सभा और समाचार पत्रों के माध्यम से आंदोलन करने में विश्वास था। उन्होंने तर्क पर आधारित सावधानी से तैयार किए हुए बहुत से प्रार्थना पत्र और याचिकाएँ सरकार को भेजीं। यद्यपि ऊपरी तौर से ये प्रार्थना पत्र आदि सरकार को सम्बोधित थे। परन्तु इनका वास्तविक उद्देश्य भारतीयों को शिक्षित कर उनमें राजनीतिक जागृति उत्पन्न करना था। उदाहरण के लिये जस्टिस

रानाडे ने 1891 में जी.के. गोखले को लिखा था — "तुम यह नहीं समझ रहे हो कि हमारे देश के इतहास में हमारा क्या स्थान है। सामान्यतः ये प्रार्थना-पत्र सरकार को सम्बोधित किये गये हैं, परन्तु वास्तव में उनसे जनता को सम्बोधित किया गया है, जिससे वे यह जान सकें कि इन विषयों पर कैसे सोचा जाय, क्योंकि इस प्रकार की राजनीति इस भूमि पर बिलकुल नई है।"

राजनीतिक उदारता के बावजूद अधिकारी उनके प्रबल विरोधी बन गए। ब्रिटिश अधिकारियों और राजनीतिज्ञों ने उन्हें "विश्वासघाती" और "राजद्रोही तत्त्व" कहा। वायसराय लार्ड कर्जन ने 1900 में घोषित किया कि उन्हें कांग्रेस के विनाश में अपना योगदान देने की इच्छा है। इसका कारण यह था कि यद्यपि उदारवादी छोटे पैमाने पर थे परन्तु उन्होंने देश में साम्राज्यवाद विरोधी जागृति उत्पन्न कर दी थी। उन के द्वारा की गई साम्राज्यवाद की आर्थिक नीतियों की आलोचना ने बाद के वर्षों में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध सक्रिय जनसंघर्ष मे राष्ट्रीय आंदोलन के आधार के रूप में काम किया। उन्होंने अपने आर्थिक आंदोलन के द्वारा इसके क्रूर, शोषक चरित्र को खोल कर ब्रिटिश शासन के नैतिक आधार को कमजोर कर दिया। इसके अतिरिक्त नरमपंथियों का राजनैतिक कार्य केवल धर्म और भावनाओं की तुच्छ और संकीर्ण अपील पर आधारित न होकर व्यक्तियों के जीवन के कठोर सत्य के ठोस चिन्तन और सूक्ष्म परीक्षण पर आधारित था। एक बार राष्ट्रव्यापी आंदोलन की ठोस नींव पड़ जाने पर यह जन-संघर्ष का रूप ले सकता था और समय के साथ-साथ ऐसा ही हुआ।

11.4.2 उग्रपंथी राष्ट्रवादी : उद्देश्य और विधियाँ

20वीं शताब्दी के आरम्भ में उग्रपंथी राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नये और उच्च स्तर की ओर विकास होने लगा। यह प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादी आंदोलन और 19वीं शताब्दी के अंत में अंग्रेजों द्वारा साम्राज्यवाद को पुनः शक्ति प्रदान करने के प्रयास का परिणाम था। साम्राज्यवादी कट्टरता के प्रतीक लार्ड कर्जन 1899 से वायसराय हुये। भारतीयों को लगा कि राजनैतिक तर्कों तथा आंदोलन के उदार उपायों से शासकों से राजनैतिक रियायतें प्राप्त करना असम्भव है। उन्होंने यह समझ लिया कि भारतीयों को आत्मनिर्भर बनना होगा और जन आंदोलन व जन राजनीति को अपनाकर स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयास करने होंगे।

देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति भी इसी ओर संकेत कर रही थी। उपनिवेशिक शासन के परिणाम 19वीं शताब्दी के अंत तक उभर कर सामने आने लगे थे जो भारत के आर्थिक ह्रास और विकास के मार्ग में अवरोध के रूप में प्रकट हो रहे थे। उदाहरण के लिए इसका एक संकेत था — भीषण अकाल, जिसने 1897 से 1900 तक देश को बुरी तरह प्रभावित किया और लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हुई।

इस समय अनेक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी उग्रपंथी राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया। 1896 में इटली की फौजों की इथोपिया से और 1905 में जापान से रूस की हार ने यूरोपीय सर्वोच्चता के भ्रम की धज्जियाँ उड़ा दी। इनका प्रभाव आयरलैंड, रूस, मिश्र, तुर्की और चीन के क्रांतिकारी आंदोलनों पर भी पड़ा जिसमें यह स्पष्ट हुआ कि संगठित लोग जो बलिदान के लिये तैयार थे, शक्तिशाली निरंकुश विदेशी शासन तक से संघर्ष कर सकते थे।

अब पर्दे पर एक नया राजनैतिक नेतृत्व उभरा। इसमें सबसे प्रमुख थे बाल गंगाधर तिलक (जिन्हें लोकमान्य के नाम से जाना जाता है), अरविन्द घोष, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपत राय। नये नेतृत्व में भारतीयों को विश्वास था और उसने शिक्षा दी कि भारतीय अपने प्रयत्नों पर अपनी राजनैतिक गतिविधियों और अपने बलिदान पर विश्वास करें। उन के राजनैतिक कार्यों और दृष्टिकोण ने आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास को प्रोत्साहन दिया। इससे अधिक उन्हें भारतीयों की शक्ति और जनशक्ति पर आधारित राजनीति पर गहरा विश्वास था। एक बार यदि जनशक्ति ने राजनीति को अपने हाथ में ले लिया तो उन्हें विश्वास था कि ब्रिटिश राष्ट्रीय आंदोलन को कुचल नहीं सकेंगे। उन्होंने यह भी अस्वीकार किया कि ब्रिटिश शासन को शांति से सुधारा जा सकता है। अब स्वराज्य या स्वतंत्रता की प्राप्ति राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था।

11.5 स्वदेशी आंदोलन

इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन को उच्च स्तर पर आगे की ओर ले जाने के लिये परिस्थिति तैयार हो चुकी थी। इसे चिनगारी उस समय मिली जब 20 जुलाई 1905 में सरकार ने बंगाल प्रान्त के विभाजन का निर्णय लिया। सरकार ने तर्क दिया था कि विभाजन प्रशासनिक आधार पर किया गया है। लेकिन बंगाल की जनता के अनुसार यह राष्ट्रवादिता की ओर उन्मुख हुये बंगालियों में फूट डालने का प्रयत्न था और इस प्रकार बंगाल में और इसके साथ ही लगभग सारे भारत में उग्रपंथी राष्ट्रवादियों को बड़े मजबूत हो गई।

16 अक्तूबर को कलकत्ता में एक दिन का उपवास और सामान्य हड़ताल करके राजनैतिक आंदोलन का सूत्रपात किया गया। कलकत्ता की सड़कों पर बड़ी संख्या में लोगों ने जलूस निकाला और शाम के समय 50,000 व्यक्तियों की एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया। पूरे बंगाल में शहर से गाँव तक सभाओं, जलूसों और प्रदर्शनों के स्वर गूँज रहे थे।

शीघ्र ही एक नया राजनैतिक अस्त्र और जोड़ लिया गया। सभी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और स्वदेशी या भारत में बनी हुई वस्तुओं के इस्तेमाल पर जोर दिया गया। बहुत सी जगहों पर जनता ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया। नये नेतृत्व ने अधिकारियों के विरुद्ध सत्याग्रह का आह्वान किया। स्कूलों और

कालेजों, न्यायालयों और सरकारी सेवाओं का बहिष्कार एक प्रकार से सरकार के प्रति असहयोग था। परन्तु कार्यक्रम का यह भाग महत्वपूर्ण स्तर पर कार्यरूप में नहीं लाया जा सका। नये नेतृत्व ने विदेशी शासन से मुक्ति का नारा दिया। इसके परिणामस्वरूप दिसम्बर 1906 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि कांग्रेस का उद्देश्य "स्वशासन अथवा स्वराज्य है।"

उग्रपंथी नेतृत्व ग्रामीण और शहरी वर्ग के बड़े तबके को आंदोलन में शामिल करने में सफल हुआ। विशेषकर ...र्थियों, स्त्रियों और श्रमिकों ने उत्साहपूर्वक आंदोलन में भाग लिया। शीघ्र ही स्वदेशी और स्वराज का नारा अन्य प्रान्तों में भी गूँजने लगा। अखिल भारतीय स्तर पर विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आयोजन किया गया। सारा देश एक सहानुभूति की भावना और एक समान राजनीति से जुड़ गया।

सरकार ने शीघ्र ही दमन द्वारा उत्तर दिया। सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, समाचार पत्रों का दमन किया गया, राजनैतिक कार्यकर्ताओं को जेल हो गयी, बहुत से नेताओं को निष्कासित कर दिया और विद्यार्थियों को पीटा गया। नरमपंथि उग्रपंथियों से और हिन्दुओं को मुस्लिमों से अलग करने की कोशिश की गई। उसी समय नयां नेतृत्व संगठन और संघर्ष के नये रूपों को अपनाने में असफल रहा जो उन के नये और उन्नत राजनैतिक समझ को बढ़ाने के लिए उपयोगी थे। उदाहरण के लिये यह सत्याग्रह को व्यवहार में लाने में असफल रहा। इसके साथ ही सरकार बड़े पैमाने पर आंदोलन को दबाने में सफल हो गयी, आंदोलन तिलक के 6 वर्ष के जेल और निष्कासन, विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष के सक्रिय राजनीति से अवकाश ग्रहण करने और भारत से लाला लाजपत राय के प्रस्थान के कारण अधिक समय तक ज़ारी नहीं रह सका।

8. एनी बेसेंट

युवा-वर्ग ने जन राजनैतिक गतिविधि का कोई प्रभावशाली निकास नहीं पाया अतः सरकार के दमन का भावनात्मक और वीरतापूर्वक उत्तर दिया। वे क्रांतिकारी आतंकवाद को अधिक अपनाने लगे एवं घृणित अंग्रेज अधिकारियों को मार डालना उनका एक राजनैतिक अस्त्र बना। अनुशीलन और युगान्तर इस समय के दो प्रमुख क्रांतिकारी आंतकवादी गुट थे किन्तु क्रांतिकारी आतंकवादियों के पास जन आधार न होने के कारण वे अपने आंदोलन को लम्बे समय तक जारी नहीं रख सके। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में उनका योगदान उल्लेखनीय है। जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है — "उन्होंने हमारे पौरुष (manhood) के गर्व को वापस लौटा दिया"।

राष्ट्रीय आंदोलन 1909 से 1916 तक कुछ शिथिल पड़ गया था। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इस में चेतना आयी जब एनीबेसेन्ट (Annie Besant) भारतीय संस्कृति की प्रशंसक एक अंग्रेज महिला और जेल से रिहा हुये लोकमान्य तिलक ने भारतीय होमरूल लीग के संरक्षण में प्रसिद्ध अखिल भारतीय संवैधानिक आंदोलन आरम्भ किया। विदेश में रह रहे भारतीय भी युद्ध के दौरान सक्रिय रहे। इनमें सबसे प्रमुख कार्य संयुक्त राष्ट्र अमरीका और कनाडा में गदर पार्टी की स्थापना था, जिसकी शाखाएँ पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया में थीं और जो भारत में संगठित सशस्त्र विद्रोह के प्रयास कर रही थी।

बोध प्रश्न 3

उग्रपंथियों और नरमपंथियों द्वारा अपनाये गये साधनों में अंतर कीजिये। उत्तर 10 पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

3 स्वदेशी आंदोलन से आप क्या समझते हैं? किस सीमा तक यह आंदोलन प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों द्वारा अपनाये गये तरीकों से आगे था? 100 शब्दों में उत्तर लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.6 सामाजिक-धार्मिक सुधार और सांस्कृतिक नवजागरण

19वीं और 20वीं शताब्दी के भारत की विशेषता बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना थी; भारतीयों के बौद्धिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आरम्भ हुये। भारतीय बुद्धिजीवी इस सत्य से परिचित थे कि भारत जैसा विशाल देश भारतीय समाज की आन्तरिक कमजोरियों के कारण कुछ मुट्ठी भर विदेशियों द्वारा उपनिवेश बना। अतः उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना और संस्कृति में विद्यमान बुराइयों की आलोचना करनी शुरू की। विशेष रूप से वे भारत के विज्ञान और सामाजिक क्षेत्र में पिछड़ेपन के प्रति सचेत थे, उपनिवेशवाद के साथ-साथ आधुनिक पाश्चात्य विचार और संस्कृति भारत में अपने प्रवेश का मार्ग बना रहे थे। यह तार्किकता या विज्ञान में विश्वास मानव चिंतन, मानवतावाद (humanism) और अपनी सामर्थ्य और प्रगति में विश्वास पर आधारित थे। भारतीय बुद्धिजीवियों का ध्यान दो विषयों पर तेजी से गया। तार्किकता और मानवतावादी समाज का वह सिद्धांत जिसमें प्रत्येक व्यक्ति मानव होने के नाते सम्मान के योग्य है। इन विचारों को विभिन्न क्षेत्रों में लागू करने के प्रयत्न को विद्वानों ने भारतीय नवजागरण का नाम दिया और इसे 12 वीं से 15वीं शताब्दी के दौरान यूरोपीय नवजागरण के समान माना।

यद्यपि धार्मिक और सामाजिक सुधार की शक्तियाँ और सांस्कृतिक नव चेतना देश के सभी भागों में, विभिन्न समय में, विभिन्न रूपों में और विभिन्न तत्वों से उठी थीं परन्तु भारतीय समाज की बुराइयों को समझने और उनको दूर करने के उपायों के संबंध में उनका लक्ष्य तथा दृष्टिकोण लगभग समान था।

11.6.1 प्रमुख समाजसुधारक: विषय एवं विचार

राजा राम मोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बौद्धिक और सांस्कृतिक जागृति की प्रक्रिया को आरम्भ किया। यद्यपि वे पूर्व की परम्परागत दार्शनिक व्यवस्था, उस की शिक्षा में बहुत श्रद्धा रखते थे परन्तु उनका विश्वास था कि मानव गरिमा और समानता के सिद्धांतों पर आधारित विवेकयुक्त और वैज्ञानिक दृष्टिकोण और समाज एवं धर्म से ही भारतीय समाज का पुनरूद्धार हो सकता है। राजा राम मोहन राय के बाद बुद्धिजीवियों और धार्मिक और समाज सुधारकों का एक बड़ा वर्ग उभरा। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, सैयद अहमद खान, गोपाल हरिदेशमुख, जोतिबा फुले, स्वामी दयानंद सरस्वती, जस्टिस रानाडे, रामकृष्ण परमहंस, वीरशलिंगम, नारायण गुरु, विवेकानंद, ई॰ वी॰ रामास्वामी नायकर आदि कुछ ऐसे नाम हैं जो इस क्षेत्र में कार्यरत थे।

9. राजा राममोहन राय

धार्मिक सुधारकों ने धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास, जाति प्रथा की कठोरता और अर्थहीन धार्मिक विधिविधान, और अंधविश्वास का दृढ़ता से विरोध किया। उन में से कुछ ने उन मामलों में पुरोहित वर्ग का विरोध किया जहाँ यह बहुत कट्टर और भ्रष्ट हो चुका था। वे हिन्दूवाद (Hinduism) इस्लाम और सिखवाद (Sikhism) के सुधार के लिये उठ खड़े हुए। समाज सुधारकों ने जाति व्यवस्था पर विशेष रूप से जाति व्यवस्था पर आधारित असमानता और उत्पीड़न पर प्रहार किया। उन्होंने भारतीय समाज में महिलाओं की हीन और असमान स्थिति की निंदा की और तर्क दिया कि बौद्धिक और नैतिक चेतना की दृष्टि से स्त्री और पुरुष बराबर हैं। वे सतीप्रथा के उन्मूलन के लिये लड़े; उन्होंने बहु विवाह या एक पुरुष का कई स्त्रियों

से विवाह कर लेने की प्रथा पर भी प्रहार किया; उन्होंने विधवा का दोबारा विवाह करने और स्त्री शिक्षा की भी वकालत की; इनमें से राजाराम मोहन राय ने तर्क दिया कि स्त्री को पैतृक धन और सम्पत्ति के उत्तराधिकार का अधिकार होना चाहिए। इस समय "पिछड़ी जातियों" के बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने भी जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष शुरू किया। जोतिबा फुले, नारायण गुरु और डा. बी. आर. अम्बेदकर तीन प्रमुख व्यक्ति थे, जो जातिप्रथा की असमानताओं के विरुद्ध लड़े। गांधी जी ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध छेड़े गये संघर्ष को अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष के साथ जोड़ दिय. उन्होंने कांग्रेस के सदस्यों को आदेश दिया कि वे अस्पृश्यता का व्यवहार न करे और न ही दूसरों को करने दें। उन्होंने हरिजनों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और शैक्षिक उत्थान के लिये अखिल भारतीय हरिजन सेवा संघ की स्थापना की।

19 वीं शताब्दी में मुख्यत: पुरुष समाजसुधारकों ने स्त्रियों के पिछड़ेपन के कारणों पर विचार किया था। 20 वीं शताब्दी में स्त्रियाँ स्वयं अपनी सामाजिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने के लिये आगे आयीं। महिलाओं की दस पत्रिकायें प्रकाश में आयीं जिनका संपादन महिलाओं ने किया और 1930 के दशक में अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेन्स की स्थापना के बाद महिलाओं के आंदोलन ने संगठित रूप ले लिया। राष्ट्रीय आंदोलन ट्रेड यूनियनों और किसान सभा ने भी महिलाओं के अधिकारों की माँग को अपनाया।

यह इन सुधारवादी प्रयत्नों और सामाजिक संघर्ष का परिणाम था कि स्वतंत्र भारत के संविधान में स्त्री-पुरुष की पूर्णसमानता और लिंग या जाति के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सभी सुधारकों ने धर्म और समाज के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। वे धार्मिक और सामाजिक विचारों और व्यवहारों को केवल विश्वास पर आधारित न बना कर मानवीय कारणों और मानवता की अच्छाई पर आधारित बनाना चाहते थे। उन्होंने धार्मिक सत्ता पर अंधविश्वास का विरोध किया। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों और परंपरा से प्राप्त सामाजिक रीतिरिवाजों में सुधार लाने और यहाँ तक कि यदि वे तर्क संगत न हों या समाज के लिये हानिकारक हो तो उन्हें छोड़ देने की प्रेरणा दी। उदाहरण के लिये स्वामी विवेकान्द ने कहा था कि "क्या धर्म को अपने आप को उसी तरह उचित सिद्ध करना चाहिए जैसा प्रत्येक विज्ञान स्वयं को तार्किक सत्यों की कसौटी पर उचित सिद्ध करता है? विज्ञान और अन्य विषयों पर जो निरीक्षण के तरीके लागू किये जाते हैं क्या वे धर्म के विज्ञान पर भी लागू किये जा सकते हैं। मेरे विचार में ऐसा ही होना चाहिए और यह भी मेरा विचार है कि जितनी जल्दी यह किया जायेगा उतना ही अच्छा होगा"। इसी प्रकार सर सैयद अहमद खाँ ने जिन्दगी पर अंधविश्वासी रीतिरिवाजों और विवेकहीनता का विरोध किया और आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की सिफारिश की, "जब तक विचारों की स्वतंत्रता का विकास नहीं होता तब तक सभ्य जिन्दगी नहीं हो सकती"। यहाँ तक कि धार्मिक सुधारकों में अपेक्षाकृत परंपरावादी स्वामी दयानंद ने भी इस बात को मानते हुये कि वेद अभ्रान्त हैं कहा कि वेदों की व्याख्या समाज के आम व्यक्तियों के संदर्भ में और उन्हीं के द्वारा की जानी चाहिए पुजारी वर्ग द्वारा नहीं। दूसरे शब्दों में वेदों और मानवीय विवेक को स्वीकृति और मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। स्वामी दयानंद ने हिन्दू अंधविश्वास के विरुद्ध निरंतर विद्रोह का नेतृत्व किया।

11.6.2 सामाजिक सुधार के प्रति उनका दृष्टिकोण

धर्म और समाज के सुधारक अपने सुधारों के पक्ष में परम्परा की अपील करने के लिये उत्सुक थे और प्राय: दावा करते थे कि वे पुराने समय के शुद्ध विचारों और रीतियों को फिर से जीवित कर रहे हैं। बहुतों ने पुराने धर्म ग्रंथों के आधार पर यह दावा किया। लेकिन रोचकता का विषय यह है कि अतीत को नये विचारों को सहारा देने के लिये पुकारा गया था। सुधारों को अधिक रुचिकर बनाने के लिये परम्परा को अस्त्र बनाया गया लेकिन जब कभी और जहाँ किसी भी प्रस्तावित सुधार के साथ रीतियों का टकराव होता था, ये झूठे घोषित कर दिये जाते थे या उनका स्पष्ट विरोध कर दिया जाता था। जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है कि बुनियादी अपील अतीत के लिये न होकर मानवीय विवेक और सामाजिक सुविधा के लिये थी उदाहरण के लिये जस्टिस रानाडे ने लिखा है—"मृत और दफनाया हुआ या जला हुआ मृत, दफनाया और जला सब के लिये एक है और बीता हुआ अतीत पुनः जीवित नहीं हो सकता। उसी प्रकार गांधी जी का अस्पृश्यता का समूल अंत करने का आन्दोलन मानवतावाद तथा तर्क पर आधारित था। वे तर्क देते थे कि हिन्दू शास्त्रों में अस्पृश्यता का अनुमोदन नहीं किया गया है। उन्होंने घोषणा की कि यदि शास्त्र मनुष्य के महत्व के विरुद्ध जाता है तो उसे भुला देना चाहिए। उन्होंने कहा कि सच्चाई किताबों के जिल्द की सीमा में नहीं बाँधी जा सकती।

धार्मिक और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में उपलब्धियों के अलावा समाज सुधारकों ने देश प्रेम की भावना के विकास में योगदान दिया। इससे उनका आत्मविश्वास और साथ ही अपनी संस्कृति में भी विश्वास बढ़ा। यद्यपि अपने विकास के लिए वे आधुनिक विचारों और परिवर्तन के दौर से प्रभावित थे तथापि वे पश्चिम के अंधे अनुकरण के पक्ष में नहीं थे। यह उस भावना का एक अंश है जिसे प्रो॰ के॰ एन॰ पणिकर ने भारतीयों की संस्कृति और आदर्शों के उपनिवेशीकरण के विरुद्ध सांस्कृतिक रक्षा के रूप में दर्शाया है। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है:

उभरता हुआ मध्यम वर्ग धर्म की अपेक्षा राजनीति की ओर अधिक आकर्षित था, लेकिन वे कुछ ऐसी सांस्कृतिक जड़ें, कुछ ऐसा जो उन्हें उनके महत्व का आश्वासन देता रहे, कुछ ऐसा जो विदेशी विजय और शासन द्वारा उत्पन्न की हुई निराशा और दबे हुए अपमान को कम कर सके, अवश्य चाहते थे।

1920 के बाद बहुत से राष्ट्रवादियों और सुधारकों ने सत्याग्रह और जन आंदोलन की पद्धति को समाज एवं धार्मिक सुधार और समाज को लोकतांत्रिक बनाने के लिये संघर्ष हेतु अपनाया। इस के कारण उनका उपनिवेशिक शक्तियों के साथ टकराव

हुआ। इस प्रकार सुधार आंदोलन साम्राज्यवादी ताकतों से जूझते हुये साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में घुलमिल गया। इसके दो आरम्भिक उदाहरण हैं। पहला अकाली आंदोलन जो पंजाब में 1920 के आरम्भिक दौर में गुरुद्वारो ने सुधार के लिये चलाया गया था और दूसरा गांधी का संघर्ष जो 1920 और 1930 के प्रारम्भ में अस्पृश्यता के विरुद्ध चलाया गया था।

11.6.3 कार्य-पद्धतियाँ (Methods)

राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों और नेताओं ने यह देखा कि न केवल भारतीय संस्कृति का नवीनीकरण और आधुनिकीकरण होना चाहिए, बल्कि इसे लोकप्रिय बनाना भी आवश्यक है। इस उद्देश्य से एक ओर तो उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया ओर दूसरी ओर आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर भी ध्यान दिया।

यद्यपि प्रारम्भ में 1830 से 1860 तक उपनिवेशिक शक्तियों ने आधुनिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया लेकिन जब उन्होंने देखा कि नये शिक्षित भारतीयों में से बहुत से राष्ट्रवाद को अपना रहे हैं तब उन्होंने शीघ्र ही इस क्षेत्र में अपने कदम पीछे खींच लिये। अब भारतीयों ने अपने स्कूलों और कालेजों के विकास का कार्य स्वयं सम्भाला। स्वदेशी आंदोलन और असहयोग आंदोलन (1920-21) के दौरान राष्ट्रवादियों ने उपनिवेशिक ढांचे से बाहर एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति का आह्वान किया। इस समय हजारों राष्ट्रीय स्कूल और कालेज और बहुत से राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोले गए। लेकिन प्रमुखतः भारतीय भाषा प्रेस और साहित्य के द्वारा सांस्कृतिक जागृति और सांस्कृतिक संघर्ष आगे चलाया गया।

i) 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रवादियों और आधुनिक भारतीयों ने अपने सुधारवादी और राष्ट्रवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने के लिये भारतीय भाषाओं को साधन बनाया। इस कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिये भारतीय भाषाओं को सशक्त बनाया गया। उन्होंने प्राथमिक पुस्तकें (Primers) आदि को तैयार करने के कार्य संभाला। उदाहरण के लिये ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बंगाली में प्राथमिक पुस्तकें लिखीं, जिन्हें आज भी प्रयोग किया जाता है। 1860 से राष्ट्रवादी नेताओं ने कालेज की पाठ्य पुस्तकों की सूची में भारतीय भाषाओं को सम्मलित करने और शिक्षण व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण कार्य के लिये आंदोलन किया। वास्तव में जनसाधारण के बीच आधुनिक विचारों का प्रसार मुख्यतः भारतीय भाषाओं द्वारा ही हुआ। इस संबंध में सबसे बड़ी भूमिका प्रेस की थी। एक बार फिर मार्ग दिखाने का काम राजा राम मोहन राय ने किया उन्होंने जनता के बीच वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनैतिक ज्ञान का प्रसार करने के लिये बंगाली, फारसी, और हिन्दी में पत्रिकाएँ निकाली। महाराष्ट्र में यह भूमिका गोपाल हरिदेशमुख ने निभाई, जो लोकहितवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। 19 वीं शताब्दी में हजारों भारतीय भाषाओं के समाचारपत्र और पत्रिकाएँ प्रकाश में आयीं। इन्हें लाभकारी व्यवसाय के रूप में शुरू नहीं किया गया था बल्कि ये जनता के बीच फैलाने के विचार से सामाजिक सम्पर्क के लिये थे।

ऐसा शायद ही कोई प्रमुख आधुनिक भारतीय राजनैतिक या सामाजिक चिंतक होगा जिसने लोकप्रिय भारतीय भाषा प्रेस के लिये लिखा न हो। बंगाली में **'अमृत बाजार पत्रिका'**, **'सोमप्रकाश'** और **'संजीवनी'**; गुजराती में **'गुजराती समाचार'**, मराठी में **'इन्दु प्रकाश'**, **'ध्यान प्रकाश'**, **'केसरी'** और **'सुधारक'**; तमिल में **'स्वदेश मित्रन'**; तेलगु में **'आंध्र प्रकाशिका'** और **'आंध्र पत्रिका;'** मलयालम में **'मातृभूमि'**; हिन्दी में **'हिन्दी प्रदीप'**, **'हिन्दुस्तानी'** **'आज'** और **'प्रताप'** उर्दू में **'आजाद'**, **'अखबार-ए-आम'** और **'कोहिनूर'**; उड़िया में **'उत्कल दीपिका'** आदि उस समय के कुछ प्रमुख समाचार पत्र थे।

ii) भारतीय भाषाओं में आधुनिक साहित्य काव्य, नाटक, उपन्यास और छोटी छोटी कहानियों के रूप में था। लेखों के द्वारा सांस्कृतिक जागृति और देश प्रेम की भावनाओं को बढ़ाया गया। 19 वीं शताब्दी के मध्य से लगभग सभी भारतीय भाषाओं का साहित्यिक प्रवृत्ति की ओर जबरदस्त झुकाव हुआ। 1860 तक बंगाली में गीत और देश प्रेम की कवितायें और अन्य भाषाओं में भी ऐसे ही प्रकाशन सम्मुख आए। साहित्य के यह दो रूप 20 वीं शताब्दी के जन राजनैतिक आंदोलन को लामबंद करने का प्रमुख साधन बने। 19 वीं और 20 वीं शताब्दियों के दौरान लगभग, प्रत्येक भारतीय भाषा में महान कवियों का जन्म हुआ। बंगाली में रवीन्द्रनाथ टैगोर और क़ाज़ी नज़रूल इस्लाम, हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त, उर्दू में मुहम्मद इक़बाल, अल्ताफ़ हुसैन हाली और जौश मलीहाबादी, तमिल में सुब्रह्मण्य भारती, मलयालम में कुमारन आशान और वल्लतोल, असमिया में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ये सभी 19 वीं 20 वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख कवि थे।

राष्ट्रवादी नाटक लेखन 1860 में दीनबन्धु मित्र के 'नीलदर्पण' से शुरू हुआ। इसमें ब्रिटिश भूस्वामियों द्वारा किसानों के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार को दिखाया गया है। शक्तिशाली उपन्यासकार और छोटी छोटी कहानियों के लेखक भी उभर कर सामने आए जिन्होंने राष्ट्रवादी और सुधारवादी विषयों और भारतीय समाज में जातिवाद की कठोरता और स्त्रियों की दयनीय दशा आदि विषयों को अपने लेखन में अपनाया। बंकिमचन्द्र चटर्जी, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द कुछ ऐसे प्रमुख लेखकों में से हैं, जिनके उपन्यास और छोटी कहानियों का लगभग प्रत्येक भारतीय भाषा में अनुवाद और प्रकाशन हुआ है। लेखों के द्वारा भी भारतीय राष्ट्रवादियों और सुधारकों ने अपने विचारों का प्रसार किया। 19 वीं शताब्दी के प्रमुख लेखकों में गोपाल हरिदेशमुख, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर तथा वीरेशलिंगम थे। सांस्कृतिक जागृति संगीत, चित्रकला तथा अन्य कलाओं और बाद में फिल्मों में प्रदर्शित हुई।

जो व्यक्ति 60 वर्षों से भी अधिक समय तक भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य पर रहे वह थे रवीन्द्रनाथ टैगोर। उन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा — कविता, उपन्यास, छोटी कहानियों, नाटक और निबंध —, के क्षेत्र में योगदान दिया। बाद में वे चित्रकला की ओर भी उन्मुख हुए। वह स्वदेशी आंदोलन के प्रमुख प्रेरक व्यक्ति थे। 1919 में जलियाँवाला बाग हत्याकांड के विरोध में उन्होंने ब्रिटिश शासन द्वारा प्रदत्त नाइट (सर) की उपाधि त्याग दी। 1913 में उन्हें साहित्य के लिये नोबल पुरस्कार से

सम्मानित किया गया। उन्होंने भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये शांतिनिकेतन में विश्व भारती विश्वविद्यालय की स्थापना की।

बोध प्रश्न 4

1 निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही और कौन सा गलत है। सही पर (√) और गलत पर (×) का चिन्ह लगाइये।

क) धार्मिक सुधारकों ने हठधर्मिता (dogmatism) और अंधविश्वास को बढ़ावा दिया है ( )

ख) सती और बहुपत्नी विवाह पर समाज सुधारकों ने प्रहार किया ( )

ग) गांधी जी के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन था ( )

घ) राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास में भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों ने योगदान दिया ( )

ङ) 'नील दर्पण' नाटक में विदेश में रह रहे भारतीयों की दशा को दिखाया गया है ( )

2 समाज सुधारकों ने स्त्रियों के उद्धार से संबंधित किन मुद्दों को उठाया? पाँच पंक्तियों में उत्तर लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

11.7 सारांश

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय अधिक समय तक दासता को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। जब कि आंदोलन की असफलताओं से संघर्ष की कमजोरियाँ प्रमाणित हो गयीं। भारतीय मध्य वर्ग अखिल भारतीय स्तर पर उपनिवेश विरोधी चेतना पर आधारित एक नये संघर्ष को आरम्भ करने के लिये सामने आया। उपनिवेशिक शासन को दमनकारी नीतियों ने प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादियों के कार्यों में सहायता की। उन्होंने प्रेस और याचिकाओं के माध्यम से भी अभियान चलाया शीघ्र ही राष्ट्रवादी नेताओं के बीच एक ऐसा वर्ग उभरा जो संवैधानिक पद्धति को छोड़कर संघर्ष के अन्य साधन अपनाना चाहता था। उन्हें उग्रपंथी राष्ट्रवादियों के नाम से जाना जाता है।

अंग्रेजों की लगातार दमनकारी नीति और बंगाल के विभाजन ने, राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया मोड़ दिया। स्वदेशी आंदोलन ने, जो यद्यपि पूरी तरह जन आंदोलन नहीं बन पाया था, जनसाधारण को संघर्ष में लगाने की ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया। दूसरा नया कदम क्रांतिकारी आतंकवाद का उभरना था।

राष्ट्रीय आंदोलन का एक और पहलू भी था। तर्क और विवेक (Rationalism) और मानवतावाद (Humanism) से प्रभावित बहुत से सामाजिक और धार्मिक सुधारक भारतीय समाज की बुराइयों के विरुद्ध लड़े। भारत में नई जागृति की दिशा में प्रेस और साहित्य ने महत्पूर्ण योगदान दिया।

11.8 शब्दावली

हठधर्मिता (Dogmatism): किसी मत अथवा विचारधारा में ज़िद की हद तक आस्था रखना।

लामबंदी (Mobilisation): किसी राजनीतिक प्रयोजन विशेष के लिए लोगों को संगठित करना।

राष्ट्रीय चेतना (National Consciousness) किसी राष्ट्र के होने की भावना यह भावना दो तरह से विकसित हो सकती है — (क) संघर्ष तथा अपनी शक्तियों के विकास के माध्यम से तथा (ख) शिक्षा तथा राष्ट्रीय नेताओं द्वारा संगठित किये जाने पर।

राष्ट्रवाद (Nationalism): औपनिवेशिक शासन के विपरीत पनपी एक विचारधारा दूसरे यह अपने आपको उपनिवेशवाद के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विकल्प के रूप में प्रस्तुत करती है। यूरोप में इसका विकास एक सामूहिक बाजार की जरूरत के कारण हुआ था। इसके विपरीत भारत में इसका विकास औपनिवेशिक शासन का विकल्प खोजने की खास जरूरत के कारण हुआ।

अंधविश्वास (Superstition): अतार्किक विवेक शून्य विश्वास या सोचने का ढंग

विद्रोह: सत्ता के प्रति विरोध करना

जमींदार: गाँवों में जमीन के स्थायी धारक, जिसकी मालगुजारी (भू-राजस्व) का हिस्सा ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित होता था।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उपभाग 11.2.1 देखें

2 क) √
   ख) ×
   ग) ×
   घ) √

3 क) उदाहरण के लिए ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होल्कर, हैदराबाद के निजाम
   ख) झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, कुंवर सिंह तात्या टोपे

बोध प्रश्न 2

1 क) √
   ख) ×
   ग) ×
   घ) ×

2 उपभाग 11.3.3 देखें

बोध प्रश्न 3

1 उपभाग 11.4.1 और 11.4.2 देखें
2 उपभाग 11.4.1 देखें
3 उपभाग 11.5 देखें

बोध प्रश्न 4

1 क) ×
   ख) √
   ग) √
   घ) √
   ङ) ×

2 उपभाग 11.6.1 देखिए।

इकाई 12 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन-II

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 गांधी का प्रादुर्भाव
  12.2.1 सरकार की प्रतिक्रिया
  12.2.2 असहयोग और खिलाफत आंदोलन
  12.2.3 आंदोलन के बाद
12.3 सविनय अवज्ञा आंदोलन
12.4 क्रांतिकारी आंदोलन
12.5 स्वराज्य के सामाजिक-आर्थिक पहलू
  12.5.1 कम्युनिस्ट और समाजवादी गुटों का प्रादुर्भाव
  12.5.2 नेहरू की भूमिका
  12.5.3 कांग्रेस पर प्रभाव
12.6 किसान, मजदूर वर्ग और देशी रियासतों में जन-आंदोलन
  12.6.1 किसान आंदोलन
  12.6.2 मजदूर वर्ग का संघर्ष
  12.6.3 देशी रियासतों में आंदोलन
  12.6.4 अन्य आंदोलन
12.7 स्वतंत्रता की ओर
  12.7.1 कांग्रेस मंत्रिमंडल
  12.7.2 द्वितीय विश्वयुद्ध और भारत
  12.7.3 भारत छोड़ो आंदोलन
  12.7.4 स्वतंत्रता
12.8 सारांश
12.9 शब्दावली
12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन धीरे-धीरे एक जन-आंदोलन में विकसित हो रहा था। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि:

- भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर गांधी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।
- असहयोग, खिलाफत और सविनय अवज्ञा आंदोलन की विशिष्टताएँ क्या थी?
- स्वराज के सामाजिक, आर्थिक तत्व और किसानों व श्रमिक वर्ग के विभिन्न आंदोलनों को पूर्ण करने में नेतृत्व की क्या भूमिका थी?
- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विकास कैसे हुआ और अंत में किस प्रकार स्वतंत्रता मिली।

12.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने एक नए चरण में प्रवेश किया। गांधी के उद्भव के साथ ही जन आंदोलन का युग आरम्भ हुआ। स्वतंत्रता के आने तक तीन मुख्य जनआंदोलन हुए : असहयोग आंदोलन (1920-22) सविनय अवज्ञा (1930-34) और भारत छोड़ो (1942)। इन जन आंदोलनों के अलावा क्रांतिकारी आंदोलन, किसान और श्रमिक वर्ग के आंदोलन देसी रियासतों में जन आंदोलनों ने भी स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस काल में स्वराज्य के सामाजिक व आर्थिक तत्व पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी व कांग्रेस के अन्दर समाजवादी गुटों ने स्वतंत्रता संग्राम के महत्व के साथ साथ लोगों का आर्थिक शोषण से मुक्ति की ओर संकेत किया।

इस इकाई में ऊपर दिये गये पहलुओं को विभिन्न रूपों में देखा गया है जो कि अन्त में आपका परिचय कुछ विभिन्न घटनाओं से कराएँगे जिन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति में भूमिका अदा की।

12.2 गांधी का प्रादुर्भाव

राष्ट्रीय आंदोलन का तीसरा और अन्तिम चरण 1919 में शुरू हुआ। इस समय ही प्रसिद्ध जनआंदोलनों की शुरुआत हुई थी प्रथम विश्व युद्ध के दौरान संधि द्वारा मित्र राष्ट्रों— ब्रिट्रेन, फ्रांस व अमरीका ने घोषणा की कि विश्व युद्ध प्रजातंत्र की रक्षा और राष्ट्र के स्वनिर्धारण (Self-determination) के अधिकार के लिये लड़ा गया था। लेकिन अपनी विजय के बाद उन्होंने औपनिवेशिक शासन को समाप्त करने में कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई। भारतीयों ने न केवल युद्ध कार्यों में सहयोग दिया बल्कि इससे उत्पन्न कष्टों को सबसे अधिक भोगा भी था। उन्हें अपने लिये उचित पुरस्कार की आशा थी लेकिन उन्हें शीघ्र ही निराश होना पड़ा जबकि ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक सुधार के लिए केवल औपचारिक प्रयत्न ही किये। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक सत्ता से हटने की उनकी कोई इच्छा नहीं है। राष्ट्रीय संघर्ष का एक और दौर आवश्यक हो गया। ऐसे समय में एक नए नेता मोहन दास कर्मचंद गांधी ने नेतृत्व सम्भाला। गांधी ने अपने सामने पुराने नेतृत्व की मूल कमजोरियों को रखा और उन्हें हटाने की कोशिश की। उन्होंने संघर्ष का एक नया रूप असहयोग और एक नई संघर्ष प्रणाली-सत्याग्रह निकाली। ये केवल एक कार्यक्रम बन कर ही नहीं रह गयी बल्कि पूर्ण रूप से पर्याप्त क्रियात्मक रूप में सम्मुख आई। उन्होंने इसका प्रयोग पहले ही दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्ष के दौरान किया था। गांधी ने चम्पारन (बिहार) में किसानों की और अहमदाबाद (गुजरात) में मजदूरों की समस्याएँ उठाई। यह समय लगभग देश के विभिन्न भागों में महँगाई और महामारी का था। बहुत से भागों में किसानों को बगावत के प्रयत्नों के नाम पर शोषित किया गया। गांधी ने विश्व युद्ध के पश्चात् भारतीयों में बढ़ते हुए क्रोध व उग्रवादी भावनाओं की ओर ध्यान दिया। उन्होंने लोगों को संगठित किया और ऐसी युक्ति अपनाई, कि इस आंदोलन को एक जन-आंदोलन का आधार दे सके।

12.2.1 सरकार की प्रतिक्रिया

युद्ध के दौरान सरकार उग्रपंथियों का दमन करती रही। राष्ट्रवादी चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए सरकार ने और भी अधिक शक्ति का प्रयोग किया। मार्च 1919 में रौलट एक्ट पास किया गया (भारतीयों ने इसे काला कानून कहा)। इसके द्वारा सरकार बिना कारण बताए किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकती थी। इससे भारतीयों की भावनाओं को ठेस पहुँची। फरवरी 1919 मे सत्याग्रह सभा शुरू की गई। इसके सदस्यों ने कानून का उल्लघंन करके अपनी गिरफ्तारियाँ दीं। इस प्रकार गांधी ने राष्ट्रीय आंदोलन को केवल उत्तेजना पूर्ण विद्रोह न बनाकर राजनैतिक कार्यकलाप में जनसामान्य को शामिल करते हुए आंदोलन की ओर पहला कदम उठाया। इसके साथ ही उन्होंने कांग्रेस को किसानों व कारीगरों पर अधिक निर्भर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। खादी और हाथ से बने कपड़े का प्रयोग उन्हें नए ढंग से महत्व देने का प्रतीक था।

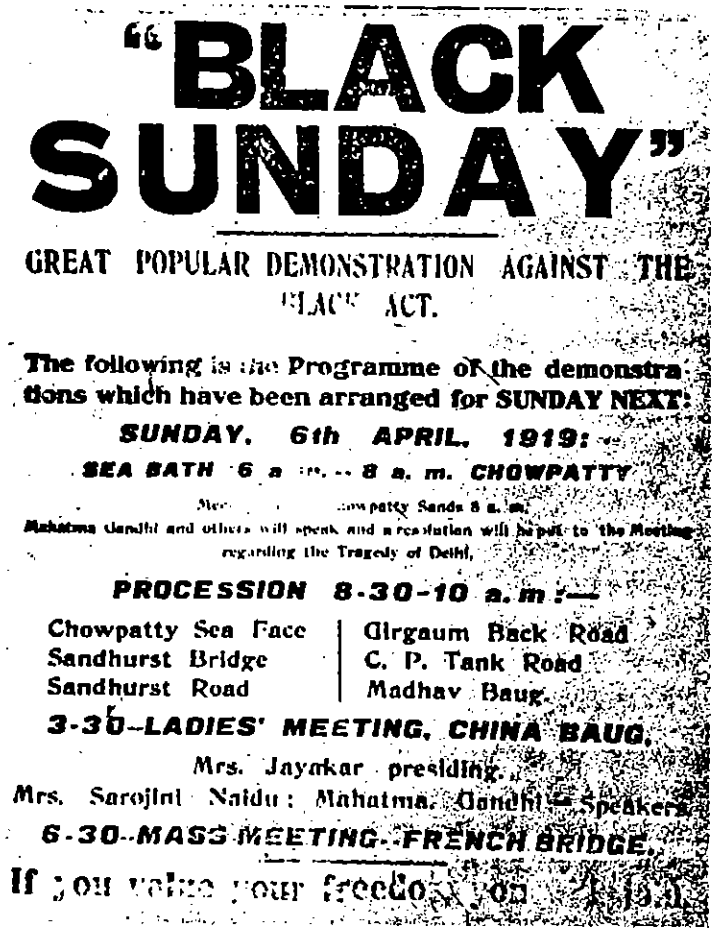

"BLACK SUNDAY"

GREAT POPULAR DEMONSTRATION AGAINST THE BLACK ACT.

The following is the Programme of the demonstrations which have been arranged for SUNDAY NEXT:

SUNDAY, 6th APRIL, 1919:

SEA BATH 6 a. m. — 8 a. m. CHOWPATTY

Meeting at Chowpatty Sands 8 a. m.

Mahatma Gandhi and others will speak and a resolution will be put to the Meeting regarding the Tragedy of Delhi.

PROCESSION 8-30-10 a. m.:—

Chowpatty Sea Face	Girgaum Back Road
Sandhurst Bridge	C. P. Tank Road
Sandhurst Road	Madhav Baug.

3-30—LADIES' MEETING, CHINA BAUG.

Mrs. Jayakar presiding.

Mrs. Sarojini Naidu: Mahatma Gandhi — Speakers.

6-30—MASS MEETING, FRENCH BRIDGE.

If you value your freedom [illegible]

10. रॉलेट एक्ट के विरोध में एक पैम्फलेट

अगले दो महीनों में लगभग पूरा देश जागृत हो उठा। हड़ताल, जलूस और प्रदर्शन प्रतिदिन की गतिविधि बन गए। इस समय अमृतसर में जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ। 13 अप्रैल 1919 में ब्रिटिश सेना की एक टुकड़ी ने बाग में शांतिपूर्ण जनसमूह पर राइफलों और मशीनगनों से गोलियाँ चलाई। इसमें हजारों की संख्या में लोगों की मृत्यु हुई और घायल हुए। सारे देश में आतंक की लहर फैल गई। उपनिवेशवाद की निर्दयता एक बार फिर उभर कर सामने आई।

इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार ने तुर्की से युद्ध के बाद उस युद्धकालीन संधि को तोड़ दिया, जिसमें उसने तुर्की से युद्ध के बाद नर्मी का व्यवहार करने का वचन दिया था। तुर्की के सुल्तान जिसे खलीफा या मुसलमानों का धार्मिक नेता भी माना जाता था, उसके नियंत्रण को भी ठुकरा दिया, जिसके कारण भारतीय मुसलमानों में बहुत असंतोष फैल गया।

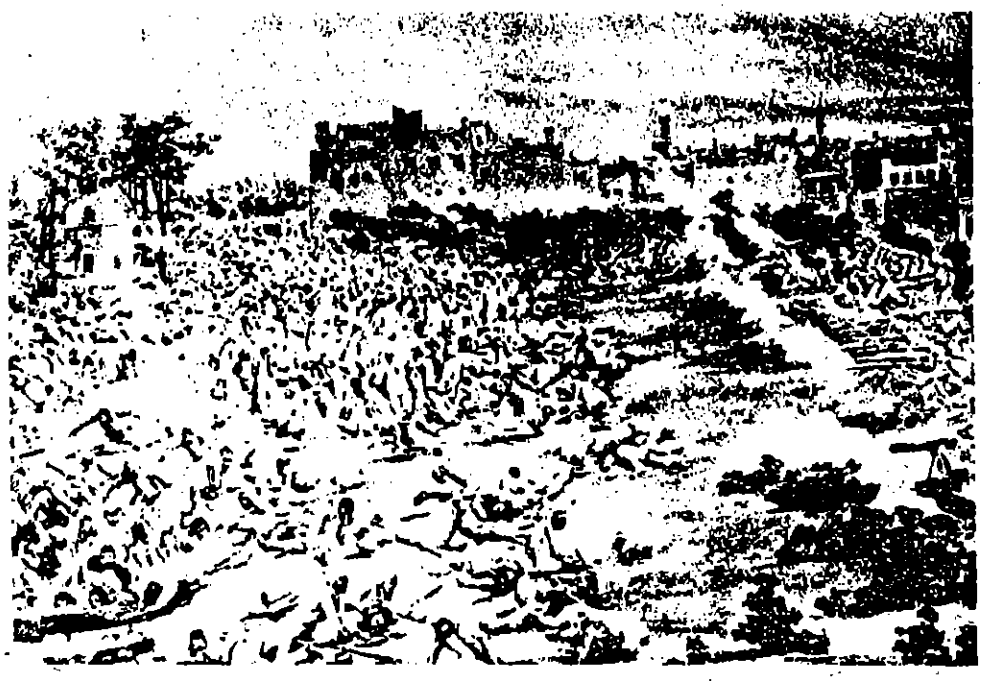

11. जालियाँवाला बाग हत्याकांड का एक दृश्य

12.2.2 असहयोग और खिलाफत आंदोलन

सितम्बर 1920 में गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस ने अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन शुरू करने का निर्णय किया जिसे पंजाब और खिलाफत की गलतियों को हटाने और स्वराज्य के स्थापित होने तक चालू रखना था। गांधी ने "एक वर्ष में स्वराज" का नारा दिया। जनता से सरकारी मान्यता प्राप्त स्कूलों, कालेजों, अदालतों, विधानसभाओं और विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने के लिए कहा गया। सरकार द्वारा प्राप्त उपाधियों और सम्मानों को त्याग दिया गया। बाद में यह कार्यक्रम सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने और जन असहयोग के साथ साथ कर न देने तक बढ़ा दिया जाना था। राष्ट्रीय स्कूलों व कालेजों की स्थापना की गई। जनता से चर्खा चलाने, खादी बनाने और अस्पृश्यता त्यागने और हिन्दू मुस्लिम एकता बनाए रखने की अपील की गई। अब प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की स्थापना भाषा के आधार पर होनी थी। कांग्रेस संगठनों को ग्रामीण स्तर तक पहुँचना था। अतः इसका सदस्यता शुल्क घटा कर चार आना (आज का पच्चीस पैसा) प्रतिवर्ष की दर से कर दिया गया, जिससे ग्रामीण और शहरी गरीब व्यक्ति इसके सदस्य बन सकें।?

पहले जन-आंदोलन (1920 से 1922 के दौरान) ने आशातीत विस्तार पाया। लाखों विद्यार्थियों ने स्कूल और कालेज छोड़ दिये। कई सौ वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। अधिकांश मतदाताओं ने विधानसभाओं के चुनाव में भाग लेने से इनकार कर दिया। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार जन-आंदोलन का प्रतीक बन गया। विदेशी कपड़ों की हजारों होलियों की लपटे भारतीय आकाश में उठने लगीं। विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरने दिए गए। कई जगहों पर कारखानों के मजदूर व किसान आगे थे।

परन्तु गांधी संतुष्ट नहीं थे। पाँच फरवरी चौरी चौरा कांड हुआ। पुलिस ने 3000 किसानों के कांग्रेसी जलूस पर गोली चलाई। इसकी प्रतिक्रिया में कुद्ध भीड़ ने पुलिस स्टेशन जला दिया इसमें 22 सिपाही मरे। गांधी ने इस घटना को बहुत गंभीरता पूर्वक लिया। गांधी ने 12 फरवरी 1922 को यह सोच कर कि जनता अभी अहिंसा में प्रशिक्षित नहीं हुई है, पूरे आंदोलन को वापिस ले लिया। हालाँकि आंदोलन के दूरगामी परिणाम निकले :

i) यह पहली बार लाखों किसानों और शहरी गरीबों को राष्ट्रीयता के दायरे में लाया। वास्तव में, भारतीय समाज के सभी वर्गों का जैसे किसान, मजदूर, कारीगर, दुकानदार, व्यापारी, वकील, डाक्टर, और अन्य व्यवसायियों ने सम्मिलित रूप से

राजनीति में हिस्सा लिया। महिलाएँ भी आंदोलन मे उतर आयी। आंदोलन देश के पिछड़े से पिछड़े कोने तक पहुँच गया। वास्तव में, गांधी ने सारी राजनीति का आधार उग्रवाद और जनता के आत्मबलिदान को बनाया। वे इन वर्गों को राष्ट्रीय संग्राम में लाए। उन्होंने इसे जन-आंदोलन में परिवर्तित कर दिया।

ii) भारतीय निडर हो गए। उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति का भय नहीं था जैसा कि नेहरू ने बाद में कहा कि — "गांधी ने भारतीयों को अपने पैरों पर खड़े होना सिखाया"।

इस संबंध में यह समझना आवश्यक है कि गांधी के लिए अहिंसा कमजोरों और कायरों का अस्त्र नहीं था। इसका प्रयोग केवल शक्तिशाली कर सकते थे। गांधी ने दोहराया कि वे हिंसा को कायरता से अधिक महत्व देंगे। 1920 में लिखा कि—"जहाँ पर कायरता और हिंसा के बीच चुनाव का प्रश्न है मैं हिंसा की सलाह दूँगा..... मैं भारत को उसके आदर की रक्षा के लिए शस्त्र लेने दूँगा। बजाए इसके कि वह अपने ही अनादर के लिए एक असहाय उदाहरण बन कर रह जाए"।

असहयोग आंदोलन का सबसे प्रमुख गुण भारतीयों में अत्यधिक आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जगाना था। भारतीयों ने उपनिवेश शासन के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया। लड़ाई में अस्थायी रूप से पिछड़ना जनता को उनके लक्ष्य की ओर बढ़ने से नहीं हटा सका। जैसा कि 23 फरवरी 1922 को आंदोलन वापस लेने के बाद गांधी ने लिखा कि— "यह ब्रिटिश लोगों को बतलाने के लिए उपयुक्त समय था कि जो संघर्ष 1920 में शुरू हुआ वह निर्णायक संघर्ष है, चाहे वह एक महीने या एक वर्ष चले चाहे कई महीनों या कई वर्ष तक और ब्रिटेन के प्रतिनिधि चाहे गदर के समय को अवर्णीय मनोरंजन अत्याचार को पुनः दोहरी शक्ति के साथ लागू करे अथवा नहीं"।

12.2.3 आंदोलन के बाद

असहयोग आंदोलन को वापस लेने के बाद सी. आर. दास और मोती लाल नेहरू जैसे नेताओं ने स्वराज पार्टी का गठन किया। इन का विश्वास था कि वे अंग्रेजों से विधानसभा में मुकाबला कर सकेंगे। स्वराज पार्टी के लोग चुनाव लड़े। उन्होंने विजय प्राप्त की और बहुत सी प्रान्तीय विधानसभाओं के सफलतापूर्वक चल रहे कामों में बाधा डाली।

नवम्बर 1927 में अंग्रेजों ने संवैधानिक पहलुओं की देखभाल के लिये "साइमन कमीशन" की नियुक्ति की घोषणा की। इस कमीशन के सदस्य अंग्रेज ही थे। भारतीयों ने इसे अपना अपमान समझा। भारत आने पर कमीशन का बहिष्कार किया गया। पूरे देश में "साइमन वापस जाओ" के नारे लगा कर प्रदर्शन किये गये। असहयोग के समय के दृश्य फिर से प्रकट होने लगे। सरकार ने प्रदर्शनों का गोली और डंडों से सामना किया। लाला लाजपत राय को लाहौर में पुलिस की लाठी चार्ज से चोट आई जो कि उनकी मृत्यु का कारण बनी।

POONA AVENGES INSULT TO INDIA

HOT "RECEPTION" OF SIMON SEVEN.

COMPLETE HARTAL IN THE CITY.

Miles of Black Flags Greet Unwelcome Guests.

YOUTHS' SPLENDID RALLY

Maharashtra Upholds Lokmanya's raditon

12. साइमन कमीशन का विरोध

बोध प्रश्न 1

निम्नलिखित कथनों पर सही (√) या गलत (×) के चिह्न लगाएँ।

क) गांधी ने अपने विभाग में पुराने नेतृत्व की मूल कमजोरियों का रखा और उन्हें हटाने की कोशिश की।

ख) भारतीय जनता ने रौलट एक्ट (Roulatt Act) का स्वागत किया है।

ग) खिलाफत का उद्देश्य अंग्रेजों द्वारा तुर्की के प्रति किए गए अन्याय को दूर करना था।

घ) कांग्रेस ने प्रांतीय समितियों का भाषा के आधार पर गठन स्वीकार नहीं किया।

2 असहयोग आंदोलन के व्यापक परिणामों के विषय में लगभग दस पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.3 सविनय अवज्ञा आंदोलन

1928-29 के दौरान देश भर में राजनीतिक आन्दोलन में एक नवीन उत्साह देखने को मिला। युवा जवाहरलाल 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष बने। यहाँ पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया। यह तय किया गया कि 26 जनवरी 1930 के दिन तिरंगा फहरा कर स्वतंत्रता दिवस मनाया जाएगा और इसी दिन लोग यह शपथ भी लेंगे कि विदेशी शासन के सम्मुख अब और आगे झुकना ईश्वर और मानवता के प्रति एक अपराध होगा।

12 मार्च 1930 को गांधी के प्रसिद्ध डांडी मार्च के साथ कांग्रेस ने दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया। फलस्वरूप लाखों भारतीयों ने गैर कानूनी नमक बनाकर और उसे बेच कर नमक कानून तोड़ा। हजारों व्यक्तियों ने हड़ताल, जलूस और विदेशी माल और शराब के बहिष्कार में भाग लिया। देश के कई भागों में किसानों ने भू-राजस्व और लगान देने से इनकार कर दिया। जिसके कारण इनकी जमीनें छीन ली गई। इस आंदोलन में महिलाओं का भाग लेना एक महत्वपूर्ण घटना थी। आंदोलन उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के पठानों और उत्तर पूर्वी भारत में नागालैंड व मणिपुर में फैल गया। 24 अप्रैल से 9 मई तक पेशावर में ब्रिटिश शासन नहीं रहा। मार्च 1931 में गांधी और इरविन के अल्पकालिक समझौते पर हस्ताक्षर हुये। लेकिन 1932 के आरम्भ में संघर्ष फिर से शुरू हुआ। कोई भी जन-आंदोलन हमेशा नहीं चल सकता अतः संघर्ष धीरे-धीरे कम होने लगा और 1934 के मध्य में वापस लेना पड़ा। इस बीच गोलमेज कान्फ्रेंस, जो कि ब्रिटिशों ने लंदन में बुलाई थी, भारत में कोई भी राजनैतिक स्तर पाने में असफल रही।

13. सत्याग्रही दल (प्रतापगढ़, जून 1930)

12.4 क्रांतिकारी आंदोलन

बीसवीं शताब्दी में स्वेदशी आंदोलन और असहयोग आंदोलन वापस लेने के उपरान्त एक राजनैतिक गतिविधि के रूप में क्रांतिकारी आतंकवाद (Revolutionary Terrorism) का प्रादुर्भाव हुआ इसका अनुसरण अत्याधिक प्रेरित राष्ट्रवादी युवा पीढ़ी ने किया। युवा पीढ़ी को प्रमुख राजनैतिक गुटों की गतिविधियों के संबंध में मोहभंग हुआ और उत्साह से भरपूर और भारत की स्वाधीनता के प्रति समर्पित इन युवाओं ने सरकारी कार्यालयों, सम्पत्ति और अधिकारियों के विरुद्ध हिंसात्मक कदम उठाये।

क्रांतिकारी आतंकवाद के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण किसी भी समय या तो किसी प्रमुख राजनैतिक आंदोलन के शिथिल होने या वापस लेने के कारण हुई राजनैतिक शून्यता था। 1924 में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन की स्थापना से क्रांतिकारी आंदोलन को एक संगठित रूप मिला। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का उद्देश्य सशस्त्र क्रांति करना था। सरकार ने तुरन्त दमन का रुख अपनाया। अतः एच० आर० ए० के बहुत से कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और 1925 में प्रसिद्ध काकोरी षडयन्त्र के मुकदमे में जाँच की गई। 1928 में समाजवादी विचारों के प्रभाव के कारण इस संगठन का नाम बदल कर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोसियेशन रख दिया गया। चन्द्रशेखर आजाद, जिसके नाम से आप सभी भली भाँति परिचित हैं, इस संगठन के नेता थे। 1920 के दशक में भगतसिंह, राजगुरू, रामप्रसाद बिसमिल, सुखदेव और बटुकेश्वर दत्त क्रांतिकारी गतिविधियों के अग्रणी कार्यकर्ता थे।

14. भगत सिंह

क्रांतिकारी आतंकवाद में दूरदर्शिता का अभाव था। यद्यपि इसका अटूट देश प्रेम असंदिग्ध था और राज्य साधनों को विचलित करने के योग्य था। लेकिन यह बहुत कम समय तक चला और सरकार ने इसका दमन कर दिया।

यद्यपि इन क्रांतिकारियों को पराजित और दमन किया गया परन्तु राष्ट्रीयता के लिये इन का लक्ष्य महत्वहीन नहीं था। युवाओं के लिये ये प्रेरणास्रोत थे। उनके बलिदान की कहानियों ने राष्ट्रीयता की लौ को जलाये रखने में सहायता की।

12.5 स्वराज्य के सामाजिक-आर्थिक पहलू

आरम्भ से ही राष्ट्रीय आंदोलन का झुकाव जनता की ओर या गरीब व्यक्तियों की ओर था। भारतीय जनता की गरीबी की समस्या के कारण ही नरमपंथियों ने उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना की ओर आर्थिक प्रश्नों पर आंदोलन किये। इस समस्या के समाधान के लिये उन्होंने औद्योगिक विकास और कर पद्धति में सुधार को अपना कार्यक्रम बनाया। वास्तव में उनका आर्थिक सुधार संबंधी कार्यक्रम समकालीन नियमों में पूरी तरह मौलिक था। आंदोलन में गांधी के मुख्य नेता के रूप में उभरने और 1917 की रूसी क्रान्ति के प्रभाव के फलस्वरूप गरीबों की स्थिति और भी मजबूत हो गयी। 1919 के बाद कांग्रेस में एक शक्तिशाली वामपक्षीय वर्ग के उदय के साथ आंदोलन अधिक उग्र रूप लेने लगा। वामपक्षी दल ने अपनी राजनीति का साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष तक ही सीमित नहीं रक्खा बल्कि इसने आन्तरिक वर्गीय दमन के प्रश्न को भी उठाया।

12.5.1 कम्युनिस्ट और समाजवादी गुटों का प्रादुर्भाव

1920 के दशक में भारतीय युवा वर्ग का उग्रवादी रूप तथा कम्युनिस्ट और समाजवादी वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ। 1928 के बाद पूरे देश में छात्रों व युवा संस्थाओं को संगठित किया गया। 1928 और 1929 के दौरान हजारों युवा सम्मेलन आयोजित हुये। इसके अतिरिक्त भारतीय युवाओं ने समाजवादी विचारों को अधिक से अधिक अपनाया। चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह के नेतृत्व में क्रन्तिकारी आतंकवादियों ने अपने संगठन का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन ऐसोसियेशन से बदल कर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोसियेशन रखा। भगतसिंह ने अपने एक अन्तिम पत्र में लिखा था—"किसान न केवल अपने को विदेशी दासता से बल्कि जमींदार और पूँजीपतियों की दासता से भी मुक्त करें"। 1930 में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण समाजवादी विचार और भी अधिक लोकप्रिय हो गये। 1935 के बाद पी. सी. जोशी के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी पुनः संगठित की गई और आचार्य नरेन्द्रदेव और जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन किया गया। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के मध्य में कांग्रेस के वामपंथी नेता के रूप में सुभाषचन्द्र बोस का उदय हुआ।

12.5.2 नेहरू की भूमिका

1929 के बाद भारत में जवाहर लाल नेहरू समाजवाद और समाजवादी विचारों के प्रतीक बने। उनका नाम इस विचार के साथ जोड़ा जाने लगा कि 1929 में जवाहरलाल नेहरू ऐतिहासिक लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष बने। 1936 और 1937 में वे पुनः इस पद के लिये चुने गये। कांग्रेस के सभापति और गांधी के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के सबसे अधिक लोकप्रिय नेता की हैसियत से नेहरू ने कई बार देश का दौरा किया। वे हजारों मील पैदल चले और लाखों लोगों को सम्बोधित किया। नेहरू ने अपने अध्यक्षीय तथा अन्य भाषणों के द्वारा समाजवादी विचारों का प्रचार किया और घोषणा की कि राजनैतिक स्वतंत्रता तभी लाभकारी है जब वह जनसाधारण को आर्थिक मुक्ति की ओर ले जाये और इसके लिये समाजवादी समाज की स्थापना की जानी चाहिए।

15. जवाहरलाल नेहरु

1929 के लाहौर सत्र में ही नेहरू अपने समाजवाद के प्रति अपनी वचनबद्धता की घोषणा कर चुके थे—"मैं समाजवादी और लोकतांत्रिक हूँ और राजाओं, राजकुमारों में विश्वास करने वाला नहीं हूँ। उस व्यवस्था को भी नहीं मानता जिसने उद्योग के आधुनिक राजाओं को उत्पन्न किया है, जो लोगों के जीवन और भाग्य पर पुराने राजाओं से भी अधिक अधिकार रखते हैं और जिन के तरीके पुरानी सामन्तवादी व्यवस्था से भी अधिक लूटमार के हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि केवल समाजवादी कार्यक्रम के द्वारा ही भारत की गरीबी और असमानता को दूर किया जा सकता है।

नेहरू के समाजवादी विचार 1933-36 के दौरान और भी स्पष्ट और तीव्र हुए। अक्तूबर 1933 में भारत के लक्ष्य की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा—"वास्तव में मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक समानता का लक्ष्य राष्ट्र का राष्ट्र द्वारा, वर्ग का वर्ग द्वारा शोषण समाप्त करना है।" और दिसम्बर 1933 में उन्होंने लिखा—"सच्चा आदर्श समाजवादी आदर्श, कम्युनिस्ट आदर्श है।" 1936 में हुई लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में नेहरू के समाजवाद के प्रति अपनी वचनबद्धता को और भी स्पष्ट और निश्चित शब्दों में व्यक्त किया। "मुझे विश्वास है कि संसार की समस्याओं और भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद के द्वारा ही हो सकता है—इसका अर्थ है अधिकांश व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त और वर्तमान लाभ व्यवस्था के आने पर सहकारिता के ऊँचे आदर्श को अपना कर—मैंने देखा कि भारतीय जनता की गरीबी, फैली हुई अधिक बेरोजगारी, निम्न दशा और परवशता को समाप्त करने के लिए समाजवाद के अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है।"

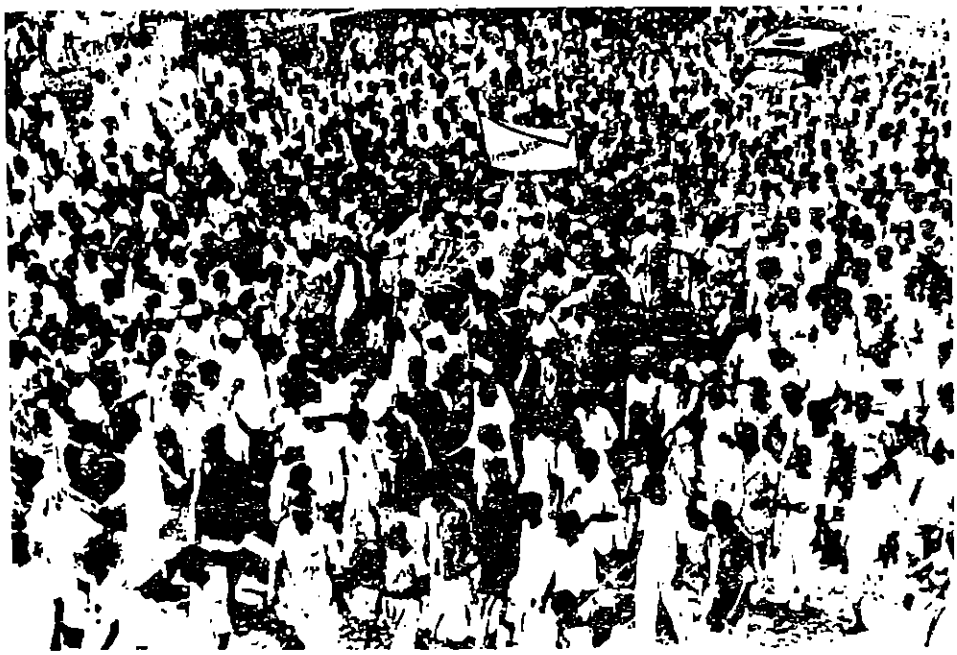

16. कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं का जलूस (लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन 1936)

12.5.3 कांग्रेस पर प्रभाव

देश में उग्र सुधारवादी शक्तियों का विकास शीघ्र ही कांग्रेस के कार्यक्रम और नीतियों में झलकने लगा। नेहरू के प्रोत्साहन पर कांग्रेस के कराँची अधिवेशन में मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव का पास होना परंपरा से हटकर पहला कदम था। प्रस्ताव में घोषणा की गई कि—"जनता के शोषण का अन्त करने के लिये, राजनैतिक स्वतंत्रता में भुखमरी से प्रभावित लाखों व्यक्तियों को सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।" संकल्प में लोगों को निम्न मूल नागरिक अधिकारों की गारंटी दी गई थी :

- बिना किसी जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के कानून की दृष्टि में समानता
- सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार चुनाव और निःशुल्क अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा संकल्प में आगे निम्न बातों के लिए आश्वासन दिया गया
- भूमि के लगान और राजस्व में भारी कटौती
- अनुत्पादक भूमि (Uneconomic Holding) पर लगान से छूट
- कृषि संबंधी ऋण से राहत और ब्याज पर प्रतिबंध
- कामगारों के लिए उचित मजदूरी के साथ-साथ बेहतर काम की दशा, कार्य के सीमित घंटे और स्त्री कामगारों की सुरक्षा का प्रबंध
- कामगारों और किसानों को यूनियन बनाने और संगठित होने का अधिकार
- मुख्य उद्योगों, खानों और यातायात के साधनों पर राज्य का अधिकार।

कांग्रेस का यह उग्र सुधारवादी रूप फैजपुर कांग्रेस के संकल्प और 1936 की चुनाव घोषणा पत्र में मौलिक सिद्धान्त कांग्रेस में फिर दिखायी दिया जिसमें आश्वासन दिया गया कि:

- भूमि संबंधी व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन।
- भूमि के लगान और राजस्व में भारी कमी।
- ग्रामीण ऋणों में कटौती और सस्ते ऋण की व्यवस्था।
- जमींदारी उगाहियों (Feudal levies) का अन्त।
- कृषि मजदूरों के लिये उचित मजदूरी।
- ट्रेड यूनियन और किसान यूनियन संगठित करने और हड़ताल करने का अधिकार।

1945 में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रस्ताव पारित किया।

1938 में सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में, कांग्रेस ने आर्थिक कमेटी में विश्वास व्यक्त किया और जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेशनल प्लानिंग कमेटी (National Planning Committee) की स्थापना की। नहेरू तथा अन्य वामपंथियों एवं गांधी ने भी धन के केन्द्रीकरण को रोकने के लिये बड़े उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का प्रस्ताव रखा। वास्तव में 1930 के दशक की मुख्य सफलता गांधी द्वारा उग्र (Radical) आर्थिक नीतियों को निरंतर स्वीकृति थी। 1933 में वे नेहरू के इस विचार से सहमत हुए कि—"निहित स्वार्थों को हटाये बिना जन-साधारण की दशा में कभी भी सुधार नहीं हो सकता।" उन्होंने इस सिद्धान्त को भी स्वीकार किया कि जमीन उसी की है, जो इसे जोतता है। 1942 में उन्होंने घोषणा की कि "जमीन उन लोगों की है, जो उस पर कार्य करते हैं और किसी की नहीं।"

1885 में अपने जन्म से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हित के लिए दूसरे देशों को जीतने और दमन के लिये भारतीय सेना के प्रयोग का विरोध किया था। इससे धीरे-धीरे साम्राज्यवाद विरोधी नीति का विकास हुआ और एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय आंदोलनों को बहुत सहारा मिला। 1930 में नेहरू के नेतृत्व में इसने अधिक सक्रिय विदेश नीति को अपनाया। कांग्रेस तीव्र फासिस्ट विरोधी सिद्धांतों पर दृढ़ रही इसने इटली, जर्मनी तथा जापान के फासिस्टी आक्रमण के विरुद्ध इथोपिया, स्पेन, चेकोस्लोवाकिया और चीन की जनता का समर्थन किया। इससे स्पष्ट हो गया कि साम्राज्यवाद और फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष संसार भर का मिला-जुला संघर्ष है।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित कथनों पर सही (✓) या गलत (✗) के चिह्न लगाएँ:

क) महिलाओं ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई।

ख) समाजवादी विचारों के प्रभाव से हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन दल हिन्दुस्तान रिपब्लिकन दल में परिवर्तित हो गया।

ग) नेहरू ने समाजवाद को भारतीय जनता की गरीबी के निदान के रूप में प्रस्तुत किया।

घ) कांग्रेस ने अंग्रेजों द्वारा दूसरे देशों को जीतने के लिए भारतीय सेना के उपयोग का विरोध नहीं किया।

2 करांची संकल्प से मूल तत्वों के बारे मे बताइए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.6 किसान, मजदूर वर्ग और देशी रियासतों में जन-आंदोलन

राष्ट्रीय आंदोलन ने किसानों और मजदूरों की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया। 1917 के बाद ये लोग स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लेने लगे। समाजवादी विचारधारा ने भी किसानों और मजदूर वर्ग पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने अपनी आर्थिक व सामाजिक शिकायतों को स्वतंत्रता संग्राम के साथ जोड़ दिया। इसी प्रकार भारत की देशी रियासतों में भी जन-आंदोलन उभरा।

12.6.1 किसान आंदोलन

ब्रिटिश, साहूकार और जमींदारों के दमन के विरुद्ध आवाज उठाने में भारतीय किसानों का एक लम्बा इतिहास है। राष्ट्रीय आंदोलन ने इस किसान आंदोलन को एक नई गतिविधि और स्वतंत्रता संग्राम की मुख्य धारा से जोड़ दिया।

देश के विभिन्न भागों में कृषि संबंधों और समस्याओं के भिन्न होने पर भी, कुछ ऐसी सामान्य समस्याएँ थी जो हर क्षेत्र में प्रचलित थीं, कुछ प्रमुख निम्न प्रकार थीं:

- अधिक भू-राजस्व की माँग
- अत्यधिक भाड़ा
- बंधुआ मजदूर व आपूर्ति
- कृषि भूमि से बेदखली और असुरक्षित पट्टा व्यवस्था
- कृषि मजदूरी का कम होना
- ऋण का बोझ

अपनी गतिविधियों के अतिरिक्त, किसानों ने कांग्रेस से भी सहयोग की अपेक्षा की। यहाँ हम संक्षेप में कुछ किसान आंदोलनों का वर्णन करेंगे।

1 चम्पारन

चम्पारन में यूरोपीय भूस्वामी किसानों से जबरदस्ती नील की खेती कराते थे। किसान मालिकों की हर मनमानी को सहन करते थे। इस व्यवस्था से बरबाद एक किसान राजकुमार सुकुल ने नील किसानों के विषय को उठाया। वह 1916 में लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गये और कांग्रेस मंच पर चम्पारन के किसानों की दशा के विषय में बोले। राजकुमार सुकुल ही 1917 मे गांधी को किसानों की दशा दिखाने के लिये चम्पारन लाये थे। एक आंदोलन शुरू किया गया और अंततः सरकार को किसानों की कुछ माँगे माननी पड़ी।

2 अवध

अवध में किसानों की अपनी जमीन पर अधिकार बनाये रखने की कोई सुरक्षा नहीं थी और उन्हें अपनी जमीन को पाने और कब्जे में रखने के लिये नजराना (विशेष भेंट) देना पड़ता था। जमींदारों ने बँधुआ मजदूरी, रसद (जबरदस्ती आपूर्ति) और कई अन्य प्रकार के कर भी लागू कर दिये थे। 1918 के दौरान कई किसान सभाओं (किसान परिषद्) का गठन किया गया। बाबा रामचंद्र ने, जो फिजी में प्रवासी मजदूर रह चुके थे — किसानों को इकट्ठा करके एक मजबूत आंदोलन चलाया। जून 1920 में उन्होंने 500 किसानों के साथ गांधी जी का ध्यान आकर्षित करने के लिये इलाहाबाद की ओर प्रस्थान किया। दिसम्बर 1920 में अवध में एक विशाल किसान सभा हुई। किसानों के रहने के लिये मंदिर व मस्जिद खोल दिये गये। जनवरी 1921 में अवध में विशाल किसान विद्रोह हुआ। बहुत से गाँवों में किसानों ने "स्वराज्य" की स्थापना की। सरकार ने विद्रोह का कठोरता से दमन किया। पुलिस की गोली से कई किसानों की मृत्यु हुई। राय बरेली जिले के मुंशीगंज में हुये किसानों के खून-खराबे से पूरे देश में क्रोध की लहर फैल गयी। सरकार को विवश होकर 1922 में "अवध रेन्ट एमेंडमेंट एक्ट" पास करना पड़ा। इस आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि इस काल में जवाहर लाल नेहरू ने किसानों की कठिनाइयों को महसूस किया और उनकी समस्याओं का नेतृत्व किया।

17. बाबा रामचन्द्र

3 मालाबार

लगभग उसी समय मालाबार (अब केरल में) के किसानों में भी विद्रोह भड़क उठा। यहाँ भी मोपला (Moplah) के किसानों ने असुरक्षा, ऊँची लगान दर और अवैध ऋणों की शिकायत की। असहयोग व खिलाफत आंदोलन का एक भाग बन जाने के कारण किसान विद्रोह बड़े पैमाने पर फैल गया। विद्रोह ने शीघ्र ही हिंसात्मक रूप ले लिया। किसानों ने सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों और पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण किये, रिकार्ड जलाये, खजाने लूटे, दमनकारी जमींदारों पर आक्रमण किये। दुर्भाग्य से सरकार इस विद्रोह को साम्प्रदायिक मोड़ देने और दबाने में सफल हुई।

4 आंध्र

ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाये गये इन नियमों के कारण देशभर की जन-जातियों में असंतोष उत्पन्न हो गया। अल्लूरी सीताराम राजू ने असहयोग आंदोलन से प्रेरित होकर आंध्र के "रम्पा" क्षेत्र में जन-जातियों को संगठित करना शुरू किया। ग्राम पंचायतें शुरू की गईं और शराब-विरोधी व्यापक प्रचार शुरू कर दिया गया। राजू गांधी का बहुत सम्मान करते थे लेकिन उनका मानना था कि अंग्रेजों को हटाने के लिये हिंसा आवश्यक है। आंदोलन ने शीघ्र ही हिंसक मोड़ ले लिया। पुलिस स्टेशनों पर छापे

मारे गये। सेना और राजू के सहयोगियों के बीच छापामार (गुरिल्ला) संघर्ष हुआ। अंत में अंग्रेजों ने राजू को कैद करके मार डाला। अभी तक राजू की वीरता और साहस को इस क्षेत्र में बड़े सम्मान के साथ याद किया जाता है।

5 बारदोली

1928 में वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में गुजरात के बारदोली ताल्लुका के किसानों ने सरकार के तीस प्रतिशत भू-कर बढ़ाने के विरुद्ध कोई कर न देने का आंदोलन संगठित किया। किसानों का मत था कि सरकार कर के बढ़ाये जाने की जाँच के लिये एक स्वतंत्र ट्राइबुनल (Tribunal) नियुक्त करे। किसानों ने बढ़े हुये कर चुकाने से इनकार कर दिया और सरकार द्वारा उन्हें रोकने के सभी प्रयासों को असफल कर दिया। सरकारी कर्मचारियों का पूरी तरह बहिष्कार किया गया और लोग अपने घरों में ताले लगा कर अपने जानवरों को लेकर बड़ौदा के क्षेत्र में चले गये। अंत में सरकार को उनकी जांच की माँग को स्वीकार करना पड़ा और कर वृद्धि को लगभग 6 प्रतिशत घटा दिया गया।

उदयपुर और मेवाड़ में भी मोती लाल तेजावत और दरभंगा में स्वामी विद्यानंद के नेतृत्व में आदिवासी और किसान विद्रोह हुये। बिहार में स्वामी सहजानंद सरस्वती ने बिहार किसान सभा का संगठन किया।

1930 के दशक में किसानों में अपने वर्ग की रक्षा के लिये देशव्यापी नई चेतना जागृत हुई। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना इस चेतना का प्रतीक था। किसानों के आंदोलन की मुख्य माँगे थीं भूमि के लगान और भूमि-कर में कमी, जमींदारों द्वारा लगाई गयी अवैध पाबंदियो जैसे बेगार या बेठी को हटाने, साहूकार जमींदारों के दमन को समाप्त करने, अवैध रूप से छीनी गई जमीन को फिर से प्राप्त करना, किरायेदार की तरह भूमि पर अधिकार की सुरक्षा। किसानों में चेतना का प्रसार करने के लिए सभाएँ, प्रदर्शन, किसान मार्च, किसान सभाओं की स्थापना व भाड़े और कर न अदा करना और सत्याग्रह का सहारा लिया गया।

1945 के बाद जैसे-जैसे आजादी करीब आयी किसान विद्रोह ने एक नया रुख लिया। जमींदारी प्रथा समाप्त करने की माँग पूरे देश के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता बन गयी। विश्वयुद्ध के बाद का सबसे उग्रवादी संघर्ष तेभागा संघर्ष था, जिसे बंगाल के कृषक साझीदारों की बातों ने शुरू किया था। उनका कहना था कि जोतदारों (मध्यस्थ जमींदार) को 1/2 की जगह 1/3 फसल दी जाएगी। इसी तरह से तेलंगाना में भी एक विशाल किसान आंदोलन की शुरुआत हुई। ये दोनों आंदोलन कम्युनिस्टों के निर्देशन में चले।

यद्यपि 1947 से पहले किसान आंदोलनों का संगठन आंतरिक भागों की पूर्ति के लिये किया गया था, जिससे राज्य, जमींदार और साहूकारों का शोषण व दमन कम हो सके। परन्तु कृषि-व्यवस्था, ऋण की व्यवस्था और राज्य के साथ किसानों के संबंध पर इसका दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा।

12.6.2 मजदूर वर्ग का संघर्ष

1920 के दशक में मजदूर वर्ग के संघर्ष और ट्रेड यूनियनों का विकास बड़ी तेजी से हुआ। 1860 से आधुनिक उद्योगों, खनन, और रेलवे के विकसित होने से मजदूरों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। यद्यपि मजदूर आरंभ से ही कम वेतन, अधिक काम के घंटे व काम की भयानक दशा के कारण अत्याधिक शोषण और अमानवीय व्यवहार के शिकार थे। समय-समय पर आंदोलन भी हुए परन्तु उन्हें ट्रेड यूनियन का संगठन करने में काफी लम्बा समय लगा। स्वदेशी आंदोलन ने प्रमुख संघर्ष विशेष रूप से बंगाल के रेल कर्मचारियों के संघर्ष को सबसे पहले प्रोत्साहित किया।

1918 से 1920 के बीच प्रथम विश्व युद्ध में महँगाई के बढ़ने व समकालीन राष्ट्रवादी उत्तेजना के कारण अधिकतर उद्योगों में एक साथ हड़तालों का सिलसिला शुरू हुआ। इसका नेतृत्व रेलवे कर्मचारियों ने किया, जो आर्थिक और वर्ग शोषण की दृष्टि से रंगभेद की नीति के शिकार थे। (यूरोपियन स्टाफ के सदस्यों को अधिक वेतन दिया जाता था) कामगार वर्ग के संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिये अक्तूबर 1920 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) की स्थापना की गई। लाला लाजपतराय जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी इसके प्रथम सभापति बने। सी. आर. दास, जवाहरलाल नेहरू, तथा सुभाषचन्द्र बोस अन्य राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन का सभापतित्व किया।

1928-1929 के दौरान मजदूर हड़तालों की एक नई लहर आई। बंगाल के जूट कर्मचारियों ने एक आम हड़ताल की। खड़गपुर के रेलवे कारखाने में लम्बी हड़ताल हुई, जो दो महीने तक चली। दक्षिण और पूर्वी भारतीय रेलवे के कर्मचारी हड़ताल पर गये। जमशेदपुर में टाटा आयरन और स्टील वर्क्स में भी हड़ताल की गई। इस समय की सबसे महत्वपूर्ण हड़ताल बम्बई की कपड़ा मिलों की हड़ताल थी। इसमें लगभग, 150,000 कर्मचारी पाँच महीनों से अधिक समय तक हड़ताल पर रहे। प्रसिद्ध गिरनी कामगार यूनियन ने हड़ताल का आयोजन किया था। इन हड़तालों की लहर की अन्तिम हड़ताल बम्बई में जी. आई. पी. रेलवे की थी। हड़तालों की इस बाढ़ से सरकार काफी विचलित हो गयी। 1929 में सरकार ने 31 मजदूर नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया और उन पर ब्रिटिश सम्राट एवं सरकार के विरुद्ध षडयंत्र करने का आरोप लगाया गया। इस मुद्दे को प्रसिद्ध मेरठ षडयंत्र के नाम से जाना जाता है। इसी समय सरकार ने भारत में मजदूरों की दशा का निरीक्षण और उनकी दशा सुधारने के लिए सुझाव देने के लिए एक राजकीय आयोग, ह्विटले आयोग (Whitley Commission) की नियुक्ति की।

नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान शोलापुर के कामगार वर्ग ने अंग्रेजों का विरोध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1935 और 1936 के दौरान कलकत्ता, अहमदाबाद और कानपुर में प्रमुख हड़तालें हुई। 1937 में कांग्रेस सरकारों की स्थापना और

नागरिक स्वतंत्रता के विस्तार से कामगारों का संघर्ष और संगठन और भी अधिक बढ़ने लगे। 1937 की अपेक्षा 1938 में ट्रेड यूनियनों की सदस्यता 50 प्रतिशत बढ़ गई। 1937-38 के दौरान कलकत्ता, बम्बई और कानपुर में बड़ी हड़तालें हुईं।

12.6.3 देशी रियासतों में आंदोलन

अंग्रेजों ने कई रजवाड़ों को बने रहने दिया था। इनमें औपनिवेशिक शासन, अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ के राजाओं की सहायता से चलाया जाता था। इनमें से अधिकांश रजवाड़ों की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्थिति काफी खराब थी। वहाँ के शासक, राजस्व का अधिकांश भाग अपने और अपने दरबारी और अधिकारियों पर व्यय कर देते थे। वे स्वेच्छापूर्वक निरंकुश शासन करते थे क्योंकि ब्रिटिश भारतीय सरकार उन्हें आन्तरिक विद्रोह या गदर से बचाने के लिये तत्पर थी।

जैसे-जैसे ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हुआ रियासतों या रजवाड़ों के लोग भी इससे प्रभावित हुये। 1927 में राज्यों की राजनैतिक गतिविधियों को एकजुट करने के लिए अखिल भारतीय देशी रियासत जन कांफ्रेंस (All India States' People's Conference) भी स्थापित हो चुकी थी। यह गतिविधियाँ नागरिक अवज्ञा आंदोलन के प्रभाव से और बढ़ीं। कश्मीर, जयपुर, राजकोट, हैदराबाद और ट्रावनकोर सहित कई राज्यों में लोकप्रिय संघर्ष चलाये गए। प्रजातांत्रिक और राष्ट्रीय चेतना के विकसित होने से बड़ी संख्या में राज्यों में प्रजा मंडलों का संगठन किया गया।

आरंभ में राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने को इस आंदोलन से अलग रखा। लेकिन 1937 के बाद इनका समर्थन किया और इसे दबाने की राजाओं की कोशिशों का विरोध किया। उन्होंने राजाओं से जन स्वातंत्र्य लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व-सरकार आरंभ करने की अपील की। 1938 में कांग्रेस ने अपने स्वतंत्रता के लक्ष्य में राज्यों की स्वतंत्रता को भी शामिल कर लिया। भारत के स्वतंत्रता संग्राम और रजवाड़ों में प्रजातांत्रिक शासन दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करने और अखंडता पर जोर देने के लिए 1939 में जवाहरलाल नेहरू अखिल भारतीय राज्य जन-कांग्रेस के अध्यक्ष बने। इन रजवाड़ों को भारतीय संघ में मिलाने के लिए राज्य जन-आंदोलनों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

12.6.4 अन्य आंदोलन

दो अन्य प्रमुख शक्तिशाली आंदोलनों पर ध्यान देना आवश्यक है। इनमें से एक आंदोलन भाषावादी प्रांतों के लिए था। आरंभ में विभिन्न प्रांतों की भाषा और संस्कृति को विकसित करने के लिए यह आंदोलन राष्ट्रवादी ढाँचे के बाहर विकसित हुए किंतु जल्दी ही ये राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गए। 1921 में कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रांतीय कमेटियों को पुनर्गठित किया। राष्ट्रीय आंदोलन ने पूरी तरह यह स्वीकार किया कि भारत बहुत-सी भाषाओं और सांस्कृतिक विभिन्नताओं का देश है और इसकी एकता की नींव "विभिन्नता में एकता" के आधार पर पड़ी है।

इसी प्रकार नीची जातियों ने ऊँची जातियों के सामाजिक व आर्थिक प्रभुत्व के विरुद्ध देश के विभिन्न भागों में आंदोलनों का गठन किया। इन आंदोलनों में सत्यबोधक समाज आंदोलन और महाराष्ट्र में मराठों का गैर ब्राह्मण आंदोलन, दक्षिण भारत में आत्म सम्मान आंदोलन और ब्राह्मण विरोधी आंदोलन तथा डा० बी.आर. अम्बेडकर द्वारा चलाया गया हरिजन या अनुसूचित जातियों का आंदोलन प्रमुख है। धीरे-धीरे इनमें से अधिकतर लुप्त होते गए क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रमों में जाति-दमन के विरुद्ध संघर्ष सम्मिलित था।

बोध प्रश्न 3

1 कॉलम "ए" में कुछ मुख्य किसान आंदोलन दिए गए हैं तथा कॉलम "बी" में इनके नेताओं के नाम हैं कालम "बी" के नामों को कालम "ए" के अनुसार लिखिए।

"ए"	"बी"
क) अवध	क) राजकुमार सुकुल
ख) चम्पारन	ख) सीताराम राजू
ग) आंध्र	ग) मोतीलाल तेजावत
घ) बारदोली	घ) बाबा रामचंद्र
ङ) उदयपुर और मेवाड़	ङ) वल्लभभाई पटेल

2 लगभग दस पंक्तियों में 1920-30 में हुए श्रमिक वर्ग आंदोलन के विकास के विषय में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 रजवाड़ों के जन-आंदोलन के प्रति कांग्रेस का क्या रवैया था? पाँच पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

12.7 स्वतंत्रता की ओर

इस खंड में हम 1937 और इसके बाद की उस प्रक्रिया पर संक्षेप में विचार करेंगे, जिससे भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की थी। इस समय तक राष्ट्रीय आंदोलन की नींव स्थायी हो चुकी थी और सभी वर्गों के लोग इस संघर्ष में भाग ले रहे थे।

12.7.1 कांग्रेस मंत्रिमंडल

1935 में नया गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट (Government of India Act) पास हुआ और 1937 के आरंभ में चुनाव कराये गये। कांग्रेस चुनाव में भाग ले या नहीं इस विषय पर कांग्रेस में काफी वाद-विवाद हुआ। अंत में चुनाव में भाग लेने और अपनी पूरी शक्ति से चुनाव जीतने का निर्णय लिया गया। कांग्रेसी नेताओं ने सारे देश का दौरा किया। जनता के बीच भी अत्यधिक उत्साह था।

कांग्रेस को मद्रास, बम्बई, केन्द्रीय प्रांतों, उड़ीसा, बिहार और संयुक्त प्रांतों में भारी विजय मिली। अब प्रश्न यह था कि कांग्रेस सत्ता सँभाले या नहीं? इस विषय पर वाद-विवाद और सोच-विचार हुआ। अंत में यह निर्णय लिया गया कि कांग्रेस सत्ता स्वीकार कर ले। कांग्रेस ने प्रांतों में, जहाँ इसका पूर्ण बहुमत था प्रांतीय स्वायत्तता की नई पद्धति के अंतर्गत सरकार का गठन किया।

बाद में यह असम और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में मिली-जुली सरकार (Coalition Government) बनाने में सफल हुई। अपनी सीमित अधिकार शक्ति के बावजूद कांग्रेस प्रशासन ने प्रांतों में जनता को रियायतें देने का प्रयत्न किया और बहुत से मौलिक सुधारों को लागू किया जो इस प्रकार हैं:

- राजनैतिक कैदियों की रिहाई।
- पुलिस की शक्तियों को सीमित किया गया।
- नागरिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन और उसका विस्तार।
- शिक्षा और जन-स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान।
- मंत्रिमंडल ने कानून के द्वारा किसानों को राहत देने का प्रयास किया। इनमें ऋण मुक्ति, हाल के वर्षों में किसानों से जो भूमि छीन ली गई थी उसे वापिस लौटाना और पट्टे की सुरक्षा आदि शामिल थे।
- मजदूरों को राहत देने की दिशा में भी कार्य किये गए हैं।

मंत्रालय के समय की सबसे प्रमुख उपलब्धि यह थी कि भारतीयों में यह भावना विकसित हो चुकी थी कि ब्रिटिश शासन के दिन अब पूरे हो चुके हैं और साम्राज्यवाद का अंत नजदीक है।

12.7.2 द्वितीय विश्वयुद्ध और भारत

सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने से कांग्रेस एक कठिन स्थिति में पड़ गई। जैसा कि हमने पहले देखा कि कांग्रेस फासिस्टों के दमन से पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति का रुख रखती थी। यह ब्रिटेन और फ्रांस की संयुक्त फासिस्ट विरोधी शक्तियों की सहायता करने को उत्सुक थी। लेकिन कांग्रेस में यह विचार किया गया कि एक उपनिवेश जो स्वयं गुलाम है दूसरे देशों में स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए कैसे सहायता कर सकेगा। इसलिए यह माँग की गई कि भारतीयों के हाथ में राजनैतिक सत्ता सौंप कर और युद्ध के बाद पूर्ण स्वतंत्रता का वायदा करके अंग्रेजी सरकार स्वतंत्रता और लोकतंत्र के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण प्रस्तुत करे ताकि भारतीय जनता जान और माल से पूरी तरह युद्ध प्रयत्नों में सहयोग करे। ब्रिटिश इस बात के लिए तैयार नहीं हुए। जैसा कि विंस्टन चर्चिल ने बाद में कहा कि वे युद्ध के समय ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिये प्रधानमंत्री नहीं बने थे।

इसके विरोध में कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडलों को इस्तीफे देने के निर्देश दिये। लेकिन कांग्रेस अब भी बहुत बड़े पैमाने पर ब्रिटिश विरोधी संघर्ष का आह्वान करके ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों में बाधा नहीं डालना चाहती थी। साथ ही कांग्रेसी नेताओं तथा जनसाधारण का धैर्य टूट रहा था। गांधी ने अब प्रत्येक क्षेत्र में कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर एक सीमित सत्याग्रह आरंभ करने का निश्चय किया। व्यक्तिगत सत्याग्रह के दो उद्देश्य थे: एक ओर यह भारतीयों की प्रबल राजनैतिक भावनाओं को व्यक्त करता था, दूसरी ओर इसने ब्रिटिश सरकार को सीधे टकराव से बचने और भारतीयों की माँगों को स्वीकार करने का एक और अवसर दिया। मई 1941 के अंत तक 25,000 से अधिक सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया गया और सजाएँ दी गईं।

1941 में दो प्रमुख परिवर्तन हुए। पश्चिमी योरोप पर अधिकार करके 22 जून 1941 को नाज़ी जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। 7 दिसम्बर 1941 में जापान ने प्रशांत महासागर में पर्ल हारबर में अमेरिका के जहाजी बेड़े पर अचानक आक्रमण कर दिया। 1942 में जापान ने फिलीपीन्स, हिंदचीन, (वियतनाम), इंडोनिशिया और मलाया की ओर से बर्मा की ओर बढ़ना शुरू किया। इस प्रकार युद्ध भारत की सीमा तक आ पहुँचा।

दिसम्बर के प्रारंभ में रिहा किये हुये भारतीय नेताओं को भारत की सुरक्षा की चिन्ता थी। वे सोवियत संघ और चीन की रक्षा के लिए भी चिन्तित थे। वे एक बार फिर युद्ध प्रयत्नों में पूरा सहयोग देने के लिये तैयार थे यदि भारतीयों को सत्ता सौंप दी जाए। ब्रिटिश सरकार भी अपने मित्र राष्ट्रों, अमेरिका और चीन, के दबाव में थी। अतः मार्च 1942 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं के साथ समझौता करने के लिये क्रिप्स की अध्यक्षता में एक समिति को भेजा। लेकिन यह वार्ता शीघ्र ही भंग हो गयी क्योंकि ब्रिटेन तुरन्त सत्ता हस्तान्तरित करने की माँग को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। भारतीय जनता क्रुद्ध थी। उसने महसूस किया कि साम्राज्यवाद पर अन्तिम हमले का समय आ गया है।

12.7.3 भारत छोड़ो आंदोलन

अगस्त 1942 में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा हुई। इसमें प्रसिद्ध "भारत छोड़ो आंदोलन" का प्रस्ताव पारित किया गया। इसमें स्वतंत्रता के लिए अन्तिम जन संघर्ष शुरू करने का प्रस्ताव था। 8 अगस्त की रात में कांग्रेस के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुये गांधी ने जनता को "करो या मरो" का नारा दिया। उन्होंने कहा कि — "या तो हम भारत को आजाद करायेंगे या इस प्रयत्न में मर जायेंगे। हम गुलाम रहते हुए जीवित नहीं रहेंगे।" लेकिन ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन शुरू होने से पहले ही उस पर प्रहार कर दिया। 9 अगस्त की सुबह गांधी सहित अन्य कांग्रेस नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और युद्ध के दौरान जेल में बंद रखा। फलस्वरूप जगह-जगह आंदोलन हुये। हर जगह हड़तालें हुईं। सरकार ने बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियों, लाठी चार्ज और गोलियों से इसका उत्तर दिया। क्रुद्ध भीड़ ने हिंसात्मक कदम उठाये और ब्रिटिश सत्ता के प्रतीक — पुलिस थानों, डाकघरों और रेलवे स्टेशनों पर हमला किया। उन्होंने टेलीफोन, टेलीग्राफ और रेलवे लाइनों को काट डाला। देश के बहुत से भागों में लोगों ने अपनी सरकार बनायी लेकिन अंग्रेजी सरकार ने अपना दमन और तेज कर दिया। पुलिस और सेना की गोली से 10,000 से अधिक लोगों की मृत्यु हुई।

18. अंग्रेज़ों से भारत छोड़ने की माँग करते हुए गांधी (एक व्यंग्य चित्र)

इसी बीच दक्षिण-पूर्वी एशिया में आजादी के लिये एक और मोर्चा खुल गया। मार्च 1941 को सुभाषचंद्र बोस देश से बाहर चले गये। 1943 में वे जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया गये, जहाँ उन्होंने भारतीय सेना के जवानों और अफसरों—जिन्होंने जापान

के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था, के साथ मिलकर आजाद हिन्द फौज (INA) का गठन किया। आई॰एन॰ए॰ ने जापानी फौज के साथ भारत को विदेशी दासता से मुक्त करने के लिए भारत की सीमा की ओर प्रस्थान किया। लेकिन 1944-45 में जापान पराजित हो गया और संभवतः एक हवाई दुर्घटना में सुभाषचंद्र बोस की मृत्यु हो गयी।

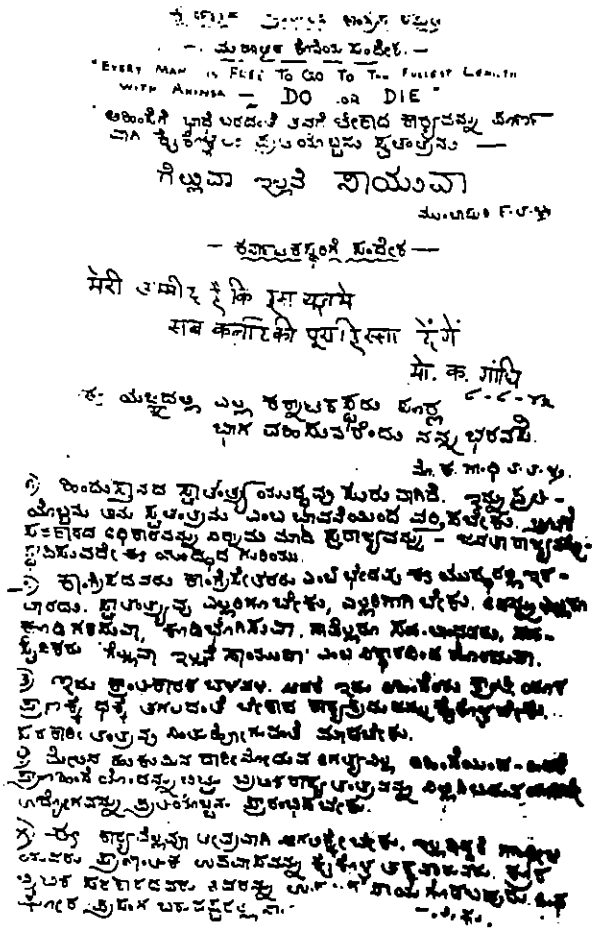

19. क्रांग्रेस का बुलेटिन कन्नड़ भाषा में (9 अगस्त 1942)

12.7.4 स्वतन्त्रता

युद्ध के समाप्त होने के साथ-साथ भारत के स्वतंत्रता संग्राम ने एक नये चरण में प्रवेश किया। भारतीय जनता क्रुद्ध थी। इस नये संग्राम ने आजाद हिन्द फौज के जवानों और अफसरों के मुकदमे के विरोध में एक विशाल आंदोलन का रूप ले लिया। अंत में सरकार को विवश होकर उन्हें छोड़ देना पड़ा। 1945-46 में पूरे देश में अनेक आंदोलन, हड़ताल और प्रदर्शन आदि हुये। फरवरी 1946 में बम्बई में नौसेना के सिपाहियों/नौसैनिकों ने विद्रोह किया इन नौसैनिकों के प्रति सहानुभूति में विशाल प्रदर्शन हुआ। अंग्रेजी सेना ने जन संघर्ष का दमन करने के प्रयत्न में बम्बई की सड़कों पर 250 से अधिक व्यक्तियों को गोली मार दी।

युद्ध जीतने के बावजूद भी ब्रिटेन को नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा। विश्व का पूरा शक्ति संतुलन बदल गया था। युद्ध के कारण ब्रिटेन की हालत कमजोर हो गयी थी। अब वह विश्व शक्ति बना नहीं रह सकता था इसकी आर्थिक और सैनिक शक्ति नष्ट हो चुकी थी। इसके साथ ही पूरी औपनिवेशिक व्यवस्था का ह्रास हो रहा था।

फ्रांस और हॉलैंड को भी युद्ध की पराजय ने कमजोर कर दिया था। जर्मनी, इटली, जापान पराजित हो चुके थे। सोवियत संघ ने भारत तथा अन्य उपनिवेशिक देशों की स्वतंत्रता की इच्छा का समर्थन किया, अमरीका भी इन इच्छाओं का समर्थक था। किसी भी दशा में वह ब्रिटेन द्वारा भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के दमन के विरुद्ध था।

ब्रिटेन की राजनैतिक स्थिति भी अब ऐसी नहीं थी कि वह राष्ट्रीय आंदोलन के पुनः दमन का प्रयास करे। ब्रिटिश सेना, जिसके सैनिक नागरिकों का ही एक अंश थे, लड़ाई से तंग आ चुके थे,और थक गये थे। अब दमन के लिए उनमे युद्ध करने की कोई शक्ति नहीं रह गयी थी। 1945 के चुनाव में लेबर पार्टी ने कंजर्वेटिव पार्टी को पराजित कर दिया था। लेबर पार्टी भारतीयों की माँग स्वीकार करने के पक्ष में थी। ब्रिटिश जनता अब किसी भी दशा में उपनिवेश की पुनः स्थापना करने की नीति में सहयोग देने के पक्ष में नहीं थी।

21. [illegible]

भारत में औपनिवेशिक शासन और दमन के खेल चल रहे थे। नौकरशाही भी अब विश्वसनीय नहीं रही थी। पुलिस असंतुष्ट थी। फौज भी अब वफादार नहीं रही थी। यहाँ तक कि रायल इंडियन नेवी के विद्रोह के अतिरिक्त भी फौज और वायुसेना में बहुत सी हड़तालें आदि हुई हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है भारतीय जनता अब विदेशी सत्ता के शासन को और अधिक न सहने का निश्चय कर चुकी थी।

ब्रिटेन की लेबर सरकार ने समय की माँग पर ध्यान दिया। भारत में 200 वर्षों से चले आ रहे औपनिवेशिक शासन को हटाने का उसने निश्चय किया। 15 अगस्त 1947 में भारत ने हर्ष उल्लास के साथ अपना पहला स्वाधीनता दिवस मनाया। यद्यपि इसका उल्लास भारत विभाजन के कारण फीका पड़ गया था। उपमहाद्वीप में दो स्वतंत्र राष्ट्र — भारत और पाकिस्तान में बँट गया।

20. बोस अंडमान जेल का निरीक्षण करते हुए

बोध प्रश्न 4

1 विभिन्न राज्यों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों द्वारा कौन से सुधार लाये गये? लगभग 5 पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्न में से कौन से कथन सही (√) हैं और कौन से गलत (×)।

क) फासिस्ट आक्रमण की कांग्रेस द्वारा निन्दा की गई।

ख) भारत छोड़ो आंदोलन का नारा था "करो और भागो"।

ग) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आजाद हिन्द फौज का समर्थन किया।

घ) इंग्लैंड में 1945 के चुनाव में कंजर्वेटिव पार्टी की विजय हुई।

12.8 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्त करने के लक्ष्य की ओर विकसित हुआ। उदारवादी साधनों को जन-आंदोलन में बदलना आंदोलन की प्रमुख उपलब्धि था। यह परिवर्तन गांधी के प्रयत्नों से हुआ। इस अवधि के दौरान कांग्रेस के नेतृत्व में तीन प्रमुख आंदोलन चलाये गये। हम पाते हैं कि कांग्रेसी आंदोलन के अंदर ही कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट गुटों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने न केवल राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपना योगदान दिया बल्कि आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति में भी इनका योगदान उल्लेखनीय है।

इस अवधि के दौरान, विशेषकर अखिल भारतीय किसान सभा और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना होने के कारण, किसानों और मजदूरों के आंदोलन ने एक संगठित रूप ले लिया था। देशी-रियासतों में जनता लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये लड़ी और उन्होंने अपने संघर्ष को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ दिया। अंत में भारतीय जनता के संघर्ष और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर मजबूर कर दिया और 15 अगस्त 1947 को हमारा देश आजाद हो गया।

12.9 शब्दावली

कंजर्वेटिव पार्टी: ब्रिटेन की दक्षिण पंथी राजनीतिक पार्टी जो जमींदारों और व्यापारियों के हितों पर विशेष ध्यान देती थी।

शोषण: एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग की मेहनत और उत्पादन का भोग करने की प्रवृत्ति, उदाहरण के लिए किसानों की मेहनत और उत्पादन का लाभ जमींदार उठाते थे।

वयस्क मताधिकार: जाति, धर्म, लिंग, आर्थिक हैसियत संबंधी किसी तरह के भेदभाव के बिना सभी वयस्क व्यक्तियों को मत देने का अधिकार।

फासीवादी (फासिस्ट): अति दक्षिण पंथी राजनीतिक विचारधारा जो 20 वीं शताब्दी में इटली तथा जर्मनी में कम्युनिस्ट समाजवादी लोकतंत्रवादियों और मजदूर आंदोलनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुई।

लेबर पार्टी: ब्रिटेन की एक राजनीतिक पार्टी जो कंजर्वेटिव तथा कम्युनिस्ट से भिन्न थी। यह श्रमिकों के हितों के लिए संघर्षरत थी।

धरना: शांतिपूर्ण आंदोलन, अहिंसात्मक तरीके से विरोध प्रकट करना और काम में रुकावट डालना। शत्रु को शारीरिक क्षति पहुँचाए बगैर संघर्ष करने का गांधी जी का तरीका।

सत्याग्रह: सत्य को आधार बनाते हुए सत्ता का विरोध, गांधी जी का संघर्ष का तरीका।

नमक कानून: ब्रिटिश कानून जिसके द्वारा नमक पैदा करने वाले भारतीयों पर भारी कर लगाया गया।

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 क) (√) ख) (×) ग) (√) घ) (×)

2 उपभाग 12.2.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1 क) (√) ख) (√) ग) (√) घ) (×)

उपभाग 12.5.3.देखें

बोध प्रश्न 3

1 क) (घ), ख) (क), ग) (ख), घ) (ङ), ङ) (ग)

2 उपभाग 12.6.2 देखें

3 उपभाग 12.6.3 देखें

बोध प्रश्न 4

1 उपभाग 12.7.1 देखें

2 क) (√) ख) (×) ग) (×) घ) (√)

इकाई 13 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के निहित मूल्य

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 भारत की एकता
13.3 धर्मनिरपेक्षवाद का महत्व
  13.3.1 धर्मनिरपेक्षता क्या है?
  13.3.2 धर्मनिरपेक्षता का व्यवहारिक रूप
  13.3.3 गांधी और नेहरू तथा धर्मनिरपेक्षता के लिये संघर्ष
13.4 समाजवाद और योजनाबद्ध आर्थिक विकास
13.5 लोकतंत्र और नागरिक अधिकार
  13.5.1 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति
  13.5.2 लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये राष्ट्रवादी संघर्ष
13.6 मानवतावाद
  13.6.1 मानवतावाद के स्रोत
  13.6.2 मानवतावाद के लिये संघर्ष
  13.6.3 ब्रिटिश भूमिका
13.7 विश्वबंधुत्व और शांति
  13.7.1 कुछ प्रारंभिक घटनाएँ
  13.7.2 फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- राष्ट्रीय आंदोलन के द्वारा आये हुए कुछ प्रमुख मूल्यों का अनुमान लगा सकेंगे।
- यह जानने मे सक्षम हो सकेंगे कि इन मूल्यों का विकास किस प्रकार हुआ।
- इन मूल्यों के विकास में राष्ट्रवादियों और अंग्रेजों द्वारा निभाई गई परस्पर विपरीत भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति एक ठोस विकल्प पर पहुँचने में थी। इस विकल्प के आधारभूत मूल्य परस्पर संघर्षरत विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों के पारस्परिक सामंजस्य होने पर उभर कर सामने आये और एक विस्तृत उपनिवेशवाद विरोधी मंच तैयार करने में सफल हो सके। यह एक क्रमिक प्रक्रिया थी, जिसकी उच्चतम उपलब्धि भारत की स्वतंत्रता थी।

13.2 भारत की एकता

अंग्रेजों ने हमेशा यह दावा किया कि मुगल शासन के बाद जो अराजकता उत्पन्न हो गयी थी, उसमें उन्होंने एकता स्थापित की। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताओं को विभाजित समाज का प्रतीक कहा और उन्हें एक सूत्र में बाँधने का दावा किया। किन्तु अंग्रेजों की "फूट डालो और शासन करो" की नीति, ने सांस्कृतिक और धार्मिक प्रारूपों को एक दूसरे के विरुद्ध किया। हिन्दू-मुस्लिम के आधार पर बंगाल का विभाजन (1905), "दो राष्ट्रों" का प्रसिद्ध सिद्धान्त और 1909 में अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्र (separate-electorates) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

भारतीय राष्ट्रवादियों का कहना था कि भारत की विभिन्नताएँ एक रूप करने वाले तत्वों के साथ जुड़ी है, जिसको ब्रिटिश नष्ट कर रहे हैं। अतः बंगाल के विभाजन के बाद इस विभाजन को रद्द करने के लिये बड़े पैमाने पर जन-आंदोलन चला। इसके साथ ही गांधी ने साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र के विरोध में उपवास किया। राष्ट्रवादियों ने रजवाड़ों के राष्ट्रीयकरण के लिये भी संघर्ष आरंभ किया।

संदेश प्रसारण की विधियाँ

अब राष्ट्रवादियों के सामने प्रमुख काम था — ब्रिटिश नीतियों का विरोध करना। यह किस प्रकार किया जाय? उन्होंने विचारों और एकता की चेतना के प्रसार के लिए निम्नलिखित विधियाँ अपनाई :—

- राष्ट्रवादी नेताओं के भाषण और लेख।
- भारत के सभी भागों में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन करना जैसे पश्चिम में करांची से पूरब में गोहाटी तक और उत्तर में लखनऊ से दक्षिण में मद्रास तक।
- राष्ट्रीय ध्वज जातियों, धर्मों तथा सिद्धांतों के आधार पर न होकर राष्ट्रीय एकता का प्रतीक तथा प्रत्येक भारतीय की चेतना का हिस्सा बना।
- भारत की समृद्ध अनेकता का एकीकरण किया गया। यह कार्य भारत की विभिन्न भाषाओं को प्रोत्साहित करके तथा उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख धारा में सम्मिलित करके किया गया।

यह कार्य अंग्रेजों के विरोध और "फूट डालो शासन करो" की नीति के बावजूद सम्पन्न हुआ। भारतीयों को विविध जातीय तथा साम्प्रदायिक निष्ठाओं के विरुद्ध भी लड़ना पड़ा था। स्वतंत्रता आंदोलन में एकता की कल्पना को जन-संघर्ष तथा राष्ट्रवादी विचारों के संघर्ष ने आकार दिया। जिस रूप में यह एकता संभव हुई वह इस संघर्ष की सफलता और असफलता (उदाहरण के लिये देश का विभाजन) का परिणाम था।

बोध प्रश्न 1

1 उपरोक्त भाग को पढ़ने के बाद कोई भी आसानी से कह सकता है कि (सही पर (✓) का चिन्ह् लगाइये)।

क) भारतीय समाज विभाजित नहीं था।

ख) भारतीय समाज एकता की संभावना से कहीं अधिक विभाजित था।

ग) अंग्रेजों के अनुसार उन्होंने ही भारत को एकता के सूत्र में बाँधा, जबकि राष्ट्रवादी कहते हैं कि वास्तव में ब्रिटिश भारतीय अनेकता को जोड़ने वाले तत्वों को नष्ट कर रहे थे।

ङ) अंग्रेजों ने भारत को एकता के सूत्र में बाँधे रखा।

2 निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही है?

क) राष्ट्रवादी भारत को एकीकृत करने के किसी भी कार्य-कलाप में शामिल नहीं थे।

ख) राष्ट्रवादियों ने भारत को एकीकृत करने के लिए केवल बंगाल के विभाजन का विरोध या पृथक निर्वाचन क्षेत्र के विरुद्ध उपवास जैसी गतिविधियों का सहारा लिया।

ग) राष्ट्रवादियों ने विभाजन के विरुद्ध न केवल जन-आंदोलन आयोजित किए बल्कि एकता के विचारों का प्रसार भाषणों द्वारा, विभिन्न भारतीय भाषाओं को राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में आने के लिये प्रेरित करके तथा राष्ट्रीय ध्वज को लोकप्रिय बनाकर किया।

घ) राष्ट्रवादी केवल एकता के विषय में बातें करते थे।

3 राष्ट्रवादियों ने एकता के विचार को किस प्रकार फैलाया? पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13.3 धर्मनिरपेक्षवाद का महत्व

भारत प्रमुख धर्मों का आश्रय रहा है और समय के साथ-साथ बहुधर्मीय समाज के रूप में उभरा। भारत के लोग धर्म में गहरा विश्वास रखते हैं। धर्म उनके जीवन-दर्शन को प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति में धार्मिक मतभेदों के प्रति गहरी सहिष्णुता ही सामाजिक असामंजस्य और तनाव को मिटा सकती है। अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई फूट डालो और शासन करो की नीति ने इस संदर्भ में धार्मिक तनावों और मतभेदों की भावनाओं को फैलाया। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने बहुधर्म समाज में धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को मजबूत बनाया तथा इस चुनौती का सही-ढंग से उत्तर दिया।

13.3.1 धर्मनिरपेक्षता क्या है?

भारत में धर्म निरपेक्षवाद के चार अभिप्राय है:

क) पहला, राष्ट्रवादी नेतृत्व ने लोगों के बीच धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रसार करने के प्रयत्न किये।

ख) दूसरा, लोगों में फैले अंधविश्वास को दूर करने के लिये बहुत से सुधार आंदोलन शुरू किए गए।

ग) तीसरा, राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सभी धर्मों की एकता पर ज़ोर दिया।
घ) चौथा, धर्म और राजनीति को अलग-अलग करने पर ज़ोर दिया।

13.3.2 धर्मनिरपेक्षता का व्यवहारिक रूप

हिन्दुओं के बीच सुधार आंदोलन राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस ने आरंभ किया। भारत में मुसलमानों के बीच सुधार के लिये सर सैयद अहमद खान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक तिहरी पद्धति स्वीकार की गई।

क) इन सुधारकों ने किसी और धर्म पर आक्षेप नहीं किया।
ख) उन्होंने विभिन्न धर्मों के तर्कसंगत और सुधारक तत्वों पर जोर दिया।
ग) इस बात पर जोर दिया कि भारत के विभिन्न धर्म और धार्मिक पहचान एक बड़े एकीकृत भारतीय राष्ट्र का अंग है।

धार्मिक-सुधार और सहिष्णुता की परम्परा को गांधी और अबुल कलाम आज़ाद ने आगे चलकर शक्तिशाली बनाया। ये धर्म में विश्वास रखते थे लेकिन इन्होंने धर्मों में सुधार और दूसरे धर्म के प्रति सहिष्णुता को निरंतर बढ़ावा दिया। उदाहरण के लिये गांधी ने "रचनात्मक कार्य प्रोग्राम" शुरू किया जिसने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये कार्य किया। इससे लोगों को संगठित करने में मदद मिली। यह हर दृष्टि से एक महत्वपूर्ण काम था।

यह काम दो राष्ट्र की नीति और हिन्दू-मुस्लिम के लिये अलग निर्वाचक क्षेत्र बनाने के अंग्रेजों के प्रयास के विरुद्ध किया जाना था। अंग्रेजों की नीति के जवाब में भारतीय राष्ट्रवादियों ने अल्पसंख्यक वर्ग की धार्मिक स्वतंत्रता के प्रति आदर एवं रक्षा का आश्वासन दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पृथक निर्वाचन क्षेत्र के विरुद्ध सभी सम्प्रदायों को, बिना किसी धार्मिक भेदभाव के स्वदेश के लिए संघर्ष, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वराज के लिए संघर्ष जैसे गतिविधियों के लिए संगठित किया।

राष्ट्रवादियों का धर्मनिरपेक्षवाद के प्रति योगदान

- राष्ट्रीय धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की योजना।
- धर्मनिरपेक्षवाद के सिद्धांत को सामाजिक न्याय और समानता के साथ जोड़ना।

13.3.3 गांधी और नेहरू

धर्मनिरपेक्षता के लिये संघर्ष गांधी और नेहरू के धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त पर आधारित रहा। उन सिद्धांतों की भिन्नता के कारण भारत में धर्मनिरपेक्षता की दो परंपराएँ उभरी।

गांधी राजनीति के आध्यात्मिकीकरण में विश्वास करते थे। लेकिन उन्होंने दृढ़तापूर्वक सभी धर्मों की समानता और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता को स्वीकार किया। गांधी ने अपनी राजनीति के लिए धर्म से प्रेरणा प्राप्त की थी परन्तु धार्मिक मतभेदों व धार्मिक कट्टरपन के विरुद्ध संघर्ष करके राष्ट्रीय एकता और सहिष्णुता की भावना का समर्थन करके, उन्होंने धर्मनिरपेक्षता के संघर्ष को आगे बढ़ाया। उन्होंने स्पष्ट किया कि राज्य को धर्म के विषय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्म लोगों का व्यक्तिगत मामला है। उन्होंने राज्य को धर्मनिरपेक्ष मामलों जैसे — कल्याण, स्वास्थ्य, संचार, विदेशी संबंध, मुद्रा आदि की देखभाल करने का उत्तरदायित्व दिया।

इसके विपरीत नेहरू ने धर्मनिरपेक्षवाद के संघर्ष को पूरी तरह वैज्ञानिक तार्किकता (scientific rationality) से जोड़ दिया। उनके अनुसार धर्म अंधविश्वास और अज्ञान उत्पन्न करता है। उनके अनुसार विज्ञान का सार था — संदेह करना और जानना। अतः उनके लिये धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई में धर्म का कोई स्थान नहीं था।

धर्मनिरपेक्षता की उपरोक्त दोनों परम्पराओं को हथियार बनाकर राष्ट्रवादी नेतृत्व ने संकीर्ण और उग्रराष्ट्रीय संगठनों (Chauvnistic Organizations) जैसे हिन्दू महासभा एवं मुस्लिम लीग के विरुद्ध लड़ाई की। इसने इसी आधार पर धार्मिक भेदभाव की ब्रिटिश नीति का भी विरोध किया। धर्मनिरपेक्षवादी मूल्यों की शक्ति इन दोनों की लड़ाई की ताकत तथा कमजोरियों में निहित थी।

बोध प्रश्न 2

सही (✓) या गलत (×) का चिह्न लगाइए

1 उपरोक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षवाद का अभिप्राय है:
   क) एक धर्म द्वारा दूसरे धर्म का दमन
   ख) एक धर्म का दूसरे धर्मों पर प्रभुत्व स्थापित करना।
   ग) यह एक सिद्धांत और व्यवहार है जिसमें धार्मिक सहिष्णुता, समानता, अंधविश्वास से मुक्ति और राजनीति और धर्म का पृथक्करण जैसे मूल्य विकसित होते है।
   घ) धर्म और राजनीति का प्रबल मिश्रण

2 यह कहा जा सकता है कि:
   क) नेहरू का विश्वास था कि राजनीति को धर्म पर आधारित होना चाहिए।
   ख) गांधी का विश्वास था कि राजनीति की उत्पत्ति धर्म से हुई थी।
   ग) नेहरू का विश्वास था कि राजनीति का आधार विज्ञान होना चाहिए।
   घ) गांधी और नेहरू का धर्मनिरपेक्षवाद के प्रति एक ही दृष्टिकोण था।
   ङ) (ख) और (ग) दोनों सही हैं।

3 राष्ट्रवादियों ने हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसे संगठनों का विरोध किया क्योंकि—
   क) वे राष्ट्रवादी संगठनों के प्रतिद्वंदी थे।
   ख) वे उन्हें पसंद नहीं करते थे।
   ग) उनका दृष्टिकोण संकीर्ण धार्मिकता का था तथा धार्मिक राजनीति को बढ़ावा दिया।
   घ) उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम राज्यों के पृथक्करण की मांग की।
   ङ) (ग) और (घ) दोनों सही हैं।

4 धर्मनिरपेक्षवाद को बढ़ावा देने की दिशा में दिये गये राष्ट्रवादियों के योगदान की सूची दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 समाजवाद और योजनाबद्ध आर्थिक विकास

भारत की गरीबी और आर्थिक पतन ब्रिटिश शासन का प्रत्यक्ष परिणाम है। इस संदर्भ में राष्ट्रवादी नेतृत्व ने देशभक्ति की भावना को बढ़ावा देने के लिए दो महत्वपूर्ण कार्य किये:

- राष्ट्रवादी नेतृत्व ने उपनिवेशवादियों की विनाशकारी नीतियों के विरुद्ध जनसाधारण को शिक्षित किया।
- और जनता को गरीबी की समस्या को हल करने के विकल्प के विषय में स्पष्ट रूप से समझाने की ज़रूरत थी। राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्ट नेतृत्व ने आर्थिक योजना और विकास के ठोस समाजवादी कार्यक्रम को स्पष्ट किया। इस कार्य में स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं को रूस के सामाजिक पुनर्निर्माण और विकास से प्रेरणा मिली।

आर्थिक योजना के दो रूपों पर स्पष्टतः बल दिया गया और उनका प्रचार किया गया।

- पहला, कृषि प्रधान भारत में परिवर्तन किया जाएगा और दूरवासी जमींदारी प्रथा (absentee landlordism) का उन्मूलन किया जाएगा।
- दूसरा, योजनाबद्ध विकास में केवल उत्पादन पर बल नहीं दिया जाएगा बल्कि उत्पादन को व्यवस्थित वितरण के साथ जोड़ा जाएगा।

आगे चलकर नेहरू ने इन पहलुओं को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ दिया। कांग्रेस के अनेक वार्षिक अधिवेशनों में समाजवाद के अर्थ और संदर्भ को ठोस रूप दिया गया और यह कहा गया कि स्वराज्य का अर्थ होगा समाजवाद।

समाजवाद का व्यवहारिक रूप

तीसरे और चौथे दशक में समाजवाद जनसाधारण के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया। निम्नलिखित घटनाओं ने इस प्रक्रिया को प्रबल बनाया।

- किसानों तथा औद्योगिक कामगारों को संगठित करने के लिए किसान सभाओं तथा ट्रेड यूनियनों को स्थापित किया गया। 31 अक्तूबर 1920 को अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की पहली बैठक बम्बई में हुई जबकि अखिल भारतीय किसान सभा की पहली बैठक 1928 में हुई। सभी महत्वपूर्ण नेता किसान सभा और ट्रेड यूनियन आंदोलन के साथ जुड़ गये। इस प्रकार अब स्वदेशी का अभिप्राय स्वशासन (self rule) और समाजवाद था।
- कांग्रेस की घोषणाओं और वार्षिक अधिवेशनों में गरीबी के प्रति चिन्ता प्रकट की गई। गांधी ने आधा पेट भोजन खाने वाले लाखों लोगों के विषय में चर्चा की और उन्हें अपने सरल जीवन दर्शन के साथ जोड़ने की कोशिश की। नेहरू ने स्पष्ट रूप से कहा कि कांग्रेस केवल भारत के राष्ट्रवादियों की भावना शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि "बड़े पैमाने पर सामाजिक परिवर्तन के लिए सर्वहारा वर्ग की आकाक्षांओं का भी प्रतिनिधित्व करती है।"
- 1938 में कांग्रेस ने औद्योगीकरण और ग्रामीण समाज के विकास के लिए कार्यक्रम के लिए राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) का गठन किया। भारत के औद्योगीकरण के लिए खादी और ग्रामोद्योगों के विकास को बहुत जरूरी माना गया।

- 1931 में कांग्रेस ने कराची अधिवेशन में मूल अधिकार और आर्थिक नीति का संकल्प पास किया। संकल्प में घोषणा की गई कि "जनसाधारण के शोषण को समाप्त करने के लिए जरूरी है कि राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ लाखों भूखों को आर्थिक स्वतंत्रता भी प्राप्त हो।" संकल्प में लोगों के मूल नागरिक अधिकारों की गारंटी दी गयी:

  क) बिना किसी जाति, धर्म और लिंग के भेदभाव के कानून के सामने सबकी समानता
  ख) सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव।
  ग) निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा

इसके अतिरिक्त निम्न कार्य करने का आश्वासन दिया गया:

क) लगान और भू-राजस्व में भारी कमी।
ख) अलाभकारी कृषि भूमि के लगान में छूट।
ग) कृषि ऋण से राहत और उधार के ब्याज पर नियंत्रण।
घ) कामगारों के लिये बेहतर हालात और उचित मजदूरी, काम के सीमित घंटे और महिला कामगारों की सुरक्षा।
ङ) कामगारों और किसानों को संगठित होने और यूनियन बनाने का अधिकार।
च) प्रमुख उद्योगों, खानों और यातायात के साधनों पर राज्य का स्वामित्व या नियंत्रण।

- करांची के बाद 1936 में फैजपुर कांग्रेस ने निम्नलिखित बातों के लिए आश्वासन दिया:

  क) कृषि-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन।
  ख) सामन्ती करों को समाप्त करना।
  ग) किसान और ट्रेड यूनियनों को हड़ताल करने का अधिकार

उपरोक्त कार्य भारतीयों के लिए समाजवादी मूल्यों तथा योजना के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। अंग्रेजों का समाजवाद के प्रति विरोध व कम्यूनिस्ट षड्यंत्रों का भय, जैसा कि कानपुर और मेरठ षड्यंत्रों में प्रकट हुआ राष्ट्रीय आंदोलन के समाजवादी मूल्यों का प्रचार करने में बाधक हुये।

बोध प्रश्न 3

1 चौथे दशक में राष्ट्रवादियों ने समाजवाद को निम्नलिखित दृष्टि से देखा (सही उत्तर पर (√) चिह्न लगायें)।

  क) एक दूरस्थ (distant) अर्थहीन लक्ष्य
  ख) ब्रिटिश शासन और योजनाबद्ध विकास
  ग) स्वराज्य और योजनाबद्ध आर्थिक विकास
  घ) अनियोजित विकास

2 1936 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने समाजवाद को इस प्रकार लोकप्रिय बनाया: (सही उत्तर (√) चिह्न लगायें)।

  क) स्वराज्य के साथ कृषि-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन, सामंती करों को समाप्त करना, किसान और ट्रेड यूनियनों को हड़ताल करने का अधिकार एवं प्रमुख उद्योगों, खानों और यातायात पर राज्य का स्वामित्व।
  ख) स्वराज्य के साथ केवल कृषि-संबंधी सुधार।
  ग) बिना स्वराज्य के किसानों और ट्रेड यूनियनों को हड़ताल करने के अधिकार।
  घ) केवल किसान यूनियनों को हड़ताल करने का अधिकार।

3 समाजवाद और स्वराज्य के बारे में पाँच पंक्तियों में बताइए.

.....

.....

.....

.....

.....

1.3.5 लोकतंत्र और नागरिक अधिकार

लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता के लिये लड़ाई भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का अभिन्न अंग थी। ब्रिटिश शासन निरंकुश था। अतः इस निरंकुशता के खिलाफ लड़ाई का अर्थ था--- लोकतांत्रिक मूल्यों के लिये लड़ाई। इसके लिये निःसंदेह लोकतांत्रिक संस्कृति की भावना का होना आवश्यक था।

13.5.1 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति

औपनिवेशिक राज्य मुख्यतः दमनकारी और निरंकुश था। इसलिए इसके द्वारा कायम की गई कानूनी और राजनैतिक व्यवस्था भेदभावपूर्ण और शासन में जनता की भागीदारी में बाधक थी। पुलिस और सेना की शक्ति से युक्त यह कानूनी राजनैतिक व्यवस्था केवल ब्रिटिश शासन के स्वार्थों के लिये ही उपयोगी थी। इसलिये इस संबंध में ब्रिटिश विद्वानों का यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में लोकतंत्र अंग्रेजों की देन है। अंग्रेजों ने 1909, 1919, और 1935 के कानूनों के द्वारा भारतीय जनता को स्वशासन के लिए प्रशिक्षित नहीं किया। बल्कि भारतीयों को प्रत्येक कदम पर यह अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ा और अंग्रेजी शासन हर कदम पर केवल सीमित रियायतें ही देता रहा।

13.5.2 लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये राष्ट्रवादी संघर्ष

कठोर विरोध के बावजूद भी राष्ट्रवादियों ने अंग्रेजों को निम्नलिखित माँगों को स्वीकार करने के लिये विवश किया :-

क) वोट का अधिकार

ख) चुनाव की व्यवस्था और भारतीयों का प्रतिनिधित्व

लोकतांत्रिक मूल्यों और कार्यों में अपनी आस्था दिखाने के लिये ही कांग्रेस ने अपने संगठन में चुनाव कराये। संघर्ष शुरू करने का निर्णय भी खुली बहस के द्वारा हुआ और संघर्ष भी खुले रूप से हुये। कांग्रेस ने विरोध करने के लोकतांत्रिक अधिकार को मान्यता दी। जब इस अर्थ प्रणाली को अहिंसात्मक जन संघर्ष में लागू किया गया तब इस कार्य-प्रणाली के आधारों की परीक्षा हुई। हालाँकि समय-समय पर कुछ एक तरफा निर्णय जैसे 1921 में असहयोग आंदोलन को वापस लेना या 1931 में सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना इस कार्य-प्रणाली की कमजोरियों की ओर संकेत किया। तब भी यह कहा जा सकता है कि लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना हुई।

बोध प्रश्न 4

1 औपनिवेशिक राज्य में कानूनी राजनैतिक व्यवस्था सही विकल्प पर (√) का चिह्न लगाएँ।

क) लोगों के हित में काम करती थी।

ख) लोकतांत्रिक थी।

ग) में लोकतांत्रिक संस्थाओं के कोई तत्व नहीं थे।

घ) में सीमित लोकतांत्रिक संस्थाएँ थीं और सेना और पुलिस की दमनकारी शक्ति की सहायता से औपनिवेशिक राज्य के हित में कार्य करती थी।

2 राष्ट्रवादियों ने— सही विकल्प पर (√) चिह्न लगाएँ।

क) उपनिवेशिक राज्य की कानूनी-राजनैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया।

ख) लोकतांत्रिक हिस्सेदारी की सीमित रियायतों को स्वीकार किया।

ग) सीमित रियायतों के विरुद्ध और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये लड़ाई लड़ी।

3 राष्ट्रवादियों द्वारा हठपूर्वक ली गई लोकतांत्रिक रियायतें क्या थीं?

13.6 मानवतावाद

राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीयों के नये मानवतावाद को उभारा। किसी भी संघर्ष में मानवीय अंश होते हैं, जो विभिन्न अभिरुचि के लोगों को सामान्य भाई-चारे में बाँधते हैं।

13.6.1 मानवतावाद के स्रोत

राष्ट्रीय आंदोलनों के मानवतावाद ने दो स्रोतों से प्रेरणा ली।

1 वैज्ञानिक चिंतन ने उन्हें सिखाया कि कुछ पिछड़ी और गैर-जरूरी संस्थाएँ जैसे जाति-प्रथा, कर्म काण्डी धर्म, बँधुआ मजदूर प्रथा और सती प्रथा आदि मनुष्य के विकास में बाधक है।

2 भारत की सांस्कृतिक अस्मिता (Identity) को पहचानना जिसका तात्पर्य था, भारत की विविध संस्कृतियों को एक राष्ट्रीय मुख्य धारा में एक साथ लाना।

13.6.2 मानवतावाद के लिए संघर्ष

समाजसुधारकों ने जाति प्रथा, अस्पृश्यता, सामंती दासता की विभिन्न प्रथाओं, और सती प्रथा पर सीधे प्रहार किये। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप मानवतावाद के लिए संघर्ष आरंभ हुआ। इसे प्राप्त करने के लिए राजाराम मोहन राय ने वैज्ञानिक विचार शक्ति का सहारा लिया। जबकि विवेकानंद और स्वामी दयानंद जैसे सुधारकों ने इन प्रथाओं पर प्रहार करने के लिए भारतीय सांस्कृतिक विरासत का सहारा लिया और भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ इन प्रथाओं की असंगतियों की तरफ संकेत

किया। यह भी बतलाया गया कि इन प्रथाओं ने हमारी संस्कृति को मनुष्य के मनुष्य द्वारा शोषण का अस्त्र बना दिया है। विवेकानंद ने विशेष रूप से अपनी पुस्तिका 'ह्वाई आई एम ए सोशलिस्ट' में इस पर बल दिया। हम देखते हैं कि इस काल में जाति प्रथा विरोधी आंदोलन का भी विकास हुआ। महाराष्ट्र में महात्मा फुले ने ब्राह्मण विचारधारा के विरुद्ध नीची जातियों को संगठित किया।

राष्ट्रीय आंदोलन में हम तीन धाराएँ देख सकते हैं जिन्होंने उपर्युक्त समाज सुधारकों से प्रेरणा ली।

1 एक विचारधारा की पहचान नेहरू से की जा सकती है। वैज्ञानिक मानवतावाद से प्रेरणा लेकर नेहरू ने सामाजिक - आर्थिक रूप से मानवतावादी प्रणाली का समर्थन किया। मार्क्सवाद को ऐसे समाज का आधार स्वीकार करते हुए उन्हें ने रूस जैसे समाजवादी मानवतावादी देशों को अपने मानवतावाद का आधार बनायायह मानवतावादी प्रणाली प्रत्येक को अपनी जरूरतों के अनुसार, प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार, के मूल सिद्धान्त पर आधारित थी। पश्चिम की अमीरी की श्रेणियों व अविकसित देशों के धर्मों व जाति की श्रेणियों पर आधारित न होकर यह मानवतावाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि व्यक्ति को उसके श्रम का उपयुक्त लाभ मिल सके और वह लाभ इतना हो कि उसकी मूल आवश्यकता पूरी हो सके।

2 गांधी ने हमारी सांस्कृतिक परम्परा पर बल दिया। जाति व धर्म की पहचानों से हटकर उन्होंने अपने धर्म से मानव समुदाय के बीच भाई चारे का तर्क दिया। इस तर्क से उन्हें खिलाफत आंदोलन और 20 के दशक व 40 के दशक व 40 के जातीय दंगों में हिन्दी-मुस्लिम एकता बनाने के प्रयासों में मदद मिली। इसी प्रकार उन्होंने अछूतों का नया नाम "हरिजन" दिया व उनके कल्याण के लिए उनके बीच कार्य किया।

3 तीसरी प्रमुख धारा का प्रतिपादन डा० अम्बेडकर ने किया। उन्होंने उग्रवादी उच्च जाति विरोधी आंदोलनों को राष्ट्रीय आंदोलनों में संगठित किया और उन्हें एक नई पहचान दी। इसी प्रकार की भूमिका मद्रास प्रांत में "जस्टिस" आंदोलन ने और केरल में श्री नारायण गुरू द्वारा चलाए गए "इड़ावास की जागृति आंदोलन" ने निभाई।

13.6.3 ब्रिटिश भूमिका

राष्ट्रीय आंदोलन में मानवतावाद के प्रति अंग्रेजों का रुख समय-समय पर बदलता रहा। आरम्भिक अवस्थाओं में उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध राजाराम मोहन राय आदि की मानवीय भावनाओं का समर्थन किया। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के साथ मानवतावाद के जुड़ जाने के बाद उन्होंने निदर्यतापूर्वक कुचल डाला। वास्तव में; राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ब्रिटिश शासन की अमानवीय व्यवस्था की क्रूरता को कोई भी स्पष्ट देख सकता था। उदाहरण के लिए जलियाँवाला बाग में हजारों निर्दोष व्यक्तियों की हत्या उनके अमावनीय कार्यों की साक्षी है। किन्तु इन शहीदों के बलिदान से राष्ट्रीय आंदोलन को लाभ हुआ। लोग यह समझ पाए कि मानवतावादी राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश शासन की अपेक्षा अधिक बेहतर है।

बोध प्रश्न 5

सही पर ($\surd$) चिह्न लगाइये .

1 राष्ट्रीय आंदोलन के मानवतावाद ने दो स्त्रोतों से प्रेरणा ली। वे थे
   क) पददलितों के प्रति दया और प्रेम।
   ख) ब्रिटिश शासन के प्रति निराशा और क्षोभ।
   ग) ब्रिटिश शासन के कार्य कलाप के तरीकों के प्रति प्रसन्नता और आनंद।
   घ) वैज्ञानिक चिंतन और सांस्कृतिक अस्मिता या पहचान (Identity) की चेतना, जिसने सिखलाया कि पिछड़ेपन और अंधविश्वासी मूल्यों को हटा देना चाहिए और राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्य धारा की खोज करनी चाहिए।

2 विवेकानंद ने कहा कि
   क) जातिवाद और कर्मकाण्डी धार्मिक प्रथाएँ सबसे अच्छे भारतीय मूल्य थे।
   ख) जाति प्रथा और कर्मकाण्ड मानव द्वारा निर्मित की गई संस्थाएँ थीं तथा इनका उद्देश्य मानव का शोषण करना था।
   ग) कर्मकाण्डी धर्म ईश्वर की देन हैं, जिसका पालन करना चाहिए।

3 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के तीन मानववादी पहलुओं का उल्लेख कीजिए ? वे एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.7 विश्व बंधुत्व और शांति

राष्ट्रीय आंदोलन को अपनी सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ना था। इसके लिए इसने साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार जारी रखा और इसे मानव और तर्कसंगत मूल्यों के साथ भी जोड़ दिया।

13.7.1 कुछ प्रारंभिक घटनाएँ

- 1885 के बाद से ही राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश स्वार्थों के लिये अफ्रीका और एशिया में भारतीय फौज और संसाधनों के प्रयोग का विरोध किया।
- फरवरी 1927 में राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से नेहरू ने ब्रसेल्स में साम्राज्यवादी उत्पीड़न के शिकार राष्ट्रों के सम्मेलन में भाग लिया। इस का संगठन आर्थिक व राजनैतिक साम्राज्यवाद से पीड़ित एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों के निर्वासित राजनीतिज्ञों व क्रांतिकारियों ने किया था। इस सम्मेलन ने साम्राज्यवाद विरोधी लीग को जन्म दिया और नेहरू इसकी कार्यकारिणी के एक सदस्य बने।
- 1937 में जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया उस समय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित करके भारतीयों से अपील की कि—"वे चीन के प्रति अपनी सहानुभूति के प्रतीक के रूप में जापानी वस्तुओं का उपयोग बंद कर दें।"

13.7.2 फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष

1930 के दशक में पश्चिमी योरोप में एक प्रमुख प्रभुत्ववादी प्रवृति उभरी। मजदूर और किसान आंदोलनों के दबाव और आर्थिक मंदी के कारण जर्मनी में नाज़ीवाद और इटली में फासीवाद के रूप में एक प्रजातंत्र विरोधी विचारधारा का जन्म हुआ। तीसरे दशक में इनके गठबंधन से संपूर्ण विकसित संसार और उपनिवेशों में भय की लहर दौड़ गयी। ब्रिटेन भी आतंकित हुआ। इस स्थिति में राष्ट्रीय आंदोलन को कोई एक रुख अपनाना था। मानवतावादी और प्रजातांत्रिक मूल्यों से प्रेरणा लेकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नेहरू के निर्देशन में फासीवाद विरोधी नीति अपनाई।

राष्ट्रीय आंदोलन तेजी से बढ़ रहा था परन्तु भारत ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लड़ाई में अपनी शक्ति बढाने के लिए फासीवाद का सहयोग नहीं लिया। वास्तव में, अंतर्राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मूल्यों को वरीयता देते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने, यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध में भाग नहीं लिया था, फिर भी जर्मनी या इटली को किसी प्रकार की नैतिक और धन-जन संबंधी सहायता देने से इनकार कर दिया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विदेश नीति लोकतांत्रिक और मानवीय मूल्यों के अनुरूप थी, इन्हीं का प्रचार राष्ट्रवादी कर रहे थे। यही कारण है कि स्वतंत्रता के बाद भारत गुट निरपेक्ष नीति का दृढ़ता से अनुसरण कर सका।

बोध प्रश्न 6

(सही विकल्प पर ✓ का चिह्न लगाएँ)।

1 राष्ट्रीय आंदोलन का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
   - क) इसके राष्ट्रवादी मूल्यों से जुड़ा था।
   - ख) इसके राष्ट्रवादी संघर्ष से अलग था।
   - ग) इसका कोई महत्व नहीं था।

2 राष्ट्रीय आंदोलन ने
   - क) अंग्रेजों से सुविधा प्राप्त करने के लिए फासीवाद को सहयोग दिया।
   - ख) युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन किया।
   - ग) न ही युद्ध में ब्रिटेन को सहयोग दिया और न ही ब्रिटेन से सुविधा प्राप्त करने के लिये फासीवाद को सहयोग दिया।

13.8 सारांश

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मूल्यों पर विचार करने के बाद निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ सामने आती हैं।

- एकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवादी विकास, लोकतंत्र, मानवतावादी मूल्यों और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की उत्पत्ति संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा हुई थी, यह अंग्रेजों द्वारा दिया गया उपहार नहीं था।
- वास्तव में अंग्रेजों ने इन मूल्यों के विकास का जोरदार विरोध किया और इस कारण संघर्ष और भी कठिन हो गया।
- ये मूल्य राष्ट्रीय सीमा तक ही सीमित नहीं थे बल्कि इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना प्रभाव बना लिया था।

13.9 शब्दावली

दूरवासी जमींदारी प्रथा (Absentee landlordism)
औपनिवेशिक भारत में बड़े भूभाग के स्वामी अपनी जमीन पर न रहकर शहरों में रहते थे। सामान्यतः ये परिश्रम से जमीन जोतने वाले मजदूरों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का एक बड़ा भाग लगान के रूप में वसूल करते थे।

कृषि संबंधी ऋणग्रस्तता (Agricultural indebtedness)
ऐसी स्थिति जिसमें गरीब खेतिहर वर्ग हमेशा महाजनों का ऋणी रहता था। महाजन प्रायः अत्याधिक ब्याज पर अग्रिम धनराशि खेतिहरों को बीज व अन्य कृषि संबंधी उपकरण खरीदने के लिये देते थे। ब्याज की ऊँची दर न चुका पाने की मजबूरी खेतिहर को इस जाल में फँसा देती थी और उसे फिर कर्ज लेना पड़ जाता था। इस प्रकार महाजन खेतिहर वर्ग पर अपना सख्त कब्जा बनाये रखते थे और स्थिति का कई प्रकार से अनुचित लाभ उठाते थे। 1876 में महाराष्ट्र में महाजन विरोधी दंगा इसी प्रथा के विरोध में हुआ था।

आर्थिक मंदी (Economic depression)
बहुत अधिक आर्थिक संकट की स्थिति, जहाँ अतिरिक्त उत्पादन की बहुलता के कारण बेरोजगारी और मूल्यों में अत्याधिक गिरावट हो जाती है।

मानवतावाद (Humanism)
एक मानव के नाते मनुष्य के विकास से संबद्ध मूल्य।

सुधारवादी (Reformist)
जो वस्तुतः समाज को समय के योग्य और अधिक अच्छा बनाने के लिये सुधार और संशोधन में विश्वास करता हो।

पृथक निर्वाचन क्षेत्र (Separate electorates)
अंग्रेजों ने विभिन्न धर्म तथा जातियों के आधार पर पृथक-पृथक निर्वाचन क्षेत्र और मताधिकार दिए जिससे हिन्दू और मुस्लिम के बीच "फूट" डाली जा सके।

दो राष्ट्र का सिद्धांत (Two Nation theory)
वह सिद्धान्त, जिसके द्वारा यह कहा गया कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में दो राष्ट्र थे एक हिन्दू और दूसरा मुस्लिम।

अलाभकारी कृषि भूमि (Uneconomic holding)
छोटे आकार की वह भूमि, जिस पर सामान्यतः उत्पादन जोतने वाले के लिये भी पर्याप्त नहीं होता।

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
1 (ग) 2 (ग) 3 देखें भाग 13.2

बोध प्रश्न 2
1 (ग) 2 (ङ) 3 (ङ) 4 देखें भाग 13.3

बोध प्रश्न 3
1 (ग) 2 (क) 3 देखें भाग 13.4

बोध प्रश्न 4
1 (ख) 2 (ग) 3 देखें भाग 13.5.2

बोध प्रश्न 5
1 (घ) 2 (ख) 3 देखें भाग 13.6.2

बोध प्रश्न 6
1 (क) 2 (ग)

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

बिपन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरूण दे, **स्वतंत्रता संग्राम** नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1986

अयोध्या सिंह, **भारत का मुक्ति संग्राम**, मैकमिलन, दिल्ली, 1977

ए० आर० देसाई, **भारतीय राष्ट्रवाद की समाजिक पृष्ठभूमि**, दिल्ली

रजनी पामदत्त, **आज का भारत**, दिल्ली

ताराचन्द, **भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास**, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली

सव्यसाची भट्टाचार्य, **आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990.

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञानों में आधार पाठ्यक्रम

खण्ड 4

राष्ट्रीय अखंडता

इकाई 19

राष्ट्रीय एकता की समस्याएँ : औपनिवेशिक विरासत 5

इकाई 20

राष्ट्रीय एकता की समस्याएँ : जाति एवं जनजाति 19

इकाई 21

क्षेत्रीय असंतुलन 35

इकाई 22

बहु-धर्म समाज : धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत 49

खण्ड 5 राष्ट्रीय अखंडता

यह खंड राष्ट्रीय अखंडता के बारे में है। इस खंड की इकाइयों में राष्ट्रीय एकता से संबंधित समस्याओं पर विचार किया गया है। इकाई 19 का संबंध दो प्रमुख समस्याओं, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है। इसमें सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने में औपनिवेशिक शासकों की जिम्मेदारी पर विचार किया गया है। साथ ही इसमें यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन ने इन समस्याओं का सामना करने की कोशिश की। "फूट डालो और राज करो" की अंग्रेजों की नीति न केवल विधान मंडलों और नौकरियों में सांप्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व देने के संबंध में थी, बल्कि इससे लड़ाकू नस्ल जैसी धारणाओं की भी शुरुआत हुई।

इकाई 20 में राष्ट्रीय एकता की एक दूसरी समस्या, जाति एवं जनजाति पर विचार किया गया है। इस इकाई में हमारे समाज पर जाति-व्यवस्था के पड़ने वाले प्रभाव पर प्रकाश डाला गया है और यह भी बताया गया है कि इसने चुनाव की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है। इसके अलावा, इस इकाई में जनजातीय समाज की समस्याओं का भी उल्लेख किया गया है और जनजातियों पर आधुनिकीकरण के प्रभाव का जिक्र भी किया गया है। यह भी बताया गया है कि इन जनजातियों के विकास के लिए भारत में क्या-क्या उपाय किए गये हैं।

इकाई 21 आपको भारत में क्षेत्रीय विकास की समस्याओं और उसके स्तरों से परिचित कराती है। इस इकाई में कृषि तथा औद्योगिक विकास से संबंधित अंतर-क्षेत्रीय विषमताओं पर विचार किया गया है और यह बताया गया है कि क्षेत्रीय विकास की संतुलित और नियोजित प्रक्रिया के ज़रिए इन विषमताओं का किस प्रकार सामना किया जा सकता है।

इकाई 22 में हमने यह प्रयत्न किया है कि आपको धर्म-निरपेक्षता की धारणा से परिचित कराया जाए। इसका क्या अर्थ है, इसके पालन में क्या-क्या समस्याएँ सामने आती हैं और इन समस्याओं का सामना कैसे किया जा सकता है? इस इकाई से आपको यह भी पता चलेगा कि पश्चिमी देशों और भारत में धर्म-निरपेक्षता के बारे में क्या-क्या धारणाएँ हैं और उसे किस रूप में देखा जाता है।

इकाई 19 राष्ट्रीय एकता की समस्याएँ : औपनिवेशिक विरासत

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 विचार का विकास
19.3 राष्ट्रीय एकता में योगदान देने वाले कारक
19.4 अंग्रेजों की भूमिका और उसका प्रभाव
19.4.1 किसान
19.4.2 जनजातियाँ
19.4.3 शिक्षा और सुधार
19.4.4 लड़ाकू नस्ल की संकल्पना
19.5 इतिहास के साथ खिलवाड़
19.6 सांप्रदायिक तनावों और सांप्रदायिक राजनीति की उत्पत्ति
19.6.1 विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व में
19.6.2 नौकरियों में
19.6.3 ज़मींदार और किसानों के संबंधों में
19.6.4 समाज और संस्कृति में
19.7 क्षेत्रीयता की भावनाओं और पहचान का विकास
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में राष्ट्रीय एकता से संबंधित समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। यहाँ सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में दो प्रमुख समस्याओं के रूप में इंगित किया गया है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पाएँगे कि :

- सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता की संकल्पनाएँ क्या हैं।
- इन दोनों सकल्पनाओं के उद्भव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है।
- इसके लिए मुख्यत: पिछली शताब्दी की घटनाओं का सहारा लिया गया है।
- ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज में जोड़-तोड़ के लिए कौन से तरीके अपनाए और भारत में मौजूदा सांप्रदायिक तनावों के लिए औपनिवेशिक शासक किस हद तक ज़िम्मेदार हैं।

19.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज बहु-जातीय समाज है। यहाँ जातीय समूहों की संख्या बहुत अधिक है और इनके आकार में भी बहुत भिन्नता है। कहीं यह बेहद सीमित जातीय और जनजातीय समूह हैं तो कहीं विशाल भाषायी और धार्मिक समूह। किसी एक समूह का स्पष्ट प्रभुत्व नहीं है और विभिन्न समूहों के बीच सीमाएँ भी निश्चित नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में भारतीय एकता के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने में बुनियादी कठिनाइयां आती हैं। कुछ समय से राजनीतिक घटनाक्रम से संबंधित साहित्य में राष्ट्रीय एकता को एक ऐसी नीति के रूप में मान्यता देने का रिवाज चल रहा है जो समूची जनसंख्या को एक पहचान देना चाहती है और जिसमें केवल व्यक्तिगत अधिकारों, सुविधाओं और कर्तव्यों को मान्यता दी जाती है। ऐसी नीति को राजनीतिक एकता की उस नीति से भिन्न समझा जाना चाहिए जो केवल एक राजनीतिक इकाई की एकजुटता और प्रादेशिक अखंडता बनाए रखना चाहती है, लेकिन उसके लिए विभिन्न समूहों का किसी विशिष्ट अथवा एकजुट समूह में सांस्कृतिक विलय आवश्यक नहीं है। भारतीय एकता की इन दो प्रक्रियाओं की

वैधता पर ध्यान दिए बिना ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं ने अलग-अलग या संयुक्त रूप से राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में कितना योगदान किया है। वास्तव में आज विघटनकारी तत्व अपने निहित स्वार्थों के लिए भाषा, धर्म, जाति, जनजाति और क्षेत्र के नाम पर भारतीय एकता के ताने-बाने को ही छिन्न-भिन्न करने का षड्यंत्र कर रहे हैं। इस इकाई में हम राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता की समस्याओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करेंगे।

19.2 विचार का विकास

विद्वानों में इस विषय पर काफ़ी विवाद रहा है कि भारत एक ऐसी समग्र संस्कृति का नाम है जिसका राजनीतिक और सांस्कृतिक अस्तित्व बहुत स्पष्ट है और जिसके हर अंग की एक अलग पहचान है अथवा भारत एक निश्चित भौगोलिक सीमा के भीतर अलग-अलग राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों का समूह मात्र है। 1880 के दशक तक यह विवाद काफ़ी मुखर हो चुका था। जॉन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक 'इंडिया' में पाठकों को बतलाया कि भारत के बारे में जानने लायक सबसे जरूरी बात यह है कि "भारत नाम का ऐसा कोई देश न तो कभी था और न आज है जिसमें यूरोपीय मानदंडों के अनुसार, भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक, किसी भी तरह की एकता हो।" भारत के क्षेत्रीय स्वरूप की इस ब्रिटिश कल्पना के विरोध में विभिन्न भारतीय लेखकों जैसे डी.आर. भंडारकर, बंकिमचंद्र, विवेकानंद, अरविंद तथा कई अन्य राष्ट्रीय लेखकों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि भारत नाम का ऐसा देश हमेशा था और है, जहाँ भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के अनेक सबूत हैं। इस विवादास्पद स्थिति को सुलझाने के प्रयत्न में विंसैंट स्मिथ ने अपनी पुस्तक "आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इंडिया" में इन परस्पर विरोधी विचारों में तालमेल बैठाने की कोशिश करते हुए कहा है कि "भारत की विविधता में एकता है।" जवाहरलाल नेहरू ने इस एकता के धर्म निरपेक्ष स्वरूप का वर्णन करने के लिए इसी वाक्य का प्रयोग किया था।

19.3 राष्ट्रीय एकता में योगदान देने वाले कारक

आधुनिक दृष्टिकोण से देखने पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पहले एक राष्ट्र के रूप में भारत का कोई अस्तित्व नहीं था। परंत भारत में धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक सामंजस्य हमेशा रहा है अत: भारतीय इतिहास की निरंतरता कभी भंग नहीं हुई। अंग्रेजी शासन ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में विकसित होने के लिए आधारभूत ढाँचा दिया, अंग्रेजों ने देश के पूरे भौगोलिक क्षेत्र को एक प्रशासन के अधीन रखा। उन्होंने कानून और प्रशासन की समान प्रणाली लागू करके देश को एकसूत्र में बाँधा। संचार और यातायात के आधुनिक साधनों जैसे रेलवे, टेलीग्राफ़, आधुनिक डाक व्यवस्था, सड़कों और मोटर वाहनों के विकास से भी देश को एकजुट करने में मदद मिली।

ग्रामीण और स्थानीय स्तर पर आत्मनिर्भरता समाप्त होने और अंदरूनी व्यापार को बढ़ावा मिलने से ऐसी राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण बना जो शायद एक भारतीय राष्ट्र का आधार बन सकती थी। किंतु यदि यह मान लिया जाए कि अंग्रेजों ने अनजाने ही भारतीय एकता के विकास में योगदान दिया तो यह भी मानना होगा कि "फूट डालो और राज करो" की उनकी सोची-समझी नीति ने अनजाने में हासिल इस उपलब्धि पर पानी फेर दिया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

1) निम्नलिखित में जो कथन सही है उस पर (√) और जो गलत है उन पर (×) का निशान लगाएँ।

   i) जान स्ट्रैची ने भारत को ऐसा राष्ट्र बताया है जो काफी पहले से मौजूद था। ☐

   ii) भारत में सांस्कृतिक सामंजस्य का इतिहास बहुत लंबा है। ☐

   iii) भारत की विविधता में एकता है। ☐

2) भारत एक राष्ट्र है, इस बारे में राष्ट्रवादियों के क्या विचार थे? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

19.4 अंग्रेजों की भूमिका और उसका प्रभाव

1757 से ब्रिटिश शासकों ने भारत पर अपने नियंत्रण का उपयोग केवल अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए किया। किंतु उनके शासन का स्वरूप शुरू से अंत तक एक सा नहीं रहा। इस औपनिवेशिक शासन का ढंग, नीतियाँ और प्रभाव ब्रिटेन के अपने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक विकास में बदलाव के साथ-साथ बदलते रहे :

i) ब्रिटिश शासन के पहले चरण में तो प्रशासन, न्यायिक प्रणाली, परिवहन और संचार, कृषि या औद्योगिक उत्पादन के तरीकों या शैक्षिक और बौद्धिक क्षेत्रों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया गया।

ii) दूसरे चरण में भारतीय अर्थव्यवस्था में ऐसा फेरबदल किया गया कि वह ब्रिटेन के औद्योगिक पूँजीपतियों के हितों की पूर्ति कर सके। भारतीय अर्थव्यवस्था यह नई आर्थिक भूमिका पूरानी व्यवस्था में नहीं निभा सकती थी। इसलिए 1813 के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपने इन्हीं हितों की रक्षा के लिए भारतीय प्रशासन, अर्थव्यवस्था और समाज में परिवर्तन करना शुरू कर दिया। इस प्रकार नए कानूनों और वैधानिक संहिताओं पर आधारित नई न्यायिक व्यवस्था शुरू हुई। इनमें भारतीय दंड संहिता और दीवानी प्रक्रिया संहिता शामिल हैं। इस नई व्यवस्था को चलाने के लिए योग्य लोगों की भी ज़रूरत थी, इसलिए 1813 के पश्चात लागू आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का 1813 के बाद और विस्तार किया गया। इस अवधि के दौरान ब्रिटिश राजनेताओं और भारतीय अंग्रेजी प्रशासकों में उदार साम्राज्यवादी राजनीतिक विचारधारा भी पनपी जिससे भारत के लोगों को अपना शासन खुद चलाना सिखाने की बातें भी होने लगीं।

iii) भारत में अंग्रेज़ी राज का तीसरा चरण लगभग उसी समय शुरू हुआ जब दुनिया की आर्थिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो रहे थे। उन्हीं दिनों अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, रूस और जापान औद्योगिक शक्तियों के रूप में उभरे, जिसके फलस्वरूप दुनिया भर में मंडियों और उपनिवेशों के लिए होड़ शुरू हो गई। अतः अंग्रेज़ी राज के इस चरण में साम्राज्यवादी नियंत्रण की लहर फिर उभरी। स्व-प्रशासन के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करने की सारी बातें समाप्त हो गईं। इसके विपरीत यह समझाया जाने लगा कि चूँकि भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से भारत के लोग अपना शासन स्वयं चलाने में हमेशा के लिए अयोग्य हो गए हैं, अतः अंग्रेजों का राज जारी रहना ज़रूरी है। अपना शासन जारी रखने के लिए उन्होंने अनेक उपाय किए :

   i) जब उन्होंने देखा कि आधुनिकीकरण के फलस्वरूप समाज में ऐसी शक्तियाँ पैदा हो रही हैं जो साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक शासन की शोषक व्यवस्था की विरोधी हैं, तो उन्होंने भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया।

   ii) दूसरे, भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रबल वेग को देखते हुए उन्होंने लोगों में फूट डाले रखने के हर संभव प्रयास किए ताकि एक मज़बूत एकजुट आंदोलन कभी भी सिर न उठा सके।

19वीं शताब्दी के अंत तक भारत पूरी तरह ग्रेट ब्रिटेन का उपनिवेश बन चुका था। इंग्लैंड ज्यों-ज्यों एक प्रमुख पूँजीवादी देश बनता गया त्यों-त्यों भारत का विकास मंद होता गया और अर्थव्यवस्था पिछड़ती गई। अंग्रेज़ी शासन की सभी नीतियों का उद्देश्य भारत की अर्थव्यवस्था को ऐसी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदलना था जो सिर्फ ब्रिटिश सरकार, ब्रिटिश उत्पादकों, ब्रिटिश पूँजी निवेश और विशाल साम्राज्यवादी प्रशासन के हितों को पूरा करे। भारत में अंग्रेजी शासकों की सभी प्रशासनिक नीतियों में सबसे महत्वपूर्ण थी, लगान व्यवस्था, जिसका देश के लोगों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

19.4.1 किसान

ब्रिटेन द्वारा लागू की गई दो प्रमुख भू-राजस्व और काश्तकारी प्रणालियाँ थीं– ज़मींदारी प्रथा और रैयतवारी प्रथा। (ज़मींदारी प्रथा का संशोधित रूप ही बाद में महालवारी प्रथा बना।)

इस परिवर्तन का उद्देश्य उत्पादकता बढ़ाकर भारत की कृषि अर्थव्यवस्था या लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार करना नहीं था बल्कि इसका मुख्य उद्देश्य समाज में जमींदारों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो अपने अधिकारों और हैसियत के लिए अंग्रेजों पर निर्भर रहता और इस बात का ध्यान रखता कि खेती से बची सारी आमदनी का उपयोग अंग्रेज़ी शासन के आर्थिक हितों के लिए किया जाए।

इन दोनों प्रणालियों में अंततः हानि कृषकों को ही उठानी पड़ी। ज़मींदारी प्रथा के अंतर्गत सरकार के लिए लगान वसूलने वाले किसान तो निजी ज़मींदार बनकर गाँव के मुखिया बन गए और किसान बेसहारा काश्तकार हो गए। किंतु इन नए ज़मींदारों को अपने काश्तकारों से वसूले गए लगान का एक बड़ा हिस्सा सरकार को देना पड़ता था। रैयतबारी प्रथा में सरकार काश्तकारों से सीधे ही लगान वसूल करती थी। यद्यपि स्वामित्व के अधिकार को मान्यता दी गई थी किंतु लगान दर इतनी ऊँची थी कि उस अधिकार का कोई खास अर्थ नहीं रह गया था। इन दो व्यवस्थाओं के माध्यम से सरकार खुद ही ज़मींदार बन गई।

इन नीतियों का एक नुकसान यह हुआ कि समाज में महाजनों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जिसका आर्थिक दबदबा तो था ही राजनीतिक शक्ति भी काफी थी। ये महाजन अक्सर नई न्यायिक और प्रशासनिक व्यवस्था को अपने पक्ष में करके लाभ उठा लेते थे। ग्रामवासियों के जीवन में, ज़मींदारों, साहूकारों और व्यापारियों के बढ़ते हस्तक्षेप ने कृषि अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया। इन नीतियों ने समाज में नए वर्गों को जन्म दिया। जिनमें ज़मींदार, बिचौलिए, महाजन सबसे ऊपर थे और बेसहारा काश्तकार, बटाई पर खेती करने वाले और कृषि-मजदूर सबसे नीचे थे। इससे सिर्फ शोषण ही नहीं बढ़ा, बल्कि समाज में दरारें भी बढ़ीं जिससे और अधिक तनाव पैदा हुआ।

19.4.2 जनजातियाँ

ब्रिटिश शासन और उसकी कृषि के व्यापारीकरण की नीतियों ने जनजातीय क्षेत्रों में महाजनों, व्यापारियों, भूमि हड़पने वालों और ठेकेदारों जैसे मैदानी क्षेत्रों से आए बाहरी तत्वों के हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को और मज़बूत किया। जन-जातीय लोगों ने अंग्रेजों के बढ़ते हुए नियंत्रण और औपनिवेशिक प्रशासन के दखल का विरोध किया। उन्हें सबसे अधिक एतराज़ इस बात पर था कि शोषण करने वालों के विभिन्न वर्ग उनके सीधे-सादे और दबे-ढके जीवन में हस्तक्षेप कर रहे हैं। 1870 और 1880 के दशक से राजस्व प्राप्ति के लिए वन क्षेत्रों पर औपनिवेशिक प्रशासन का नियंत्रण और कड़ा हो गया। 1867 से आरक्षित वनों में जगह बदल-बदल कर खेती करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। खेती की इस पद्धति में हल-बैल की ज़रूरत नहीं पड़ती थी और गाँवों में सबसे निर्धन लोगों की गुज़र-बसर के लिए यह अक्सर बहुत आवश्यक होती थी लकड़ी एकत्र करने और पशु चराने की सुविधाओं पर रोक लगाकर वन संपदा पर एकाधिकार कर लेने के प्रयत्न भी किए गए। जनजातीय लोगों ने जितने साहस और बलिदान की भावना से इनका विरोध किया सरकार ने उतनी ही बर्बरता से उनका दमन किया। इस संदर्भ में 1820 से 1837 तक के कोल विद्रोह, 1855-56 के संथाल विद्रोह, 1879 के रम्पा विद्रोह तथा 1895-1901 के मुंडा विद्रोह का उल्लेख किया जा सकता है।

व्यापक विषमताएँ और असंतुलन पैदा करने वाली ये दरारें कई प्रकार की थीं, जैसे क्षेत्रीय, सांप्रदायिक, जन-जातीय तथा गैर जन-जातीय, ऊँची जाति और नीची जाति शिक्षित तथा अशिक्षित इत्यादि। इन दरारों और असंतुलनों के कारण एकजुट राष्ट्रीय आंदोलन के रास्ते में समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सभी लोगों को एकजुट करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन जाति, लिंग या धर्म के नाम पर होने वाले हर तरह के भेदभाव और असमानता को दूर करने के लिए वचनबद्ध हो गया।

19.4.3 शिक्षा और सुधार

पाश्चात्य देशों के संपर्क से भारत में आधुनिक विचारधारा का आगमन भी हुआ और भारतीयों के बौद्धिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आने लगा। उनसे भारत में जनतंत्र, लोगों की प्रभुसत्ता, तर्कवादी और मानवतावादी विचारों का विकास हुआ जो कि उपनिवेशवादी शासकों की इच्छा के विरुद्ध थे। 1813 के बाद से भारत में लागू आधुनिक शिक्षा प्रणाली बहुत सीमित थी और लगभग 100 वर्षों तक यह पारंपरिक शिक्षा प्रणाली के विनाश से उत्पन्न अभाव को भी पूरा नहीं कर पाई। प्राथमिक और सामाजिक शिक्षा की तो अनदेखी की ही जाती थी; बाद में अंग्रेज उच्च

शिक्षा का भी विरोध करने लगे क्योंकि उसके ज़रिए राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा मिलने लगा था। शिक्षा का ढाँचा, बनावट, लक्ष्य, तरीके, पाठ्यक्रम, और विषयवस्तु सभी ऐसे बनाए गए जो उपनिवेशवाद के लिए लाभकारी हो सकें। भारतीय शिक्षा-व्यवस्था के औपनिवेशिक स्वरूप से उत्पन्न कुछ पहलू जानने लायक हैं :

- आधुनिक तकनीकी शिक्षा की पूरी तरह उपेक्षा की गई जबकि आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए यह बुनियादी आवश्यकता थी।
- फिर पढ़ने-पढ़ाने के लिए भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए रखने पर बल दिया गया। इसके फलस्वरूप, शिक्षा का प्रसार जनसाधारण तक नहीं हो सका। जिससे शिक्षित कुलीनवर्ग और जनसाधारण के बीच एक गहरी सामाजिक, भाषाई और सांस्कृतिक खाई उत्पन्न हो गई। शिक्षा पर शहरों और नगरों के निवासियों तथा उच्च और मध्यम वर्गों का एकछत्र अधिकार हो गया।

शुरू-शुरू में तो औपनिवेशिक शासन ने सामाजिक सुधारों को प्रोत्साहित किया था किंतु धीरे-धीरे उपनिवेशवाद की रूढ़िवादिता और उसके दीर्घकालिक हितों के कारण यह रवैया बदला। अंग्रेजों ने सुधारकों को समर्थन देना ही बंद नहीं किया बल्कि, भारतीय समाज के उन रूढ़िवादी, प्रतिक्रियावादी पिछड़े तत्वों को सहारा भी दिया जो कि स्वेच्छा से उनके हाथों में खेलने लगे थे।

19.4.4 लड़ाकू नस्ल की संकल्पना

भारतीयों को लड़ाकू और गैर-लड़ाकू नस्लों में बाँटने और सेना में भर्ती तथा रेजीमेंटों का वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर करने की ब्रिटिश नीति भी राष्ट्रीय एकता के सिद्धांत के विरुद्ध थी। उदाहरण के तौर पर, बंगालियों को यह कहकर बदनाम किया गया कि उनमें पुरुषोचित साहस का अभाव है। टी.बी. मैकिनले ने अपने आलोचनात्मक और ऐतिहासिक निबंधों में वारेन हेस्टिंग्स पर एक निबंध में लिखा है, "बंगाली पुरुष का शारीरिक गठन इतना दुर्बल होता है कि वह स्त्रियों जैसे लगता है। वह हमेशा खोखले अहंकार में जीता है। उसका स्वभाव आलसी, शरीर नाजुक और हावभाव ढीले-ढाले होते हैं। सदियों से ही साहसी और ताकतवर लोगों ने उसका दमन किया है। उसका शारीरिक गठन और उसकी परिस्थितियाँ साहस, स्वतंत्रता और सत्यनिष्ठा जैसे गुणों के उपयुक्त नहीं हैं।"

निस्संदेह इस प्रकार से लांछित करना दुर्भावनापूर्ण और अनुचित था। ऐसे ही पूर्वाग्रहों के आधार पर सिख, जाट, राजपूत और मराठा रेजीमेंट बनाई गई। इस प्रकार सेना राष्ट्रीय बल न होकर क्षेत्र, संप्रदाय या जातिगत हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली इकाइयों में बँट गई। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि स्वतंत्रता के बाद भी यह प्रक्रिया जारी है। औपनिवेशिक शासन से विरासत में मिली इन बुराइयों और कुप्रथाओं से छुटकारा पाने के उपायों पर हाल ही में नए सिरे से विचार शुरू हुआ है।

वास्तव में, 19वीं सदी के अंत से ही "फूट डालो और राज करो" की नीति अंग्रेज़ी औपनिवेशिक शासन की आधारभूत और व्यापक नीति बन गई। इस नीति ने भारतीयों को केवल दो अलग-अलग धार्मिक गुटों में ही नहीं बाँटा बल्कि उन्हें अधिक से अधिक परस्पर विरोधी गुटों में बाँटने की भी कोशिश की। इस प्रकार अंग्रेज़ों ने प्रांतीयता और क्षेत्रीयता को बढ़ावा दिया तथा बंगाली और बिहारी, या पंजाबी और बंगाली, लड़ाकू और गैर-लड़ाकू नस्ल, भाषा और भाषा, जाति और जाति के बीच दीवारें खड़ी कर दीं। अंग्रेजी शासकों ने लोगों को बाँटने का यह बुनियादी लक्ष्य हासिल करने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाए।

बोध प्रश्न 2

1 औपनिवेशिक नीतियों का जनजातियों पर क्या-क्या प्रभाव पड़ा? उसका वर्णन 10 पंक्तियों में करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में से जो कथन सही हों उन पर (√) और जो गलत हों उन पर (×) का निशान लगाएँ।

i) औपनिवेशिक शिक्षा नीति के फलस्वरूप कुलीन वर्गों और जनसाधारण के बीच खाई पैदा हो गई।

ii) भारतीयों को लड़ाकू और गैर-लड़ाकू नस्लों में बाँटना, अंग्रेज़ों की "फूट डालो और राज करो" की नीति का ही नतीजा था।

iii) अंग्रेजों ने भारतीयों को लड़ाकू और गैर-लड़ाकू नस्लों में बाँट कर भारत की एकता को मज़बूत किया।

iv) अंग्रेजों ने प्रांतीयता को बढ़ावा दिया।

3 अंग्रेजों ने सामाजिक सुधारों के लिए समर्थन देना क्यों बंद कर दिया। उत्तर पाँच पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

19.5 इतिहास के साथ खिलवाड़

भारतीय इतिहास को झुठलाने के हर संभव प्रयास किए गए। एक तो अंग्रेजों ने यह दिखाने की कोशिश की कि भारत पर हमेशा निरंकुश शासकों और तानाशाहों का शासन रहा है, जिसका साफ मतलब यही था कि जब तक अंग्रेज भारत की जनता को कानून का शासन देते हैं तब तक वे तानाशाह भी बने रह सकते हैं।

दूसरे उन्होंने यह साबित करना चाहा कि अंग्रेजी शासन ने वास्तव में हिंदुओं को मुसलमानों के दुर्व्यवहार से छुटकारा दिलाया है।

तीसरे उन्होंने बार-बार यह दावा किया कि हिंदू और मुसलमान हमेशा से अलग-अलग गुटों में बँटे हुए थे।

भारतीय इतिहास को हिंदू काल मुस्लिम काल, और ब्रिटिश काल में बाँटने की यह कोशिश तथाकथित विभाजन और अलगाव दिखाने के लिए जानबूझकर की गई।
भारतीय इतिहास, विशेषकर, प्रचीन और मध्यकाल के इतिहास का ऐसा बिगड़ा हुआ और अवैज्ञानिक रूप से लोगों में साप्रदायिक विचारधारा फैलाने में प्रमुख कारण बना। स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ाए जाने वाले भारतीय इतिहास ने भी काफी हद तक धार्मिक भावनाएं भड़काई। भारतीय इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या सबसे पहले साम्राज्यवादी लेखकों ने और बाद में अन्य लेखकों ने की। एच.एम. इलियट ने भारत में मुस्लिम शासन की चर्चा करते हुए लिखा है:

> मुसलमानों के साथ झगड़ने पर हिंदुओं की हत्या, जुलूसों, पूजा, और अभिषेकों पर आम प्रतिबंध, अन्य असहनशील कदम, मूर्तियों का तोड़ा जाना, मंदिर गिराया जाना, जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन और विवाह, देश निकाला और सामान की जब्ती, हत्याएँ और नरसंहार और यह सब करने वाले निरंकुश शासकों की विलासिता और नशे की आदतों की थोड़ी बहुत झलक हमने देखी हैं।"

इलियट ने स्वीकार किया है कि यह इतिहास लिखने का उसका उद्देश्य "भारत के मूल निवासियों

को यह अहसास कराना था कि ब्रिटिश शासन की नरमी और औचित्य से उन्हें कितना अधिक लाभ हो रहा है"। साथ ही वह देश में उभरते हुए राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग को अंग्रेज़ों के आने से पहले के भारत की सच्चाई दिखाना चाहता था ताकि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आलोचना करना बंद कर दें।

दुर्भाग्यवश बहुत से भारतीय लेखक भी जाने-अनजाने साम्राज्यवादी इतिहासकारों के इन पूर्वाग्रहों के शिकार हो गए और उन्होंने सभी ऐतिहासिक तथ्यों को अनदेखा करके अपने वर्तमान को अतीत बताना शुरू कर दिया। वे मुस्लिम शासन काल को उसी दृष्टिकोण से देखने लगे या साम्राज्य की स्थापना के लिए हिंदुओं की कोशिशों का गुणगान करने लगे। अत: सर जदुनाथ सरकार ने (अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ़ औरंगज़ेब खंड III में) लिखा :

> "पूरी जनता का धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बनाना और हर प्रकार का विरोध समाप्त करना मुस्लिम शासन का लक्ष्य था। यदि समाज में कोई काफ़िर रह भी जाता, तो उसे एक आवश्यक बुराई समझकर कुछ समय तक बर्दाश्त किया जाता। उसे राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से कमज़ोर करके, सार्वजनिक कोष से घूस दी जाती ताकि बहुत जल्द उसे आध्यात्मिक ज्ञान हो और सच्चे मुसलमानों की सूची में उसका भी नाम दर्ज हो जाए।"

इसी प्रकार ए.ए... श्रीवास्तव ने (अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया सन् 1000-1707 में) लिखा है :

> "भारत पर विजय पाने तथा उसे अपना गुलाम बनाने का तुर्कों का अभियान 350 साल से भी अधिक के पूरे शासन काल में ज़ारी रहा। इस दौरान लाखों हिंदुओं की हत्या हुई और लाखों को युद्ध के बाद मौत के घाट उतार दिया गया। लाखों महिलाओं और बच्चों का धर्म बदलकर उन्हें गुलाम की तरह बेच दिया गया" इस काल में हिंदू जनता को राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से भारी कष्ट उठाना पड़ा। उन्हें न केवल राजा, मंत्री, सूबेदार और सेनापति के पद से हटाया गया, बल्कि उनके साथ बड़ी बेरहमी का व्यवहार भी किया गया।"

इतिहास पढ़ाए जाने और इतिहास के इस विकृत रूप के प्रसार से सांप्रदायिकता फैलने में कितनी मदद मिली, यह समकालीन प्रेक्षकों ने भी स्पष्ट रूप से महसूस किया है। गांधी जी ने लिखा है कि हमारे देश में सांप्रदायिक सद्भाव तब तक स्थायी रूप से स्थापित नहीं हो सकता जब तक स्कूलों व कालेजों में इतिहास की किताबों में इतिहास इतने अधिक विकृत रूप में पढ़ाया जाता रहेगा।

जून 1932 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त कानपुर दंगा जाँच समिति की रिपोर्ट की प्रस्तावना में कहा गया था :

> "हमारा विचार है कि जब तक लोग अपने अतीत को सही दृष्टिकोण में नहीं देखेंगे तब तक आपसी विश्वास पुन: पैदा करना और वर्तमान मतभेदों को वास्तव में हमेशा के लिए समाप्त कर पाना बहुत कठिन या लगभग असंभव ही है। अत: हम मानते हैं कि हिंदू-मुस्लिम समस्या के वास्तविक समाधान के लिए सबसे पहला और सबसे जरूरी कदम इतिहास में उत्पन्न इन गलतफ़हमियों को समाप्त करना है।"

इतिहास के सांप्रदायिक स्वरूप का प्रचार पाठ्य पुस्तकों से भी ज्यादा, कविताओं, नाटकों, ऐतिहासिक उपन्यासों और लघु कहानियों, समाचार पत्रों और लोकप्रिय पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, सार्वजनिक मंचों से दिए जाने वाले भाषणों और निजी चर्चाओं के माध्यम से हुआ।

इस प्रकार बराबर यह साबित करने की कोशिश की जाती रही है कि वर्तमान सांप्रदायिक राजनीति की जड़ें काफ़ी पुरानी हैं। बल्कि वास्तव में यह मुस्लिम शासन काल की ही देन है। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सांप्रदायिकता हमारे अतीत या मध्यकाल की देन नहीं है। प्रो. विपिन चंद्र के शब्दों में, "यह आधुनिक विचारधारा ही थी जिसने प्राचीन विचारधाराओं और संस्थाओं एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कुछ पहलुओं और तत्वों का समावेश करके नई विचारधारा और नई राजनीतिक दृष्टि विकसित की।"

19.6 सांप्रदायिक तनावों और सांप्रदायिक राजनीति की उत्पत्ति

सन् 1857 के बाद ऐसी राजनीति और विचारधारा के विकास से हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की खाई और गहरी हो गई। उनकी मान्यताओं के बीच भारी मतभेदों को उभरने का मौका दिया गया और सांप्रदायिक राजनीति तथा सांप्रदायिक विचारधारा के विकास ने उस समय मौजूद सद्भाव और सौहार्द का वातावरण खराब कर दिया। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध (1906-07, 1918,

1926, 1930, 1946) में ही प्रमुख सांप्रदायिक दंगे हुए।

सांप्रदायिक तनावों और सांप्रदायिकता की राजनीति के बीच एक सैद्धांतिक अंतर है।

प्रो. विपन चंद्र के विचार में सांप्रदायिक तनाव केवल घटना प्रधान होता है जिसमें आम तौर पर समाज का निचला वर्ग ही शामिल होता है। किंतु सांप्रदायिक राजनीति तो लम्बे समय तक चलने वाली प्रक्रिया है, जो निरंतर जारी रहती है, सांप्रदायिक तनाव की तरह घटनाप्रधान नहीं होती। इसमें मुख्य रूप से मध्यम वर्ग, ज़मींदार, अधिकारी वर्ग शामिल होते हैं। हालाँकि दोनों तत्व आपस में जुड़े हुए हैं, किंतु सांप्रदायिक विचारधारा और सांप्रदायिक राजनीति दोनों ही सांप्रदायिक दंगे भड़काते हैं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन में विघटनकारी ताकत के रूप में सांप्रदायिकता की उपस्थिति, पिछली एक शताब्दी की सांप्रदायिक राजनीति और सांप्रदायिक विचारधारा का ही नतीजा है। धार्मिक आधार पर समाज के विभाजन की ब्रिटिश नीति से इस विचारधारा को और बल मिला। हालाँकि ऐसा कहना ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत होगा कि मुस्लिम शासनकाल में तनाव और मतभेद थे ही नहीं, परंतु वे मतभेद सांप्रदायिक नहीं बल्कि विभिन्न वर्गों, जैसे शासक और शासित, उत्पादक और उपभोक्ता, ज़मींदार और काश्तकार, के मतभेद थे और प्रत्येक वर्ग में हिंदू और मुसलमान दोनों थे। हिंदुओं और मुसलमानों के सामाजिक और सांस्कृतिक रीति-रिवाज साथ-साथ चलते थे और वे धार्मिक तथा अन्य पर्व मिलकर मनाते थे। सत्यपीर, मानिकपीर जैसे समन्वयवादी पंथों से पता चलता है कि हिंदुओं और मुसलमानों की अवतारों और पीरों में कितनी आस्था थी। कविता के क्षेत्र में भी अनेकों मुस्लिम कवि ऐसे हैं जिन्होंने वैष्णव विषयों पर रचनाएँ की हैं, जैसे, सैयद मुर्तुजा, चाँद काज़ी, साहनूर और लाल महमूद। हिंदू देवताओं का बहुत सम्मान किया जाता था। नवाब मीरजाफर ने मरते समय किरिटेश्वरी देवी का चरणामृत पीने की इच्छा की थी और महाराजा नंद कुमार ने उन के मुँह में उसकी कुछ बूँदें डाली भी थीं। धर्म को राष्ट्र के प्रति अन्य प्रतिबद्धताओं से अधिक महत्व प्राप्त हुआ और ब्रिटिश राज के दौरान उसी पर बल दिया जाता रहा। इसकी झलक विभिन्न गतिविधियों में मिलती है।

19.6.1 विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व में

सरकारी तौर पर सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था को काफ़ी बढ़ावा दिया गया। 1909 के एक अधिनियम द्वारा सांप्रदायिक आधार पर मतदाताओं का बंटवारा एक महत्वपूर्ण घटना है। इस अधिनियम के अंतर्गत मुसलमान मुस्लिम-निर्वाचन क्षेत्र में किसी भी धर्म के उम्मीदवार को वोट दे सकते थे। साथ ही वे सामान्य सीटों के लिए हिंदुओं के साथ भी वोट दे सकते थे। 1919 के कानून के बाद तो स्थिति और भी बदतर हो गई क्योंकि अब मुस्लिमों को अपने समुदाय के तथा हिंदुओं को अपने समुदाय के सदस्य चुनने की छूट मिल गई थी। 1930 में प्रस्तुत की गई साइमन कमीशन की रिपोर्ट से यह रवैया और मजबूत हो गया। क्योंकि इसमें विधायी निकायों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और सांप्रदायिक आधार पर सीटों के आरक्षण बढ़ाने की वकालत की गई थी। अधिक प्रतिनिधित्व और भेदभाव ब्रिटिश नीति के अन्य पहलू थे।

ऐसी व्यवस्था को बढ़ावा देने के पीछे मूलतः दो धारणाएँ थीं :

i) अंग्रेज़ों का विचार था कि विभिन्न समुदायों के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित अलग-अलग हैं और इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि उनके हितों की भरपूर रक्षा उनके अपने समुदाय के लोग ही भली प्रकार कर सकेंगे।

ii) सभी मतदाताओं के लिए एक समान चुनाव प्रणाली से बहुसंख्यक समुदाय की प्रभुता की संभावना उत्पन्न हो जाएगी, विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व के मामले में और अपने हितों के साधन के मामले में भी। पृथक् निर्वाचन मंडलों के गठन से विधानमंडल और चुनाव, सांप्रदायिक संघर्ष के अखाड़े बन गए।

पृथक निर्वाचन मंडलों के गठन के साथ-साथ संपत्ति और शैक्षिक योग्यता के अधिकार पर भी कुछ प्रतिबंध लगा दिए गए। अधिकांशतः चुनाव केवल मध्यम वर्ग तक सीमित थे और पृथक निर्वाचन मंडलों का उद्देश्य मध्यम वर्ग की ज़रूरतों तथा राजनीति को सांप्रदायिक आधार पर संस्थागत रूप देना था। उदाहरण के तौर पर 1932 के आरंभ में रामसे मैक्डोनाल्ड ने जो सांप्रदायिक फैसला दिया था उसमें नए संघीय विधानमंडलों के लिए हिंदुओं, अछूतों और मुसलमानों के अलग-अलग निर्वाचक मंडलों की व्यवस्था थी। हिंदुओं और अछूतों को पृथक करने और उनमें भेदभाव पैदा करने की इस कोशिश का गांधी जी ने विरोध किया। किंतु उन्होंने उनके लिए हिंदू निर्वाचक मंडल के भीतर विधानमंडलों की अधिक सीटों के आरक्षण की मांग की (गांधी जी अछूतों को हरिजन कहते थे)। सांप्रदायिक फैसले में यह संशोधन किया गया।

19.6.2 नौकरियों में

19वीं सदी के अंतिम चरण में दोनों समुदायों के मतभेद तीन प्रकार से उभरे। उनकी सबसे पहली झलक रोजगार के लिए संभ्रांत वर्गों के संघर्ष में दिखाई दी। सूफिया अहमद द्वारा किए गए अध्ययन से पता चलता है कि सितंबर 1907 में बंगाल प्रांत में 15-1001 रु. तक या उससे अधिक वेतन पर काम करने वाले मुसलमानों की संख्या 1235 थी जबकि ऐसे हिंदुओं की संख्या 8262 थी। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की आबादी अधिक होने के बावजूद सभी सेवाओं और वेतनमानों में काम करने वाले हिंदुओं की संख्या अधिक थी। ब्रिटिश शासन के दौरान नौकरियों के मामले में "फूट डालो और राज करो" की नीति का और खुलकर इस्तेमाल किया गया।

19.5.3 ज़मींदारों और किसानों के संबंधों में

ज़मींदारों और काश्तकारों के परस्पर झगड़ों में भी सांप्रदायिक तनाव साफ़ झलकता था। पूर्वी बंगाल (वर्तमान बंगला देश) में यह तनाव अधिक स्पष्ट था क्योंकि अधिकांश, ज़मींदार हिंदू और काश्तकार मुसलमान थे। 1901 की जनगणना से पता चलता है कि प्रत्येक 10,000 मुसलमानों में से 7316 कृषक थे जबकि प्रत्येक 10,000 हिंदुओं में केवल 5,555 ही कृषक थे। इस प्रकार मुसलमानों में प्रत्येक 10,000 में से केवल 170 ज़मींदार थे जबकि हिंदुओं में 217 ज़मींदार थे। ब्रिटिश शासकों ने जमींदारों और काश्तकारों के संबंधों को और बिगड़ने दिया।

19.6.4 समाज और संस्कृति में

अंग्रेजी शिक्षा और उसके सांस्कृतिक प्रभावों में निहित विचारधारा के फलस्वरूप भी साप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। अंग्रेज़ी शिक्षा ने ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों के जुल्मों से मुक्ति दिलाने वाला मसीहा बना दिया। हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच निरंतर बढ़ती खाई ब्रिटिश शासन के विभिन्न प्रशासनिक और अन्य उपायों के कारण और बढ़ गई।

सांप्रदायिक तनावों को बढ़ावा देने के साथ-साथ जाति के आधार पर समाज के विभाजन को भी प्रोत्साहन दिया गया। जातिगत एकता को भी बढ़ावा दिया गया। अंग्रेज़ी शासन से पूर्व भारत में भूमि की उपलब्धता और अस्थिर राजनीतिक स्थितियों के कारण विभिन्न जातियाँ बड़ी आसानी से एक-दूसरे स्थान पर जाकर बस जाया करती थीं। औपनिवेशिक शासन ने इनमें से कुछ रास्ते या तो बंद कर दिए या कम कर दिए। इन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश के गवर्नर ने इस प्रांत में हिंदू सांप्रदायिकता को प्रश्रय दिया। उन्होंने सरकारी नौकरियों में हिंदुओं की संख्या में वृद्धि की और उर्दू के स्थान पर हिंदी के हिमायतियों को समर्थन दिया, जिससे दोनों समुदायों के बीच की विभाजन रेखा और गहरी हो गई।

20वीं सदी के प्रथम दशक से बंगाल और पंजाब में हिंदुओं और मुसलमानों के लिए निर्धारित कोटे के माध्यम से सार्वजनिक सेवाओं में पदों और पदोन्नति के अवसर आरक्षित करने के सिद्धांत का सख़्ती से पालन किया गया। 1934 में यह सिद्धांत सभी प्रांतीय सेवाओं और अखिल भारतीय सेवाओं पर भी लागू कर दिया गया। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और अन्य सरकारी कॉलेजों में प्रवेश देने में भी इस सिद्धांत को तेज़ी से लागू किया गया। सरकार ने नगर पालिकाओं और ज़िला बोर्डों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और शासनाधीन स्कूलों के ज़रिएं शिक्षा का विकास भी इस ढंग से किया कि शिक्षा के क्षेत्र में भी समुदायों के बीच टकराव हो। रोज़गार और शिक्षा दोनों के अतिरिक्त अनुबंध और उपाधियाँ प्रदान किए जाने, मानद मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति, नगरपालिका और वैधानिक निकायों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति में भी सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश सरकार सांप्रदायिक तनाव उत्पन्न करने वालों और ऐसे विचारों का प्रचार करने वालों के विरुद्ध कार्रवाई करने में विफल रही। सरकार ने लोगों की जायज़ मांगों को दबाने के लिए तो पुलिस से सूचनाएँ प्राप्त करने, गोपनीय जानकारी इकट्ठी करने, प्रेस सेंसरशिप और अन्य कानूनों के ज़रिए व्यापक व्यवस्था की (जिसका इस्तेमाल राष्ट्रवादियों के विरुद्ध किया गया) लेकिन तनाव फैलाने वालों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। सांप्रदायिक और ब्रिटिश मालिकों के अखबारों ने इन तनावों और मतभेदों की ख़बरें बढ़ा-चढ़ा कर दीं जिससे लोगों की भावनाएँ भड़कीं तथा तनाव और बढ़ गया। इसी प्रकार अंग्रेज़ी शिक्षा ने समाज में एक छोटे से किंतु निरंतर बढ़ते हुए वर्ग को आगे बढ़ने के लिए नए अवसर देकर समाज में विभिन्न वर्गों के बीच खाई उत्पन्न कर दी। 1901 के बाद से अंग्रेज़ों ने जातियों के आधार पर जनगणना कराई जिसमें जातियों का वर्गीकरण इस आधार पर किया गया कि आम जनता ने उन्हें कितना ऊँचा दर्जा दे रखा है। इससे जातीय नेताओं को अपना महत्व बढ़ाने के लिए जातीय-संगठन बनाने और अपनी जाति का झूठा-सच्चा इतिहास गढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिला। इस कार्य में जाति के सफल और अग्रणी सदस्यों ने सामाजिक मान्यता, नौकरियों और राजनीतिक लाभ के लिए अपने संकुचित और स्वार्थी संघर्ष में जाति भाइयों का समर्थन जुटा लिया।

बोध प्रश्न 3

अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास का स्वरूप बिगाड़ने के लिए क्या प्रयास किए?
(उत्तर केवल 10 पंक्तियों में दें)

2 सांप्रदायिक तनाव और सांप्रदायिक राजनीति में क्या अंतर है? (उत्तर केवल 5 पंक्तियों में दें)

3 अंग्रेज़ों ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को क्यों और कैसे बढ़ावा दिया? (उत्तर 10 पंक्तियों में दें)

19.7 क्षेत्रीय भावनाओं और पहचान का विकास

भाषाई आधार पर क्षेत्रीय भावनाओं में वृद्धि 20वी सदी के प्रारंभ की एक महत्वपूर्ण घटना थी। कभी-कभी इन भावनाओं का संबंध कम सुविधा संपन्न वर्गों के शिक्षित युवाओं के लिए अधिक नौकरियों की माँग से होता था। किंतु प्राय: उनकी जड़ें बहुत गहरी होती थी क्योंकि विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ज़ोरदार साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के उभरने से ऐसी भावनाओं का बढ़ना भी स्वाभाविक था। (सुमित सरकार, माडर्न इंडिया, दिल्ली 1984)।

सन् 1911 के आस-पास मद्रास के आंध्र ज़िले में अलग प्रांत की मांग को लेकर एक आंदोलन शुरू हुआ। 1913 के बाद से आंध्र सम्मेलनों या आंध्र महासभाओं की वार्षिक सभाएँ होने लगी और अन्य बातों के अलावा उन्होंने यह भी माँग की कि शिक्षा का माध्यम उनकी मातृभाषा होनी चाहिए। हालाँकि अलग भाषाई राज्य बनाने की माँग केवल आंध्र प्रदेश से उठी थी किंतु क्षेत्रीय भाषाओं के विकास से देश में कई तरह के आंदोलन पनपने लगे। उदाहरण के तौर पर तमिलनाडु में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन को लेकर विभिन्न शहरों में तमिल संघम बनने लगे जिससे प्राचीन

तामिल साहित्य में लोगों की रुचि बढ़ने लगी। 1905 में लार्ड कर्ज़न द्वारा बंगाल के विभाजन के दौरान बंगाल ने क्षेत्रीय एकता और क्षेत्रीय भावनाओं की एकजुटता की मिसाल प्रस्तुत की थी। उच्चस्तरीय साहित्यिक भाषा, पत्र-पत्रिकाओं और आधुनिक साहित्य के विकास तथा 19वीं शताब्दी के दौरान आम शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास ने बंगालियों में क्षेत्रीय गौरव की भावना उत्पन्न कर दी जिससे यह एकजुटता पैदा हुई। बिहार में सच्चिदानंद सिन्हा के नेतृत्व में अलग प्रांत की माँग उभरी जिसके फलस्वरूप 1911 में बिहार और उड़ीसा नए प्रांत बने। क्षेत्रीय भावनाओं का ऐसा विकास किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं था बल्कि समूचे भारतीय उपमहाद्वीप तक फैल गया था। यह भावना, औपनिवेशिक शासन में सत्ता के बहुत अधिक केंद्रीकरण का नतीजा थी, जिससे क्षेत्रीय शक्तियां कमज़ोर पड़कर टूट गईं। मुग़ल काल में केंद्रीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों जैसे बीजापुर, गोलकुंडा, बिहार, उड़ीसा, अवध, इलाहाबाद आदि के अस्तित्व का पूरा ख़्याल रखा गया था। किंतु अंग्रेज़ों ने बंबई, मद्रास, कलकत्ता जैसी बड़ी-बड़ी प्रेज़िडेंसियाँ बनाकर विभिन्न क्षेत्रीय और भाषाई वर्गों को एक केंद्रीय सत्ता के नीचे लाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया का एक परिणाम यह हुआ कि लोगों में क्षेत्रीयता की भावना और अलग क्षेत्रीय पहचान की मांग बढ़ने लगी। फिर भी, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से कोई भी क्षेत्रीय भावना राष्ट्रवादी आंदोलन की विरोधी नहीं थी।

सभी प्रकार की अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने की औपनिवेशिक नीति का उद्देश्य यह था कि लोग एक राष्ट्रवादी आंदोलन के झंडे के नीचे एकत्र न हो पाएँ। विशेषत: सांप्रदायिकता के संदर्भ में "फूट डालो और राज करो" की नीति कई तरह से लागू की गई। ब्रिटिश प्रशासकों ने मुसलमानों को एक अलग समुदाय या राजनीतिक गुट माना क्योंकि वे यह मानकर चलते थे कि भारत में अलग-अलग धार्मिक समुदाय हैं और धर्म ने भारत में राष्ट्रीयता की जगह ले ली है। इसके अतिरिक्त, यह भी माना जाता था कि भारत वर्गीय हितों या समुदायों का समूह है और इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक समुदाय हैं। भारत की आधुनिक राजनीति के आरंभ से लेकर ब्रिटिश शासन के अंत तक भारतीय समाज और राजनीति के बारे में यही सांप्रदायिक दृष्टिकोण रखा गया और इसी का प्रचार किया गया।

सन् 1930 में साइमन कमीशन ने हिंदुओं और मुसलमानों के परस्पर संबंधों के बारे में कहा कि "उनके बीच बुनियादी मतभेद हैं जो सामाजिक रीति-रिवाजों और आर्थिक प्रतिद्वंद्विता तथा एक दूसरे के प्रति धार्मिक विद्वेष से स्पष्ट हो जाते हैं।" इसीलिए यह मान लिया गया कि "परस्पर विरोधी समुदायों और हितों को प्रतिनिधित्व देना ही एकमात्र ऐसा सिद्धांत है जिसके आधार पर सीधे चुनाव कराके भारत में विधायी निकायों का गठन करना संभव है।" किंतु राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर नहीं बनाया जा सका। हम देखते हैं कि कई बार कुछ क्षेत्रीय मुद्दों को राष्ट्रीय स्तर पर भी उठाया गया। उदाहरण के तौर पर 1905 में बंगाल का विभाजन केवल एक क्षेत्रीय मुद्दा नहीं था। वास्तव में उस समय बंगाल राष्ट्रीय आंदोलन में सबसे आगे था। सारे देश में लोग यह समझ गए थे कि बंगाल का विभाजन करके ब्रिटिश सरकार राष्ट्रवादी आंदोलन को जड़ से समाप्त कर देना चाहती है। इसीलिए देश भर में बंगाल के विभाजन का विरोध हुआ। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। यदि क्षेत्रीयता की भावना प्रबल होती तो सारे देश में जलियाँवाला बाग हत्याकांड का विरोध क्यों होता? अंग्रेजों ने तो केवल पंजाब के लोगों की ही सामूहिक हत्या की थी। इसी प्रकार असहयोग आंदोलन को आंध्र के तटीय क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता मिली। राष्ट्रीय आंदोलन को देश के सभी क्षेत्रों से नेतृत्व भी मिला और जनसमर्थन भी। ब्रिटिश शासन से मिली इस विरासत को देखते हुए राष्ट्रीय एकता स्थापित करना एक गंभीर समस्या है। यह बात बहुत उत्साहजनक और महत्वपूर्ण है कि जहाँ औपनिवेशिक शासन ने अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया वहीं आज हमारे देश की सरकार धर्मनिरपेक्षता की नीति का पालन करने तथा सामाजिक और धार्मिक असंतुलन समाप्त करने के लिए वचनबद्ध है। हालाँकि यह कार्य कठिन है और मार्ग दुर्गम। देश के सभी भागों का संतुलित आर्थिक विकास करना ज़रूरी है ताकि दूरदराज़ के छोटे राज्यों और सत्ता के केंद्र के पास स्थित राज्यों के बीच कोई असंतुलन न रहे। सामाजिक असंतुलन दूर करने के लिए सभी को शिक्षा के समान अवसर दिए जाने चाहिए। किसी-एक भाषा को थोपने के बजाय सभी भाषाओं को विकास के समान अवसर दिए जाने चाहिए। अत: हिंदी भाषी क्षेत्रों में दक्षिण भारतीय भाषाओं और दक्षिण में हिंदी को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। आपसी समझबूझ और सद्भाव से ही भाषा की दीवारें गिराई जा सकती हैं। किसी एक भाषा को जबरदस्ती थोपने की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है, जो कि राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक हो सकती है। राष्ट्रीय एकता की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है। अत: उसे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि क्षेत्रीय, वर्गीय, धार्मिक, जातीय या अन्य प्रकार की अलगाववादी भावनाओं को वोट पाने या अन्य छोटे-मोटे स्वार्थों के लिए भड़काया न जाए। इसके लिए लोगों को बचपन से ही राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता समझाना और उसके सिद्धांतों की जानकारी देना ज़रूरी है।

बोध प्रश्न 4

1 औपनिवेशिक नीति ने अलगाववादी वर्गों को किस प्रकार प्रोत्साहित किया? (उत्तर 10 पंक्तियों में दें)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 राष्ट्रीय आंदोलन में क्षेत्रीय शक्तियों का क्या स्थान था? (उत्तर पाँच पंक्तियों में दें)।

.....

.....

.....

.....

.....

3 क्षेत्रीय और भाषाई शक्तियों को राष्ट्रीय मुख्यधारा में कैसे शामिल किया जा सकता है? इस विषय पर 5 पंक्तियों में टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

19.8 सारांश

इस इकाई में अब तक हमने देखा कि राष्ट्रीय एकता की राह में कौन-कौन सी बाधाएँ हैं। इनमें प्रमुख हैं– सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता। हमने यह भी देखा कि ब्रिटिश शासन ने समाज में उभरते हुए सांप्रदायिक तनावों को कैसे भड़काया और अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए उनका कैसे इस्तेमाल किया। "फूट डालो और राज करो" की नीति ने उनकी काफ़ी मदद की।

सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता में सरकार का यह योगदान स्वाधीन भारत को विरासत में मिला। आर्थिक विकास और उससे उपजे सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप हाल के वर्षों में ये समस्याएँ और बढ़ी ही हैं। समाज के विकास के दौरान ऐसे परिवर्तन और तनाव पैदा हो जाना स्वाभाविक है किंतु इन्हें उग्र रूप धारण करने और देश की एकता और अखंडता के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने से रोकना बहुत ज़रूरी है। सरकार की नीतियों के द्वारा धर्म-निरपेक्षता और अखंडता की नींव पक्की की जानी चाहिए। सांप्रदायिकता की राजनीति को तूल नहीं दिया जाना चाहिए बल्कि ऐसी विकास परियोजनाएँ और कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए जिनमें समाज के सभी वर्गों के लोग हिस्सा ले सकें।

19.9 शब्दावली

समन्वयवादी : संस्कृति की वे विविध प्रवृत्तियाँ जिनसे विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक वर्ग परस्पर निकट आते हैं।

पाली जोत : ऐसी फ़सलों की खेती जिनकी कुछ फसलों के बोए जाने के बाद व्यवहार में लाई गई भूमि आगे उत्पादन के अयोग्य हो जाती है। पूर्व समय में कृषि शिल्प के विकास के अभाव में अच्छी भूमि की भी ऐसी ही गति हुई।

वाणिज्यकरण : जिन क्षेत्रों में धन और धन संबंध लागू न हों उन्हें वहाँ लागू करना।

प्रासंगिक : संक्षिप्त (उल्लेख)

19.10 उपयोगी पुस्तकें

1 वैलेस पॉल (संपा.) *रीजन एंड नेशन इन इंडिया*, नई दिल्ली

2 सुमित सरकार, *मॉडर्न इंडिया 1885-1947*, नई दिल्ली

3 विपिन चंद्र, *कम्युनलिज़्म इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1984

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) × ii) √ iii) √

2 देखें उपभाग 19.4.2.आपके उत्तर में राष्ट्रीय लेखकों की इस दलील का भी उल्लेख होना चाहिए कि भारत में प्राचीन काल से ही एकता थी।

बोध प्रश्न 2

1 देखें उपभाग 19.4.2.आपके उत्तर में निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिए:
   i) बाहर के लोगों द्वारा जनजातियों के सादे जीवन में दख़लंदाज़ी।
   ii) अंग्रेज़ों द्वारा सुरक्षित वन क्षेत्र बनाए जाने के कारण जगह बदल कर खेती करने पर रोक।
   iii) वन संपदा, जो पहले सभी जनजातियों की होती थी, उस पर अंग्रजों द्वारा एकाधिकार के प्रयास।
   iv) जनजातियों के विद्रोह।

2 i) √ ii) √ iii) × iv) √

3 देखें उपभाग 19.4.3.आपके उत्तर में निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिए :
   i) अंग्रेजों द्वारा किए गए सीमित सुधार
   ii) उपनिवेशवाद की रूढ़िवादिता
   iii) अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रतिक्रियावादी वर्ग को औपनिवेशिक शासन का समर्थन।

बोध प्रश्न 3

1 देखें भाग 19.5.आपके उत्तर में निम्नलिखित मद्दे शामिल होने चाहिए
   i) यह दिखाना कि भारत प्राचीन काल से निरकुश शासको के शासन में था,
   ii) भूतकाल में भी भारत में मौजूद हिंदू-मुस्लिम मतभेदों पर बल,
   iii) हिंदू और मुस्लिम काल का विभाजन।

2 देखें भाग 19.6.आपके उत्तर में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिए :
   i) तनाव एक तत्कालिक घटना है और राजनीति लंबे समय तक चलने वाली प्रक्रिया,
   ii) मुख्य तौर पर निम्न वर्ग तनाव में फंसा होता है और मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग राजनीति मे,
   iii) सांप्रदायिक दंगों में सांप्रदायिक विचारधारा की भूमिका।

3 देखें उपभाग 19.6.1. आपके उत्तर में निम्नलिखित मुद्दे शामिल होने आवश्यक हैं :
   i) भारत को अलग समुदायों के रूप में देखने की अंग्रेज़ों की धारणा का परिणाम,
   ii) "फूट डालो और राज करो" की नीति। इसका प्रभाव स्पष्ट करने के लिए अलग निर्वाचक मंडलों और सांप्रदायिक अवार्ड की भूमिका का जिक्र करें।

बोध प्रश्न 4

1 देखें भाग 19.7 अनुच्छेद 5. आपके उत्तर में ये सब बातें शामिल होनी चाहिए :
   i) फूट डालो और राज करो की नीति की भूमिका,
   ii) अंग्रेजों की नज़र में भारतीय समाज का सांप्रदायिक स्वरूप,
   iii) जिन राष्ट्रवादियों ने अलगाववादी दृष्टिकोण का विरोध किया उनका बेरहमी से दमन, जैसे, 1905 में बंगाल के विभाजन का विरोध करने वालों की दुर्दशा।

2 देखें भाग 19.7. आपके उत्तर में निम्नलिखित बातों का उल्लेख आवश्यक है :
   i) बंगाल के विभाजन का विरोध कैसे हुआ,
   ii) देश के अन्य भागों में विरोध कैसे उभरा,
   iii) किस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रवादी आंदोलनों ने जन्म लिया।

3 देखें भाग 19.7. अंतिम अनुच्छेद। आपके उत्तर में निम्नलिखित बातों का उल्लेख आवश्यक है :
   i) धर्म-निरपेक्षता की भूमिका,
   ii) सामाजिक, आर्थिक असंतुलन की समाप्ति,
   iii) विभिन्न भाषाओं का विकास और उनका परस्पर मेल मिलाप,
   iv) अलगाववादी और विघटनकारी प्रवृत्तियों या सांस्कृतिक मतभेदों का इस्तेमाल क्षुद्र राजनीतिक हितों के लिए न होने देने में सरकार की भूमिका,
   v) शिक्षा की भूमिका।

इकाई 20 राष्ट्रीय एकता की समस्याएँ : जाति एवं जनजाति

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 जाति व्यवस्था
20.3 औपनिवेशिक भारत में जाति
  20.3.1 जाति के प्रति ब्रिटिश नीति : विघटन की पहचान
  20.3.2 ब्रिटिश शासन के अंतर्गत समाज सुधार के उपाय
  20.3.3 जातिगत चेतना और संस्कृतिकरण
20.4 स्वतंत्र भारत में जाति
  20.4.1 जाति और चुनाव की राजनीति
  20.4.2 जाति के राजनीतिकरण के परिणाम
20.5 आधुनिकीकरण, राष्ट्रीय एकता और जाति
20.6 जनजाति संस्कृति : विविध स्वरूप और समस्याएँ
  20.6.1 भारत में जनजातियों की संख्या
  20.6.2 जनजातीय नृजातीयता
  20.6.3 जनजातीय भाषाएँ
  20.6.4 पारिस्थितिकीय असंतुलन और जनजातियाँ
  20.6.5 जनजातीय किसानों की समस्याएँ
20.7 शहरी परिवेश में जनजातियाँ
  20.7.1 उद्योगीकरण और वि-जनजातीयकरण
  20.7.2 मुद्रीकरण और शिक्षा का प्रसार
  20.7.3 जनजातीय लोगों के सामाजिक जीवन में परिवर्तन
20.8 भारत में जनजातीय विकास के प्रति दृष्टिकोण
  20.8.1 संरक्षणवादी दृष्टिकोण
  20.8.2 आत्मसात्करणवादी दृष्टिकोण
  20.8.3 एकीकरणवादी दृष्टिकोण
20.9 सारांश
20.10 शब्दावली
20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- औपनिवेशिक और स्वतंत्रता काल में जाति व्यवस्था और उसके राजनीतिकरण की प्रक्रिया के बारे में समझ सकेंगे;
- जाति व्यवस्था के राजनीतिकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सामाजिक परिणाम बता सकेंगे;
- भारत में जनजातियों के विविध सांस्कृतिक स्वरूपों और समस्याओं को समझ सकेंगे;
- जनजातियों के सामाजिक जीवन में शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के प्रभाव को पहचान सकेंगे; और
- राष्ट्रीय जीवन में जनजातियों के एकीकरण के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

यह इकाई भारत में जाति व्यवस्था के वर्णन से शुरू होती है। इसमें जाति व्यवस्था में प्रचलित असमानता का विश्लेषण किया गया है और औपनिवेशिक भारत तथा स्वतंत्रता के बाद चुनाव की राजनीति में जाति की विचारधारा के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को अधिक विस्तार से समझाया गया है। इस इकाई में अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के उस असंतोष का भी उल्लेख किया गया है, जो भारत में विभिन्न जातिगत आंदोलनों के रूप में प्रकट हुआ था।

इस इकाई के दूसरे भाग में जनजातियों के विविध नृजातीय, भाषाई और सांस्कृतिक स्वरूपों का विवेचन किया गया है। पारिस्थितिकीय असंतुलन, भूमि का दूसरे के अधिकार में चला जाना, तथा ऋणग्रस्तता की समस्याएँ भी इस इकाई में समझाई गई हैं। शहरीकरण द्वारा जनजातीय जीवन में उत्पन्न हुए सामाजिक परिवर्तन के तथ्य भी उसमें बताए गए हैं। अंत में, जनजातीय विकास के दृष्टिकोणों पर भी इस इकाई में विचार किया गया है।

20.2 जाति व्यवस्था

एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में जाति में असमानताएँ पाई जाती हैं। इनको जन्म तथा व्यवसाय की शुद्धता और अशुद्धता के आधार पर उचित ठहराया जाता है। जातियों के बीच न केवल संपत्ति, आय और हैसियत में असमानता है, बल्कि इस धारणा के आधार पर सांस्कृतिक और सामाजिक अलगाव भी है कि कुछ जातियाँ दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध हैं। इन्हीं बातों के आधार पर जातियों का सामाजिक स्तर तय होता है।

जातियों को परंपरागत रूप में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर वर्गीकृत किया गया था, जिसमें ब्राह्मण (पुरोहित), क्षत्रिय (योद्धा), वैश्य (व्यापारी, दस्तकार), शुद्र (किसान और सेवक समूह) तथा अछूत या जाति बहिष्कृत लोग आते थे।

लेकिन जाति में कुछ सांस्कृतिक एवं सामाजिक विशेषताएँ एक जैसी होती हैं। वे हैं—वंशानुगत व्यावसायिक विशेषताएँ, जन्म से मिला स्तर और सदस्यता, संस्कार पद्धति की शुद्धता और अशुद्धता तथा इसके परिणामस्वरूप सामाजिक अलगाव और सगोत्रीय विवाह। परंपरानुसार जाति की सामाजिक विरासत कमोबेश व्यावसायिक वंशानुक्रम और श्रम विभाजन पर आधारित थी। यह (जजमानी), नाम की एक प्रणाली या संरक्षक-अनुयायी सबधों पर आधारित है जिसके जरिए सभी जाति समूह पारस्परिकता और सामाजिक स्तर के अनुसार आर्थिक एवं संस्कार पद्धति के संबंधों से जुड़े हुए थे।

20.3 औपनिवेशिक भारत में जाति

जाति व्यवस्था सामाजिक स्तर के निर्धारण और श्रम विभाजन की स्थानीय या क्षेत्रीय संस्था के रूप में प्रचलित थी। इसकी सबसे बड़ी सामाजिक संस्था जाति पंचायतें थीं जिनका कार्य क्षेत्र कुछ स्थानीय गाँवों तक ही सीमित रहा। राष्ट्रीय एकता में इनकी भूमिका-रस्मी नहीं थी बल्कि आर्थिक और सामाजिक थी। दस्तकारों, काश्तकारों और कामगारों के उत्पादनों का व्यापार दूर-दूर तक होता था। जनजाति समूहों द्वारा पैदा किए गए और भूस्वामियों तथा शासकों द्वारा हथिया लिए गए अतिरिक्त उत्पादनों से भारत में सामंत राज्यों या साम्राज्यों की भी नींवें मजबूत हुईं। प्राचीन और मध्यकालीन साम्राज्यों के अध्ययनों से स्पष्ट है कि राजनीतिक सत्ता द्वारा दी गई प्रौद्योगिकी की सुविधाओं (सिंचाई, भूमि, विकास उपस्कर आदि), दस्तकारी और खेती में उत्पादकता के स्तर और साम्राज्य में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिरता की मात्रा के बीच प्रगाढ़ संबंध था। परंतु इस प्रक्रिया में जाति और जाति पंचायतों की भूमिका बहुत अपरोक्ष और मामूली-सी थी। जातियों का राजनीतिकरण नहीं हुआ था और वे अधिकतर आर्थिक और व्यावसायिक समूहों के स्तर निर्धारण के रूप में काम करती थीं। वे राज्य के राजनीतिक सत्ताधारियों से अपेक्षाकृत स्वतंत्र थीं। यह भी सही है कि राष्ट्र-राज्य की जो संकल्पना स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान भारत में उभरी थी, वह देश के प्राचीन या मध्ययुग के इतिहास काल में मौजूद नहीं थी। उस समय राजनीतिक सत्ताधारी और उसके शासन करने की प्रणाली बहुत अधिक विकेंद्रित थी।

20.3.1 जाति के प्रति ब्रिटिश नीति : विघटन की पहचान

ब्रिटिश उपनिवेशवादी प्रशासकों की भारतीय जाति और धर्म में विशेष रुचि का आंशिक कारण यह था कि वे जिन लोगों पर शासन करना चाहते थे, उनकी सामाजिक प्रथाओं, व्यवस्थाओं और संस्थाओं को समझ लेना चाहते थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि वे यह भी दिखाना चाहते थे कि भारत सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, और राजनीतिक रूप से समग्र इकाई नहीं था, इसलिए वह एक राष्ट्र भी नहीं हो सकता। जाति और संस्कृति का विश्लेषण करने की

उनकी पद्धति ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था को विघटित रूप में प्रस्तुत किया, एक संगठित इकाई के रूप में नहीं। सामाजिक इकाइयों, जैसे जाति, जनजाति और धर्म को उनके वास्तविक रूप-को काफी बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया। जाति और जनजाति के बीच या जाति, आर्थिक संरचना और राजनीति आदि के बीच संयोजन के तत्वों की उपेक्षा की गई।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों में परस्पर-विरोधी बातें दिखाई देती हैं। एक ओर समाज की दलित जातियों, जनजातियों और अन्य शोषित वर्गों के आर्थिक और सामाजिक उत्थान के लिए उनकी चिंता कानूनों और प्रशासनिक नियमों के ज़रिए अनेक सुधार के उपायों से प्रकट होती है तो दूसरी ओर यह लगता है कि उनकी नीति में जाति, जनजाति और धार्मिक समुदायों को जानबूझ कर राजनीतिक रंग देने की कोशिश की गई है ताकि वे उन संगठनों और प्रथाओं की, जो उन्हें सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में एक दूसरे पर निर्भर सुव्यवस्था से जोड़े हुए हैं, अवहेलना करते हुए स्वतंत्र और अलग पहचान के अपने दावे को वैधता प्रदान कर सकें। इसमें कोई शक नहीं कि इस तरह के अनेक संबंधों में असमानता या यहाँ तक कि शोषण के तत्व थे लेकिन संयोजन के महत्व को कम करने के परिणामस्वरूप जो जातीय अस्मिता उभरी वह राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया के प्रतिकूल थी।

20.3.2 ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सामाजिक सुधार के उपाय

स्पष्ट है कि समाज सुधारों के प्रति ब्रिटिश प्रशासन की चिंता जिन प्रयत्नों से ज़ाहिर होती है, वे है : 1931 की जनगणना में दलित जातियों (आज़ादी के बाद अनुसूचित जातियों) की पहचान, 1789 में कलकत्ता में उस जाति कचहरी की समाप्ति जिसमें उस समय हिंदू कानूनों को परिभाषित करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, धर्म परिवर्तन करके ईसाई बने लोगों की रक्षा के मकसद से 1850 में जाति संबंधी अयोग्यताओं के निराकरण के लिए नए कानून का निर्माण तथा 1923 में अंतरजातीय विवाह को वैध बनाने के लिए विशेष विवाह अधिनियम को मंजूरी। इन सामाजिक कानूनों से पता चलता है कि अंग्रेज़ भारत में एक तर्कसंगत सामाजिक-कानूनी व्यवस्था कायम करने का प्रयत्न कर रहे थे। इन कानूनों के बावजूद, जाति के संबंध में उनकी सामाजिक नीति में निहित नकारात्मक तत्वों ने, जाने या अनजाने, भारत में जातिवाद को बढ़ावा दिया और सांप्रदायिकता को उकसाया। सन् 1909 में धर्म के आधार पर हिंदुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग निर्वाचन मंडल की शुरूआत की गई। बाद में इसी तरह के प्रावधान पंजाब में सिखों के लिए भी किए गए और कुछ अन्य राज्यों में आंग्ल-भारतीय और ईसाइयों के लिए भी किए गए। डॉ. अंबेडकर द्वारा पहले गोलमेज़ सम्मेलन में दलित वर्गों या "नीची" जातियों के लिए अलग निर्वाचन मंडल शुरू करने का सुझाव भी दिया गया था। यह प्रस्ताव सिद्धांत रूप में तीसरे गोलमेज़ सम्मेलन में मान लिया गया। महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया, क्योंकि इससे दलित वर्ग की जातिगत अयोग्यता को बनाए रखने और बढ़ाने के अलावा भारतीय समाज के टुकड़े हो गए होते। गांधीजी ने इस प्रस्ताव का विरोध करने के लिए "आमरण अनशन" रखा और अंत में डॉ. अंबेडकर को इस बात के लिए मना लिया गया कि वे आरक्षणों की कई तरह की माँगों के अलावा विधानसभाओं और संसद में अनुसूचित जातियों के लिए "आरक्षित सीटों" के पक्ष में अलग निर्वाचन मंडल की अपनी माँग छोड़ दें। जाति के आधार पर अलग निर्वाचन मंडल से स्वतंत्र भारत में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में अवश्य ही बहुत कठिनाई हुई होती।

दूसरी ओर, सामाजिक संस्थाओं से संबंधित नीतियों और उनके प्रशासन के ज़रिए उपनिवेशवादी नीति ने स्थानीय और क्षेत्रीयता की भावना को इतना बढ़ाया, जितना भारतीय इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। यह राष्ट्रीय एकता की आवश्यकताओं और भारत को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में सहज ढंग से विकसित होने देने के प्रतिकूल था। इस तरह स्पष्ट है कि उपनिवेशवादी शक्ति ने फूट डालो और राज करो' की नीति द्वारा भारत पर शासन किया।

20.3.3 जातिगत चेतना और संस्कृतिकरण

जाति के आधार पर जनगणना के कारण सामाजिक स्तर की मान्यता और राज्य के विशेषाधिकारों की प्राप्ति के साधन के रूप में लोगों में जातिगत चेतना और जातीय अस्मिता की भावना में एकाएक वृद्धि हुई। जनगणना में अपना नाम दर्ज करवाने के लिए जातियों और उपजातियों में जोरदार अभियान चल पड़ा और जनगणना को उच्च जाति का दर्जा प्राप्त करने के दावे के रूप में देखा जाने लगा। यह मान लिया गया कि जनगणना के जरिए एक बार उच्च जाति में स्थान और दर्जा मिल जाने पर, अन्य सामाजिक विशेषाधिकार अपने आप मिल जाएंगे या उनके लिए दावा किया जा सकेगा। इस प्रक्रिया ने एक अभियान का रूप ले लिया। जैसा कि जनगणना से ज़ाहिर है, निम्न जातियाँ उच्च जाति के दर्जे के समान स्तर का दावा करने लगीं।

इसे संस्कृतिकरण कहा गया। जनगणना के ज़रिए न केवल जातिगत परंपरा में उच्च स्थान और दर्जे के दावों और प्रति-दावों को लेकर अनेक अदालती मुकदमे चल पड़े, बल्कि ये दावे सांस्कृतिक आचार व्यवहार और रहन-सहन के तौर-तरीकों से भी जुड़ गए। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार, जाति व्यवस्था में निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों, रहन-सहन के तौर-तरीकों और विचारधारा को अपनाकर उच्च जाति के दर्जे की मांग ही संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है। इसका दूसरा अर्थ है घटिया समझे जाने वाले उनके अपने रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और रहन-सहन के तौर-तरीकों को छोड़ देना। संस्कृतिकरण से निम्न जाति के लोगों को उच्च दर्जा प्राप्त करके ऊपर उठने की आकांक्षा जाहिर होती है। नए उपनिवेशवादी प्रशासन द्वारा शुरू किए गए सामाजिक और प्रशासनिक संदर्भ में इसको और भी बढ़ावा मिला। इस प्रक्रिया में जाति की अस्मिता को नया अर्थ और महत्व मिला। अंग्रेज़ प्रशासक और मानवजातिविज्ञानी, जॉन सी. नेसफील्ड, डेनिज़िल सी.जे. इब्बट्सन और एच.एच. रिसले ने सन् 1885 में भारत में जाति व्यवस्था से संबंधित सामाजिक, सगोत्रीय, सांस्कृतिक और आनुष्ठानिक विशेषताओं के निर्धारण के लिए एक अनुसूची तैयार की। इससे भारत के नृजातियों का सर्वेक्षण और बाद में उनकी जनगणना शुरू हुई। पहली बार जाति को सामाजिक हस्ती के रूप में सरकारी मान्यता मिली। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने धार्मिक समूहों और जनजातियों के प्रति भी यही तरीका अपनाया।

बोध प्रश्न 1

1 जाति का क्या अर्थ है? लगभग दो पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

2 सजातीय विवाह का अर्थ होता है जाति में ही विवाह ☐ हाँ ☐ नहीं

3 'जजमानी' आर्थिक एवं संस्कार पद्धति से परस्पर जुड़ने की व्यवस्था है। ☐ हाँ ☐ नहीं

4 गाँधीजी ने दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मंडल के विचार का क्यों विरोध किया था? दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

20.4 स्वतंत्र भारत में जाति

ब्रिटिश उपनिवेशवाद की नीतियों ने जातियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया और उन्हें और जागरूक बनाया। कांग्रेस द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता आंदोलन और उसके नेताओं ने राष्ट्रवादी धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के आधार पर ऐसी नीतियों का बराबर विरोध किया। स्वतंत्रता मिलते ही संविधान सभा में इन नीतियों की सामाजिक रूपरेखा तैयार की गई और उसे भारत के संविधान में शामिल किया गया। भारत के संविधान में कानून और राज्य के संदर्भ में सभी मामलो में किसी व्यक्ति के केवल नागरिक दर्जे को ही मान्यता दी गई है। समाज के ऐतिहासिक रूप से वंचित और दलित वर्गों, जैसे दलित जाति, जनजाति और अल्प-संख्यकों के लिए संविधान में नागरिक अधिकारों के अतिरिक्त विशेष व्यवस्थाएं भी की गईं।

समतावादी समाज की स्थापना के लिए हमारी राष्ट्रीय प्रतिबद्धता का एक उपाय है अनुसूचित जातियों को दिया गया संरक्षण। यह हमारे समाज में लंबे अरसे तक शोषित एक वर्ग में विकास की गति और सामाजिक जागरूकता को बढ़ा कर राष्ट्रीय एकता की शक्तियों को बल प्रदान करता है। यह समन्वित राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के लिए आवश्यक भावात्मक एकता को मज़बूत करने के अलावा एक संतुलित सामाजिक आर्थिक विकास को भी सुनिश्चित करता है।

20.4.1 जाति और चुनाव की राजनीति

चुनाव की राजनीति के कारण जातियों के वे संगठन भी राजनीति के अखाड़े में कूद पड़े जिनका कार्य क्षेत्र पहले केवल सामाजिक, धार्मिक या शिक्षा तक ही सीमित था। अब जाति के आधार पर

'वोट बैंक' बन गए थे। जातियों के राजनीतिकरण की वजह से जातीय गठबंधनों के नए स्वरूप उभर आए। इससे जाति की संरचना में विलयन और विखंडन की प्रक्रिया शुरू हुई।

निर्णय की प्रक्रिया और आर्थिक संसाधनों एवं अवसरों के वितरण में लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित संस्थाओं की भूमिका ने सत्ता और साधन प्राप्त करने के लिए जातीय संगठनों को राजनीति के क्षेत्र में जाने की आवश्यकता के प्रति सजग बनाया। इस नई चेतना ने जातिगत संगठनों के कार्यों को तीन व्यापक चरणों में प्रभावित किया :

i) इसने जातीय होड़ को बढ़ाकर जाति की अस्मिता को मजबूत किया। इसके उदाहरण हैं : महाराष्ट्र में महरों और मराठों, आंध्र प्रदेश में कम्मा और रेड्डियों, कर्नाटक में लिंगायतों और वोक्कालिगाओं तथा बिहार में राजपूतों और भूमिहारों की प्रतिद्वंद्विता। दक्षिण भारत में ऐसी अधिकतर प्रतिद्वंद्विताओं में ब्राह्मण विरोधी गुट भी शामिल था।

ii) एक ओर, इन जातिगत होड़ों से जातियों की अस्मिताएँ प्रखर हुईं, दूसरी ओर जातिगत राजनीति की माँग के कारण जल्दी ही इनकी जगह जातिगत सहयोग या गठजोड़ों ने ले ली। इससे जातियों के बीच विलय या मिल जाने की प्रक्रिया शुरू हो गई। इसका उद्देश्य मुख्य रूप से सत्ता और संसाधन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक आधार को मज़बूत बनाना था। इसके परिणामस्वरूप जातियों के विलयन के ज़रिए अनेक जातिगत संगठन उभर आए, जैसे गुजरात में क्षत्रिय महासभा, तमिलनाडु में वाणियर कुल संघम् और उत्तर प्रदेश में अहीर, जाट, गूजर, राजपूत (अजगर) संगठन। चुनाव की राजनीति के लिए कृषि कर्म करने वाली जातियों को एक ही इकाई में संगठित करने की कोशिश की गई। देश के विभिन्न भागों में जाति के आधार पर कई राजनीतिक दल उभर आए।

iii) विलयन की इस प्रक्रिया के कुछ समय तक चलने के परिणामस्वरूप जो तीसरा चरण सामने आया, वह है—जातीय संगठनों में विखंडन की प्रक्रिया। जातीय संगठनों में विखंडन की प्रक्रिया उन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विताओं से उत्पन्न आंतरिक तनावों का परिणाम है, जो प्रतियोगी जातियों के बीच सत्ता और संसाधनों में हिस्सेदारी के असमान वितरण के कारण पनपते हैं। इस प्रकार एक में विलीन होने वाले संगठन में संख्या या सामाजिक और आर्थिक विकास की दृष्टि से समान स्तर प्राप्त नहीं होता, इसलिए जो अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में होते हैं वे अवसरों और संसाधनों का अधिकतर भाग ले लेते हैं और कम हैसियत वालों को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। इससे निराशा और तनाव उत्पन्न होते हैं और आखिरकार जातिगत संगठनों में दरारें आ जाती हैं और उनका टूटना शुरू हो जाता है।

20.4.2 जाति के राजनीतिकरण के परिणाम

राजनीति के आधुनिकीकरण और राष्ट्रीय एकता में जातीय संगठनों के योगदान के संदर्भ में उनके विलयन और विखंडन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। इससे हमें पता चलता है कि जातियों को जातीय संगठन में बदलने की दिशा में प्रत्येक कदम जातीय चेतना की संस्कार संबंधी विधियों और जातीय निष्ठाओं को भी कमजोर बनाता है क्योंकि इससे मेल-जोल के धर्मनिरपेक्ष उद्देश्य उजागर होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही यह परंपरागत जाति विचारधारा के साथ एक अशांत मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संबंधों में नागरिक चेतना को प्रखर बनाने में भी योगदान करता है।

जाति हितसाधक या विरोधक समूहों के रूप में

जातीय संगठनों की भूमिका तथा जातियों के विलयन और विखंडन से हितसाधक समूहों के रूप में या विरोध करने वाले समूहों के रूप में जातियों का रूपांतरण प्रकट होता है। संसार में अधिकतर आधुनिक समाजों में ऐसे समूहों, अधिकांशतः स्वयंसेवी संगठनों को स्थान दिया गया है। लेकिन ये जाति संगठन अपनी सदस्यता के स्वरूप के मामले में इन संगठनों से भिन्न होते हैं। परंतु राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जातियों को मिलाने के प्रयत्नों से जन्म के आधार पर जाति की सदस्यता की नई व्याख्या सामने आती है जो इसके अर्थ को व्यापक बनाती है और संस्कार संबंधी परंपरागत महत्व को कमजोर करती है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होगा कि इस तरह के संगठनों की जातिगत संरचना अत्यंत विषम होती है। जन्म और सगोत्रता के सिद्धांत के स्थान पर अब ज़ोर सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक वचन पर दिया जाने लगता है जो कि इन हताश जातियों को एक करते हैं।

यदि जातीय संगठन समाज में केवल हितसाधक समूहों के रूप में काम करते हैं तथा उचित नागरिक साधनों तथा तरीकों से लोगों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक माँगों को उठाते हैं तो इससे राष्ट्रीय एकता के रास्ते में बाधा नहीं पड़ती। परंतु भारत में राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया

को जिससे हानि पहुंचती है, वह है : जातिवाद की बुद्धिहीन और संकीर्ण अभिव्यक्ति। जातीय अस्मिता के जातीय संगठनों में विलय से इस प्रक्रिया को कोई हानि नहीं होती।

भारत में जाति आंदोलन

हमने इस विषय पर विचार किया है कि किस तरह औपनिवेशिक प्रशासन ने भारत में जातिगत चेतना को बढ़ावा दिया और कैसे स्वतंत्रता से पहले अनुसूचित जातियों के लिए अलग निर्वाचक मंडल बनाने का प्रस्ताव किया गया था। दूसरा प्रस्ताव महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर की दूरदर्शिता के कारण लागू नहीं हुआ। परंतु जातियों के राजनीतिकरण को रोका नहीं जा सका और उसने अनुसूचित जातियों और अन्य वर्गों में कई सामाजिक आंदोलनों को जन्म दिया।

अनुसूचित जाति और पिछड़ा वर्ग आंदोलन

अनुसूचित जाति आंदोलनों की विशेषता यह थी कि वे विरोध और सुधार, दोनों के आंदोलन थे। जब राष्ट्रीय आंदोलन के पहले चरण में दलित जातियों ने छुआछूत-संबंधी अशुद्ध तौर-तरीकों को छोड़ कर संस्कृतिकरण की कोशिश की और उच्च जाति का दर्जा प्राप्त करने के लिए "द्विजन्मा" जातियों के विश्वासों और रहन-सहन के तौर-तरीकों को अपनाने की कोशिश की तो उनके आंदोलन में सुधार पर अधिक ज़ोर डाला गया। तमिलनाडु में नाडारों ने क्षत्रिय जाति के दर्जे को अपनाया और सन् 1919 में अपना जाति संगठन नाडार महाजन संघम् बनाया। इसी तरह से उत्तर प्रदेश में चमारों और नोनिया जाति के लोगों ने चौहान क्षत्रियों के दर्जे का दावा किया।

स्वतंत्रता से पहले और बाद में भी संस्कृतिकरण के ऐसे कई उदाहरण देखे गए हैं। ऐसे आंदोलन भी चले थे जो जात-पांत के विरोधी थे और जिन्होंने वर्ण और जाति की ब्राह्मणों की विचारधारा को चुनौती दी। महाराष्ट्र में जोतिबा फुले का आंदोलन ऐसा ही एक उदाहरण था। महाराष्ट्र में सत्यशोधक मंडल, तमिलनाडु में आत्मसम्मान आंदोलन और कर्नाटक में वीर शैव आंदोलन जाति-व्यवस्था के विरोध में थे। डॉ. अंबेडकर ने महाराष्ट्र और देश के अन्य भागों में अनुसूचित जातियों का नेतृत्व किया और उनको अपनी जाति संबंधी कमियों से छुटकारा पाने के लिए बौद्ध धर्म अपनाने को प्रेरित किया। यह आंदोलन महाराष्ट्र में काफी सफल रहा, जहाँ महर बड़ी संख्या में बौद्ध हो गए। स्वतंत्रता के बाद यह आंदोलन कुछ उत्तरी राज्यों में भी फैला। मूल रूप से ऐसे आंदोलन विरोध की विचारधारा से ओत-प्रोत थे।

अनुसूचित जाति के आंदोलन ने विचारधारा का भी रूप लिया। इन विचारों के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति छुआछूत के आधार पर ऊँच-नीच तय करने में न होकर वर्ग प्रभुता के आधार पर हुई थी। तरह वर्ण व्यवस्था की धार्मिक व्याख्या के स्थान पर लौकिक व्याख्या की गई और इस व्याख्या को इतिहास और पौराणिक आख्यानों से प्रमाण देकर पुष्ट करने की कोशिश की गई।

पिछड़ी जाति के आंदोलन

स्वतंत्रता से पहले पिछड़े वर्ग के आंदोलन का आधार मध्यम जातियाँ थीं। मैसूर में लिंगायत शिक्षानिधि संघ और वोक्कालिगा संघ, उत्तर प्रदेश में यादव और कुर्मी महासभा तथा महाराष्ट्र में मराठा आंदोलन ऐसे कुछ उदाहरण हैं। ऐसे कई आंदोलन औपनिवेशिक शासन के समाप्त होने के बाद उभरे। ये सुधार और विरोध दोनों के आंदोलन थे।

स्वतंत्रता के बाद, संरक्षणात्मक पक्षपात के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अलावा पिछड़े वर्गों को एक अलग सामाजिक वर्ग के रूप में मान्यता दी गई, परंतु उनका निर्धारण करने की नीति अस्पष्ट बनी रही कि निर्धारण जाति के आधार पर हो या आय व शिक्षा के आधार पर। इसकी जिम्मेदारी मुख्य रूप से केंद्र के स्थान पर राज्यों को दे दी गई। अलग-अलग राज्यों ने पिछड़े वर्गों के लिए पदों के आरक्षण तथा उन्हें पद, शिक्षा और अन्य संसाधनों को उपलब्ध कराने के लिए अलग-अलग नीतियां अपनाई हैं। यद्यपि पिछड़े वर्गों के लिए भारत के अधिकतर राज्यों में आरक्षण की व्यवस्था कर दी गई है लेकिन इस विषय पर अब भी वाद-विवाद जारी है।

20.5 आधुनिकीकरण, राष्ट्रीय एकता और जाति

आधुनिकीकरण से हर समाज़ की सामाजिक संरचना और मूल्यों में गतिशीलता के नए तत्व उभर कर सामने आते हैं। इन तत्वों के विकास से राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को बल मिलता है। भारत में अब सामाजिक और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का पर्याप्त विस्तार हो चुका है। इसे संविधान, लोकतांत्रिक चुनावों की राजनीति, तथा सामाजिक और आर्थिक सुधारों से बल

मला है। इन सभी की शुरुआत समाज से असमानताओं और शोषण को दूर करने के लिए की गई थी। योजना के ज़रिए शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण, आर्थिक समृद्धि, समाज-सुधार और वितरणशील न्याय के क्षेत्रों में व्यापक प्रयत्न किए गए। इन सभी ने भारत में सामाजिक संरचना, मूल्यों और जातिपरक प्रथाओं पर गहरा प्रभाव डाला है।

शुरू में, विरोध और सुधार की शक्तियों के रूप में जातिगत संगठनों को, जातिवाद को मज़बूत करने वाली शक्तियों के रूप में देखा गया। कुछ समाजशास्त्रियों ने यह भविष्यवाणी की कि कालांतर में भारत की जातिव्यवस्था का ढांचा अधिक मज़बूत होगा। परंतु जल्दी ही यह पाया गया कि जातिगत संगठनों ने आधुनिकीकरण की सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक माँगों के प्रति हमारे समाज की मुखर व अनुकूल प्रतिक्रिया को प्रकट किया। उनका ध्यान जाति या जातिवाद पर उतना नहीं था, जितना लोगों को जातिगत अस्मिताओं के आधार पर आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में भाग लेने के लिए जुटाना था, क्योंकि उस समय तक वैकल्पिक अस्मिताएँ मौजूद नहीं थीं या तब तक विकसित नहीं हुई थीं। यह तथ्य जातियों के विलयन और विखंडन की प्रक्रियाओं से साफ प्रकट हुआ। इन प्रक्रियाओं से अपने में ढालने की जाति की वह क्षमता दिखाई दी कि कोई भी जाति सगोत्रीय या उपजाति की अनूठी संरचनात्मक सीमाओं से परे ऊपर से नीचे और समान स्तर पर प्रसार की दिशा में आगें बढ़ सकती है।

जैसे-जैसे व्यावसायिक कार्यों में गति आई वैसे-वैसे देश में शिक्षा, शहरीकरण और औद्योगीकरण तथा बाजार की शक्तियों का विकास हुआ। जाति की अस्मिताओं पर दबाव पड़ने लगा। मज़दूरी की एवज में मुद्रा देने की व्यापक प्रणाली और गाँवों में बाज़ार के प्रवेश ने **जजमानी** व्यवस्था की आर्थिक भूमिका लगभग समाप्त कर दी। व्यवसायों की वंशगत विशेषज्ञता का अर्थव्यवस्था में प्रभाव समाप्त हो गया। बड़ी संख्या में लोगों के शहरों में चले जाने से जाति पर आधारित आर्थिक और संस्कार संबंधी विधियों के लेन-देन के बंधन टूट गए हैं। जमींदारी उन्मूलन और पंचायत राज के शुरू हो जाने से उच्च जातियों और वर्गों द्वारा निम्न जातियों के संरक्षण और शोषण को बहुत बड़ा धक्का लगा।

इस तरह, भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने जाति व्यवस्था की सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक आधारों को काफ़ी कमजोर कर दिया। संरचनात्मक क्षेत्र में, वंश-परंपरागत व्यवसाय अलंघनीय नहीं रहे हैं, देश के अधिकतर भागों से जजमानी के संबंध समाप्त हो गए हैं और परिवहन के नए साधनों के शुरू हो जाने से तथा शहरीकरण और औद्योगीकरण की वृद्धि से आपसी सामाजिक संबंधों की बाधाएँ विशेष रूप से "छुआछूत" की भावना कमज़ोर होने लगी। अब छुआछूत की प्रथा को मानना या इसका समर्थन करना, जानबूझकर किया गया एक दंडनीय अपराध है। हम पाते हैं कि भारत में बड़ी संख्या में स्वैच्छिक संगठन अपनी सदस्यता के लिए जाति के सिद्धांत को छोड़ चुके हैं। वे सामाजिक उद्देश्यों, व्यावसायिक हितों और सार्वजनिक कार्यों पर आधारित होते हैं। इस तरह, संभव है कि जाति नष्ट हो जाए या अपने परंपरागत रूप को छोड़कर नया रूप अपना ले। ऐसी सभी प्रक्रियाएँ एक-एक करके राष्ट्रीय एकता की शक्तियों को मजबूत करती हैं।

बोध प्रश्न 2

1 संरक्षणात्मक पक्षपात क्या होता है? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 जातिगत संगठन हितसाधक समूह के रूप में कैसे काम करते हैं? दो पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 वे कौन से प्रमुख कारक हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता के बाद जाति-व्यवस्था को प्रभावित किया? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

20.6 जनजातीय संस्कृतियाँ : विविध स्वरूप और समस्याएँ

भारत की जनजातीय संस्कृतियों को भारतीय सभ्यता के एक आयाम के रूप में ही माना जा सकता है। प्राचीन काल से कुछ जनजातीय समूह उन्नत सभ्यता के संपर्क में थे। ऐसे संपर्क के उल्लेख रामायण और महाभारत के समय में ढूँढे जा सकते हैं, जहाँ जनजातीय समुदायों को जातीय समाज से बिलकुल अलग "जन" के रूप में कहा गया है। ये जनजातीय लोग शारीरिक रूप-रंग में अलग थे, ये अपरिचित देवताओं की पूजा करते थे और पहाड़ों तथा जंगलों में रहते थे।

20.6.1 भारत में जनजातियों की जनसंख्या

भारत में जनजातीय समूहों की संख्या बहुत विशाल है। भारत की कुल जनसंख्या का 7 प्रतिशत भाग जनजातीय समूहों का है। मुख्यत: ये समूह देश के चार भागों में पाए जाते हैं। उत्तर पूर्वी राज्यों, अरुणाचल, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम और मेघालय में अधिकांश संख्या गुजरात से बंगाल तक की जनजातियों की है। परंतु अधिकांश जनजातियाँ मध्यवर्ती भारत के क्षेत्र में रहती हैं। मध्य प्रदेश और उड़ीसा जैसे राज्यों में जनजातियों की संख्या इन प्रदेशों की जनसंख्या के 20 प्रतिशत से अधिक हैं। बिहार, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश, गुजरात और राजस्थान में जनजातियों का प्रतिशत कुल जनसंख्या का 4 से लेकर 15 प्रतिशत तक है। परंतु पूरे मध्यवर्ती भारतीय क्षेत्र या अंचल में केवल 13 ज़िलों में जनजातीय लोग बहुसंख्या में हैं। जनजातीय जनसंख्या का तीसरा बड़ा क्षेत्र हिमालय की घाटी का है जो कश्मीर से सिक्किम तक फैला हुआ है। जनजातीय जनसंख्या का चौथा क्षेत्र सुदूर दक्षिण में है, जहाँ इनकी आबादी अपेक्षाकृत कम है। देश में, अलग-अलग संख्याओं में लगभग 450 विशिष्ट जनजाती . समूह हैं, जिनकी संख्या अधिकतम चालीस लाख से लेकर मात्र दो दर्जन तक है। उनके रहन-सहन के तौर-तरीके अधिकतर उनके जीवन-यापन के साधनों पर निर्भर होते हैं, जैसे शिकार करने वाले अन्न इकट्ठा करने वाले, विभिन्न प्रकार की कलाओं और हस्तशिल्पों में लगे हुए दस्तकार समूह और औद्योगिक श्रमिकों के रूप में काम करने वाले लोग भी। यद्यपि अधिकतर जनजातीय लोग जनगणना में हिंदू बताए गए हैं, पर काफी संख्या में वे धर्मपरिवर्तन करके ईसाई बन गए हैं तथा कुछ मुसलमान और बौद्ध भी हो गए हैं। शेष अपने ही परंपरागत विश्वासों और मान्यताओं को मानते हैं। यह आम धारणा सही नहीं है कि जनजातीय लोग अधिक संख्या में ऐसे क्षेत्रों में रहते है, जो व्यवस्थित खेती के लायक नहीं होते, क्योंकि देश में जनजातियों की अधिकतर संख्या पठारों या मैदानों में व्यवस्थित खेती के आधार पर अपना जीवन बिता रही है। हाँ, कुछ जनजातियाँ ऐसे इलाकों में बसी हुई हैं, जहाँ ऊँची-नीची ज़मीन और भूमि के विशेष झुकाव के कारण मैदानी खेती के लिए कोशिश ही नहीं की जा सकती।

20.6.2 जनजातीय नृजातीयता

मध्यवर्ती भारत में जनजातियों में नजातीय तत्व दिखाई देता है, जिसके कारण गहरे श्याम रंग के, गोल चेहरे वाले, चौड़ी और दबी हुई नाक वाले और छोटे ललाट वाले होते हैं। उत्तर-पूर्वी भाग में जनजातीय आम तौर पर मंगोलियाई शारीरिक आकृतियों वाले होते हैं। इसके कुछ लक्षण गुजरात और केरल की जनजातियों में भी मिले हैं। इस तरह से जनजातीय लोग अपने क्षेत्रों की प्रमुख आबादी के लोगों से काफी भिन्न लगते हैं और वे यदि सांस्कृतिक और भाषाई रूप में प्रमुख आबादी में घुल-मिल भी जाएँ तो भी यह तथ्य छिप नहीं पाता कि नागा लोग असम की हिंदू जाति से बहुत अलग दिखाई देते हैं और कोचीन में कोई भी कादर आम हिंदू आबादी से बिलकुल भिन्न लगता है। इतने अधिक प्रजातीय अंतरों के बावजूद भारत में प्रजातीय तनावों के कोई मामले

सामने नहीं आए। इस सामंजस्य का एक कारण हिंदू समाज की उस विचारधारा में अंतर्निहित है, जो यह मानकर चलती है कि मानवता वस्तुत: अलग-अलग समूहों में विभाजित होती है। जब हिंदू जातियों में आपस में सगोत्रीय विवाह और सामाजिक एकांतिकता के संबंधों पर रोक है तो प्रजातीय रूप से अलग-अलग समूहों के बीच सामाजिक दूरी रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

20.6.3 जनजातीय भाषाएँ

भारतीय जनजातीय समूह कई भाषाएँ बोलते हैं, जो मुख्यत: तीन भाषाई परिवारों में आती हैं, जैसे—भारतीय आर्य भाषा समूह आस्ट्रोएशियाई भाषा-समूह और द्रविड़ भाषा समूह। भारतीय आर्य भाषाओं में कुछ भाषाएँ जनजातीय भाषा के रूप में जानी जाती हैं, जैसे—भीली। वैसे भाषा कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसमें परिवर्तन नहीं आता और इसीलिए हम पाते हैं कि चाहे जनजातीय समुदाय अपनी नृजातीय अस्मिता भले न बदलें, परंतु वे मुख्य क्षेत्रीय भाषा में प्रवीण हो सकते हैं। ऐसी प्रक्रिया में पहली स्थिति आमतौर पर द्विभाषिकता या दो भाषाएँ बोल सकने की होती है। कभी-कभी यह बीच की अस्थायी अवस्था होती है, जिसमें पहले जनजातीय भाषा का ह्रास होता है और आखिर में भाषा ही समाप्त हो जाती है। यह प्रक्रिया सैकड़ों वर्षों से चलती रही है और कई जनजातीय समुदायों की, विशेष रूप से छोटे-छोटे समुदायों की अपनी मूल भाषाएँ समाप्त हो गई हैं और वे भारत की मुख्य भाषाओं में से कोई एक भाषा बोलते हैं। इस तरह से मध्यवर्ती भारत के आधे गोंड़ लोग गोंड़ी भाषा बिल्कुल नहीं जानते और जिस क्षेत्र में वे बसे हुए हैं, वहाँ के अनुसार हिंदी या मराठी या तेलुगु बोलते हैं। उड़ीसा में कुछ जनजातियों में अनुष्ठान संबंधी पूजा पाठ और मंत्र भी उड़िया में बोले जाते हैं। जनजातीय समुदाय भाषा अपनाने के साथ-साथ कई विचारों और संकल्पनाओं को भी ग्रहण करता है तथा विविध प्रकार के आचार व्यवहार को भी स्वीकार करता है।

20.6.4 पारिस्थितिकीय (Ecological) असंतुलन और जनजातियाँ

प्रकृति का जनजातियों के जीवन पर स्थायी प्रभाव होता है। जनजातीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न रूप आसपास के प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर विकसित हुए हैं।

जनजातीय समुदाय के लोग अच्छे स्वास्थ्य और आरामदेह आवास में लंबे समय तक प्राकृतिक परिवेश में निर्वाह करते रहते हैं परंतु कई कारणों से कई वन क्षेत्रों में यह प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया है। गैर-कानूनी शिकार और व्यापार के कारण बड़े पैमाने पर वन्य जीवन नष्ट हो गया है। वन संसाधनों के ह्रास और स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाले पेड़-पौधों के स्थान पर वाणिज्यिक प्रजातियों के उगाने से वनस्पति भी बहुत बदल गई है। इन दोनों बातों ने जनजातियों की आम खुराक पर असर डाला है। जनसंख्या के दबाव के बढ़ने और आरक्षित वनों के उपयोग पर रोक जैसे संसाधन नियंत्रण उपायों के कारण यह असंतुलन और भी बढ़ गया है। कुछ क्षेत्रों में जहाँ खाद्य संसाधन पर्याप्त नहीं होते, वहां जनजातियों को कड़वी अखाद्य जड़ों और कंद को खाकर जीवन निर्वाह करना पड़ता है या काफी समय तक बिना खाए ही रहना पड़ता है। कई जगहों में तो झोंपड़ियाँ बनाने में काम आने वाली सामग्री ही नहीं मिलती। इस प्रकार खाने और रहने की मूल आवश्यकताओं को पूरा करना भी उनके लिए कठिन हो रहा है। इनमें से अधिकतर जनजातियों में साक्षरता नाममात्र को है और इनकी जनसंख्या भी लगभग स्थिर है। उन्हें जनजातीय और गैर जनजातीय, दोनों ही उन्नत समुदायों द्वारा हर प्रकार से दबाया गया है। उनमें से कुछ को तो स्वास्थ्य की विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और उनका अस्तित्व खतरे में है। बस्तर के अबुझमाड़िया, उड़ीसा के बांदो पोरोजा तथा अंडमान के ओंगे और जारावा इसके उदाहरण हैं।

20.6.5 जनजातीय किसानों की समस्याएँ

भारत में जनजातियों का इतिहास किसान बनने का इतिहास रहा है। सरकार की यह नीति है कि झूम खेती का दायरा कम से कम किया जाए, सीढ़ीदार खेती को बढ़ावा दिया जाए और जनजातीय क्षेत्रों में नई कृषि लागू करके वहाँ कृषि के क्षेत्र में पूँजी लगाए जाने की गति तेज़ की जाए। सरकारी अभिकरणों ने उन्नत कृषि प्रौद्योगिकी का विस्तार किया है नई-नई तकनीक विकसित करने की कोशिश की जा रही है, जिससे सूखा पड़ने वाले इलाकों और पहाड़ी भूमि में इस परिवर्तन के परिणाम दिखाई देंगे। वर्तमान में अधिकतर स्थायी खेती गुजारे भर की है और जनजातियों का उत्पादन बेचा नहीं जाता। वे कभी-कभी संकट आने पर कुछ जरूरी चीज़ों को खरीदने के लिए अपने उत्पादनों की बिक्री करते हैं। हाँ, छोटा नागपुर के मुंडा और ओराँव, मध्यवर्ती भारत के गोंड और कोर्कू तथा नीलगिरि के बडगा और मुल्लुकरम्बा में आधुनिक खेती के कुछ-कुछ क्षेत्र उभर रहे हैं। नारियल की नकदी फ़सल ने निकोबारियों को समृद्ध समुदाय बना

दिया है। गुजरात, राजस्थान, आंध्र प्रदेश और छोटा नागपुर के जनजातीय क्षेत्रों से नकदी फ़सल उगाए जाने की भी सूचनाएँ मिली हैं।

परंतु अधिकतर भारतीय जनजातीय समाज खेती की अर्थव्यवस्था के परंपरागत रूप वाला ही है जिसमें छोटे-छोटे किसानों की सामान्य प्रौद्योगिकी और उपकरणों पर आधारित व्यवस्था काम करती है। ये खेतिहर प्राय: अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने ही उगाए उत्पादनों पर निर्भर रहते हैं।

भूमि के लिए ललक और भूमि हस्तांतरण तथा भूमिहीनता

जनजातीय बहुलता वाले मध्यवर्ती क्षेत्र में भूमि और कृषि की समस्याएँ विकास की मुख्य समस्याएँ हैं। पश्चिमी क्षेत्र में हमें भूमि की कमी और उसके लिए ललक देखने को मिलती है। ऐसा अधिक ताकतवर जातियों—राजपूत, मराठा और अन्य हिंदू किसानों द्वारा जनजातियों को अच्छे क्षेत्रों से निकालकर पिछड़े क्षेत्रों में ढकेल देने के कारण हुआ है। अधिक भूमि के लिए चाह के अन्य कारण हैं—भूमि की कम उत्पादकता, खेती करने के बहुत पुराने तरीके और अन्य लोगों द्वारा जनजातियों का लगातार शोषण। संरक्षणात्मक कानून के बावजूद जनजातियों को शोषण से छुटकारा नहीं मिला है। जनजातीय अर्थव्यवस्था को विविधता प्रदान नहीं की गई है।

मध्यवर्ती भारत के सभी भागों में जनजातियों से गैर जनजातीय लोगों के हाथों में भूमि का कब्जा जाने से रोकने के प्रयत्न किए गए हैं। परंतु ये कानून में खामियों के कारण सफल नहीं हुए। इन खामियों का पता बाद में लगा। ढेबर आयोग ने इस संकट को हल करने के लिए कई सिफारिशें की थीं।

जनजातीय क्षेत्रों में भूमि और खेती की समस्या अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि जनजातियों के पास आवश्यकता से अधिक सामग्री नहीं होती। सूखा पड़ने वाले क्षेत्रों में तो मानसून के न आने के कारण उन पर बहुत बड़ी विपत्ति आ जाती है। कई क्षेत्रों में लगातार अभाव की स्थिति बनी रहती है।

ऋणग्रस्तता और बँधुआ मज़दूरी

लगभग सभी जनजातीय क्षेत्रों में शोषण का सबसे खराब रूप है, पुराने समय से चला आ रहा रुपया उधार देने का तरीका जिसका असर जनजातीय लोगों पर पहले भी रहा है और अभी भी है।

ऋणग्रस्तता का एक और दुर्भाग्यपूर्ण पहलू बँधुआ मज़दूरी है। यह प्रथा कई क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से प्रचलित है। बँधुआ मज़दूरी को कानून द्वारा समाप्त करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं, परंतु यह नहीं समझा गया कि बँधुआ मज़दूरी से छुटकारा उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना बँधुआ मज़दूरों का पता लगाना और उन्हें फिर से बसाना तथा काम धंधे में लगाना है। यदि वर्तमान स्थिति में बदलाव लाना है तो पुनर्वास योजनाओं को तेजी से लागू करना होगा।

बोध प्रश्न 3

1 जनजातीय लोग मुख्य रूप से जीविका के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करते हैं : ☐ हाँ ☐ नहीं

2 पारिस्थितिकीय (Ecological) असंतुलन ने जनजातियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है : ☐ हाँ ☐ नहीं

3 मंगोलियाई शब्द निम्नलिखित में से किससे संबंधित है :

क) जनजाति का शारीरिक चेहरा मोहरा

ख) जनजाति की भाषा

ग) जनजाति की अर्थव्यवस्था

4 जनजातीय लोगों और गैर जनजातीय लोगों के बीच के संबंध की प्रक्रिया में जनजातीय लोगों को भूमि और अन्य प्राकृतिक संसाधनों की अधिक सुलभता होती है। ☐ हाँ ☐ नहीं

5 तीन पंक्तियों में जनजातीय किसानों के सामने आने वाली प्रमुख समस्याएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

20.7 शहरी परिवेश में जनजातियाँ

भारत में जनजातीय आबादी का बहुत छोटा हिस्सा शहरों में रहता है। यह सही है कि लंबे समय तक जनजातीय लोग शहरी वातावरण या परिवेश से बहुत दूर थे। परंतु, हाल में विशेष रूप से जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासनिक केंद्रों की स्थापना, संचार की वृद्धि और औद्योगीकरण की बढ़ती हुई गति के कारण कुछ जनजातीय लोग शहरी क्षेत्रों में आ गए हैं।

20.7.1 औद्योगीकरण और वि-जनजातीयकरण (Detribalisation)

शहरीकरण धीमी प्रक्रिया है और लोगों को शहरी मूल्यों को अपनाने में कुछ समय लगता है, जबकि औद्योगीकरण में परिवर्तन बहुत तेज़ होता है। औद्योगिक वातावरण में, शुरू में बाहर से आने वाला समूह, क्षेत्र विशेष में ही बसता है और अपने में सिमटकर रहने का प्रयत्न करता है। परंतु काफ़ी समय व्यतीत हो जाने के बाद ऐसा संभव नहीं हो पाता और लोग इधर-उधर बिखर जाते हैं।

पहली पंचवर्षीय योजना के बाद, जब देश को बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण के रास्ते पर ले जाने के लिए उपाय किए गए तब यह मालूम हुआ कि इस्पात संयंत्रों को लगाने के लिए सबसे उपयुक्त स्थान मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में कुछ क्षेत्रों में होंगे। इस क्षेत्र में लोहा और इस्पात, दोनों ही पाए गए थे। यह एक संयोग है कि ये सभी क्षेत्र जनजातीय क्षेत्र के बीचोंबीच हैं। स्वतंत्रता से पहले भी झरिया और रानीगंज के कोयला खनन क्षेत्र में जनजातीय लोग बड़ी संख्या में थे। यही बात जमशेदपुर के इस्पात शहर के बारे में भी है, जो जनजातिय क्षेत्र के बीचोंबीच स्थित है। गुआ और नौआमुंडी में लोहा और कोयला खानें तथा मोसाबनी में ताँबा खानें तथा लोहरदगा की बॉक्साइट खानें इसी क्षेत्र में आती हैं। इस तरह से जनजातीय क्षेत्र में औद्योगीकरण बड़े पैमाने पर हुआ है और उससे न केवल उद्योगों में लगे जनजातीय मजदूरों में बल्कि उनके आश्रितों और पड़ोसियों में भी तेजी से बदलाव आ रहा है।

20.7.2 मुद्रीकरण और शिक्षा का प्रसार

मुद्रा की अर्थव्यवस्था से परिचित हो जाने के बाद शहरी जनजातीय लोगों के जीवन में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया है। इस अर्थव्यवस्था ने व्यक्तिगत उपलब्धि और व्यवसायों को प्रधानता दी जबकि पहले नातेदारी पर आधारित सामुदायिक व्यवस्था की प्रधानता थी। फलस्वरूप, परिवार की संरचना में तथा उसमें पुरुषों और महिलाओं की स्थिति तथा भूमिकाओं में आमूल परिवर्तन हो गया है। छोटों की अपने बड़ों के प्रति, महिलाओं की पुरुषों के प्रति, आम जनजातीय व्यक्ति की मुखिया के प्रति पारंपरिक धारणाओं तथा व्यापक रीतियों और शिष्टाचारों के लिए औद्योगिक समाज में बहुत कम जगह होती है। उद्योग में नए प्राप्त हुए दर्जे और हैसियत से नेतृत्व के स्वरूप और प्रकृति पर असर पड़ता है। जो व्यक्ति मजदूर के रूप में अपना जीवन शुरू करता है, वह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ फोरमैन बन जाता है, और कई प्रकार से मध्य वर्ग के दर्जे में आ जाता है। ऐसी सामाजिक गतिशीलता इससे पहले अज्ञात थी। इससे स्वयं के प्रति और अपने दर्जे के प्रति सचेत समूह का प्रादुर्भाव होता है और अंततः ऐसी वर्ग व्यवस्था का विकास होता है, जो आमतौर पर मध्यवर्ती भारत में जनजातीय समूहों के लिए अनजानी बात थी और जो समतावादी समाज के जनजातीय आदर्श के विरुद्ध है।

शहरों में उपलब्ध आधुनिक शिक्षा सुविधाओं ने कार्य-कारण संबंध के सिद्धांतों पर जोर डालने से बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। इस नए वैज्ञानिक और तार्किक आधार ने अंधविश्वास और जादू-टोने की मान्यता को कम कर दिया है। औद्योगिक वातावरण में अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के प्रति व्यक्ति की चेतना बढ़ी है। वास्तव में मजदूर संघ सारे

समय इसी सजगता को बढ़ाने में लगे रहते हैं। इस तरह शहरी औद्योगिक जनजातीय लोगों को अपनी शिकायतों और तकलीफों के बारे में आवाज उठाने और अपने भाग्य को अपने आप बनाने के अधिकार की माँग करने के अधिक अवसर मिलते हैं।

20.7.3 जनजातीय लोगों के सामाजिक जीवन में परिवर्तन

सबसे बुनियादी परिवर्तन सजातीयता का समाप्त हो जाना है जो जनजातीय लोगों की विशेषता रही है। बाहर से आए हुए जनजातीय मजदूरों को शहरों/कस्बों में अन्य मजदूरों के बीच झोपड़ियों में रहना पड़ता है और उस स्थिति में उनकी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हल्की और अस्पष्ट हो जाती हैं। अंतिम, परंतु सबसे महत्वपूर्ण, बात जनजातीय लोगों में अपराध की प्रवृत्तियों का विकास है। राँची और जमशेदपुर के आसपास के इलाकों में अध्ययनों से पता चला है कि जनजातीय युवक अपराधी गिरोहों में शामिल हो गए हैं और उनमें बहुत सक्रिय हैं। मजदूरों की बस्ती में, व्यक्ति के अपेक्षाकृत अनजान होने से, जनजातीय लोगों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के लिए काफी अवसर रहता है। जो सामाजिक नियंत्रण बड़े-बूढ़े लोग और पारंपरिक गाँव के मुखिया रखते थे, वह शहर/कस्बे में नहीं होता।

शहरी औद्योगिक क्षेत्रों में जनजातीय समूह की सीमा से परे जाने की प्रवृत्ति भी जनजातीय लोगों में पाई जाती है। अंतर जनजातीय विवाह, राजनीतिक संगठनों और मजदूर संगठनों से जुड़े होने के कारण जनजातीय लोगों के संबंध व्यापक हो जाते हैं। रेडियो, चलचित्रों और समाचार पत्रों तथा हाल ही में, दूरदर्शन के कारण संसार के समाचार मिलते हैं, जो पहले जनजातीय लोगों की कल्पना से परे थे। इससे संसार के बारे में उनके विचार तथा दृष्टिकोण का विस्तार होता है और उनकी आकांक्षाओं के स्तर में भी वृद्धि होती है।

पहले जनजाति का कोई सदस्य कष्ट, बेकारी या बीमारी के समय अपने संबंधी से सहायता माँगता था। वंश के संबंधों से सुरक्षा की भावना आती थी। अब वैवाहिक परिवार वंश से अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। दूसरी ओर अवकाश के समय की गतिविधियाँ सामाजिक परिवर्तन की सूचक होती है। उनके ज़रिए हम तनावों, निराशाओं और मूल्यों का अध्ययन कर सकते हैं। अधिकतर गतिविधियाँ न केवल सुखदायक होती हैं, बल्कि लक्ष्य-प्रधान भी होती हैं। जनजातीय लोग गाँवों में चावल से बनी शराब पीते थे, सहवास करते थे, नाचते थे, लोक कथाएँ और पहेलियाँ सुनाते थे, पड़ोसियों के यहाँ जाते थे और अपने संबंधियों के बारे में गप्पे मारते थे। इस तरह की गतिविधियों में पुरुषों, महिलाओं और बच्चों की अपनी विशेष भूमिकाएँ होती थीं। शहरी वातावरण में इनमें से अधिकतर गतिविधियों की जगह अन्य क्रियाकलापों ने ले ली है। जैसे फिल्म, नाटक, फुटबाल मैच आदि देखने जाना।

खान-पान की आदतें भी तेजी से बदल रही हैं। गाँव में लोग चावल और सब्जी या दाल से अथवा कभी-कभी सामिष भोजन से संतुष्ट हो जाते थे। अब गेहूँ के आटे का और साथ में सब्जियों, मांस-मछली, अंडे और दूध का अधिक मात्रा में उपयोग किया जा रहा है। चाय पीना एक नियमित आदत बन गई है।

जनजातीय लोगों और गैर-जनजातीय लोगों में मुक्त रूप से मिलना-जुलना हो रहा है। इन समूहों के बीच विवाह भी हो रहे हैं। भाषागत अनुसरण तेज़ी से हो रहा है, साथ ही धर्म का महत्व कम हो गया है।

ऐसा दिखाई देता है कि शहरी वातावरण में विशिष्ट जनजातीय लक्षण और विशेषताएँ समाप्त हो रही है तथा जनजातीय लोग अधिक से अधिक व्यापक समाज का अंग बनते जा रहे हैं। वे जन समूहों के एकीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। इस संश्लेषण या पुनःएकीकरण का रूप धीरे-धीरे स्पष्ट हो रहा है। फिर भी, हम चाहेंगे कि जनजातीय लोग औद्योगिक शहरी नैतिकता के ज्वार में पूरी तरह बह न जाएँ, बल्कि वे अपना निजत्व बनाए रखें और अपने मूल्यवान योगदान से भारतीय संस्कृति को समृद्ध करते रहें।

20.8 भारत में जनजातीय विकास के प्रति दृष्टिकोण

प्रौद्योगिक रूप से कम विकसित होने, उनके आम आर्थिक पिछड़ेपन, सामाजिक-सांस्कृतिक समायोजन की जटिल समस्याओं और अलग विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने की दृष्टि से जनजातीय लोग राष्ट्र के लिए विशेष महत्व रखते हैं। जनजातीय समस्या के प्रति हमें

अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। निम्नलिखित तीन आदर्श या दृष्टिकोण हैं – संरक्षण, आत्मसात्करण और एकीकरण।

20.8.1 संरक्षणवादी दृष्टिकोण

संरक्षणवादी आदर्श का आधार जनजातीय लोगों को अलग-थलग रखने के लिए पुराने जमाने में किया गया प्रयत्न है। औपनिवेशिक शासन में सरकार पूरी तरह या आंशिक रूप से अलग-थलग रखने की अपनी नीति के ज़रिए जनजातीय लोगों को बाकी आबादी से अपेक्षाकृत अलग रखना चाहती थी। यह दृष्टिकोण उस समय की स्थिति को देखते हुए ठीक था। प्रशासन पहाड़ों और वनों तक नहीं पहुँच सकता था। कई अंग्रेज प्रशासक यह अनुभव करते थे कि जनजातीय लोगों के रहन-सहन के तौर तरीके में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि वह अन्य भागों में मौजूद तौर-तरीकों से अधिक संतोषजनक था। औपनिवेशिक नीति जनजातीय लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन की उठती हुई लहर से अलग और अप्रभावित रखने की थी।

अलग-थलग रखने की इस नीति का दोष गलती से उन नृविज्ञानियों पर थोपा गया है, जिनके बारे में यह माना गया कि वे अपने अध्ययन के लिए जनजातीय संस्कृति को उसके मूल रूप में बनाए रखना चाहते थे। वेरियर एल्विन ने एक समय जनजातीय लोगों के लिए 'पार्क लैंड' का सिद्धांत अवश्य ही सुझाया था, ताकि उनके साथ मुक्त संपर्क और उसके ज़रिए बाहरी लोगों द्वारा उनका बहुत अधिक शोषण न हो। परंतु स्वतंत्रता के बाद वेरियर एल्विन ने जनजातीय क्षेत्रों में रचनात्मक हस्तक्षेप की नीति का पूरी तरह से समर्थन किया था।

20.8.2 आत्मसात्करणवादी दृष्टिकोण

जनजातीय लोगों को आत्मसात् कर लेने का दृष्टिकोण उन सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वैच्छिक अभिकरणों ने रखा था जो जनजातीय क्षेत्रों में सेवा कार्यों में लगे थे। ऐसे विचारों वाले लोग आदर्शवाद की भावना से प्रेरित थे। फिर भी, उनके सुधारवादी दृष्टिकोण से जनजातीय लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँच सकती थी। यह दृष्टिकोण प्रोफेसर घुरये के इस विचार से उत्पन्न हुआ था कि जनजातीय लोग केवल पिछड़े हुए हिंदू ही थे, जो प्रौद्योगिक दृष्टि से अधिक उन्नत जनसंख्या द्वारा पहाड़ियों और वनों में धकेल दिए गए थे।

इससे भिन्न दृष्टिकोण ईसाई पादरियों का है, जो यह मानते हैं कि जनजातीय लोगों की समस्याओं को उन्हें ईसाई बनाकर सुलझाया जा सकता है। यदि जनजातीय लोगों को अपने अधिकतर पड़ोसियों से अलग किए बिना धर्म परिवर्तन करने से राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती है और उन्हें आधुनिक जीवन में अधिक अच्छी तरह से भाग लेने के लिए तैयार किया जा सकता है तो शायद ही इसका कोई विरोध हो। परंतु यदि यह धर्म परिवर्तन उन्हें कोई वैकल्पिक संतोष प्रदान किए बिना गैर-जनजातीय बना देता है और उनकी संस्कृति को खत्म कर देता है तो यह कहा जा सकता है कि इसने कोई गंभीर समाधान प्रस्तुत नहीं किया है।

20.8.3 एकीकरणवादी दृष्टिकोण

तीसरा दृष्टिकोण एकीकरण का है, जिसमें जनजातीय लोगों को अपनी अलग एवं विशिष्ट पहचान को समाप्त किए बिना राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में लाने के लिए प्रयत्न किए जाएँगे। भारतीय संस्कृति एक पच्चीकारी (मोज़ेक) के समान है, जिसमें अलग-अलग तत्व उसकी सुंदरता को बढ़ाते हैं। नृविज्ञानी जनजातियों को भारतीय जीवन की मुख्य धारा में मिलाने या एकीकरण को स्वाभाविक और वांछनीय लक्ष्य मानते हैं। परंतु साथ ही वे इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि जनजातियों के लिए योजनाएँ बनाते समय सावधानी बरती जाए और कुछ क्षेत्रों में संदेहास्पद मूल्य वाले नए कार्यक्रमों के संबंध में संयम रखा जाए। इस समस्या से संबंधित नृवैज्ञानिक चिंतन के आवश्यक तत्वों को, अधिकतर राष्ट्रीय नीतियों में शामिल किया गया है। इन विचारकों ने जनजातीय संस्कृति को समझने तथा न केवल उनकी विभिन्न समस्याओं का पता लगाने, बल्कि उनके जीवन की उन समन्वयी शक्तियों को भी जानने के महत्व पर जोर दिया है जो सांस्कृतिक ताने-बाने, को जोड़ने का काम करती हैं। उन्होंने सावधान किया है कि विकास योजनाएँ इस तरह बनाई जाएँ ताकि जनजातीय लोगों की ज़रूरतों का क्षेत्रीय और राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित किया जा सके। उन्होंने इन उपायों से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों पर सावधानी से निगाह रखने की सिफारिश की है, जिससे कि जनजातियों की सामाजिक एकता बनी रहे और उनकी जीने की इच्छा को नष्ट करने वाले तत्वों से उन्हें दूर रखा जा सके।

जनजातीय विकास के मार्गदर्शी सिद्धांतों के संबंध में हमारे पहले प्रधान मंत्री पंडित नेहरू के विचारों को वेरियर एल्विन ने जनजातीय पंचशील के रूप में बहुत ही सही ढंग से प्रस्तुत किया

है। इस पंचशील के पाँच मूल सिद्धांत हैं – लोगों का, उनकी अपनी ही ज़रूरतों के अनुसार विकास करना चाहिए; बहुसंख्यक समाज को उन पर कोई भी बात थोपनी नहीं चाहिए; भूमि और वनों पर जनजातीय अधिकारों को मान्यता दी जानी चाहिए; विकास कार्य के लिए उनका अपना नेतृत्व उभारना चाहिए। इन क्षेत्रों में प्रशासन के लिहाज से अति नहीं होनी चाहिए और यथासंभव इस बात के प्रयत्न किए जाने चाहिए कि उनकी अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के ज़रिए ही काम करवाया जाए। और अंत में, इन संबका मूल्यांकन इस बात से नहीं किया जाना चाहिए कि कितना रुपया खर्च हुआ, बल्कि इस बात से होना चाहिए कि उसके द्वारा विकसित हुए मानव के चरित्र का स्तर क्या है?

भारत में जनजातियों की समस्याओं ने, रचनात्मक चिंतन और योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन के लिए अच्छा अवसर प्रदान किया है जिससे कि उनको यथाशीघ्र राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा के निकट लाया जा सके। अब सभी संबंधित व्यक्तियों ने यह मान लिया है कि जनजातीय समस्या ग्रामीण गरीबों की समस्याओं का ही विस्तार नहीं है। ऊपर बताए गए तीन आदर्श बिलकुल अलग-थलग न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। हमें उन सबको संरक्षित रखना चाहिए, जिसे जनजातीय लोग स्वयं अपनी संस्कृति में सबसे अच्छे तत्व मानते हैं और उन्हें अन्य वर्गों की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा और विरासत को ग्रहण करना और आत्मसात कर लेना चाहिए तथा इस तरह से उनके साथ न केवल सामाजिक स्तर पर बल्कि भावात्मक स्तर पर भी घुल-मिल जाना चाहिए। जब तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तब तक भारत में राष्ट्र निर्माण की बात कोरी बात ही रह जाएगी।

बोध प्रश्न 4

1 वि-जनजातीयकरण क्या है? लगभग दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

2 शहरी वातावरण में जनजातीय लोग अपनी समजातीय विशेषता बनाए रखते हैं।

☐ हाँ ☐ नहीं

3 जनजातियों के राष्ट्रीय जीवन में एकीकरण के लिए तीन प्रमुख दृष्टिकोण क्या हैं?

.....

.....

.....

4 अंग्रेज जनजातीय विकास के लिए एकीकरण दृष्टिकोण को मानते हैं।

☐ हाँ ☐ नहीं

5 जनजातीय पंचशील की पाँच विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

20.9 सारांश

एक व्यवस्था के रूप में जाति में असमानता प्रचलित है। इस असमानता का आरंभ न केवल प्रतिमानों से, बल्कि समाज के आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र से भी होता है। जाति और विभिन्न संस्थाओं में अवश्य ही घनिष्ठ संबंध था।

अंग्रेज़ों ने जाति व्यवस्था को राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध एक साधन के रूप में प्रयोग किया। उनके उपायों से एक ओर जहाँ निम्न वर्ग में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया चल पड़ी, वहीं दूसरी ओर इससे जातिगत चेतना और भी प्रबल हुई।

स्वतंत्रता के बाद के समय में, यद्यपि चुनाव की राजनीति का एक महत्वपूर्ण तत्व जाति रही है, परंतु राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ जाति प्रथा की कट्टरता कम हुई है। यह प्रक्रिया विभिन्न जातियों के नजदीक आने और उनके आधार क्षेत्र के व्यापक होने से संभव हुई है।

जनजातीय लोग भाषा और अर्थव्यवस्था की दृष्टि से भारत में नृजातीय बहुलता के विविध स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हाल के वर्षों में पारिस्थितिकीय असंतुलनों के कारण जनजातियों की संस्कृति और अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इसके अलावा, जनजातीय किसानों में भूमि हस्तांतरण, भूमिहीनता, ऋणग्रस्तता, आदि की भी समस्याएँ ही है। औद्योगीकरण, शिक्षा, मुद्रीकरण, शहरीकरण ने शहरी वातावरण में जनजातीय लोगों में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज़ कर दिया है।

ऐतिहासिक अनुभवों से यह दिखाई दिया है कि जनजातीय लोगों और गैर जनजातीय लोगों के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया में जनजातीय लोग पर्याप्त लाभ नहीं उठा सके हैं। जनजातीय लोगों की विविधता को देखते हुए भारत ने राष्ट्रीय जीवन में उनके एकीकरण के लिए एकीकरणवादी दृष्टिकोण स्वीकार किया है। इसमें उनकी विशिष्टता के अनुसार ही उनके विकास की बात कही गई है।

20.10 शब्दावली

जाति : वंश अधिक्रम की शुद्धता और अशुद्धता के सिद्धांत तथा वंश परंपरागत व्यवसाय पर आधारित अंतर्वैवाहिक सामाजिक संगठन।

जातिगत विखंडन : आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के आधार पर जाति-समूह के बंट जाने की स्थिति।

जजमानी : जाति-समूहों के बीच संरक्षक-आश्रित पर आधारित वस्तुओं और सेवाओं के आपस में लेन-देन की प्रणाली।

राष्ट्रीय एकता : विविध समूहों को एक ही राष्ट्रीय इकाई में मिलाने की प्रक्रिया।

संस्कृतिकरण : निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के दर्जे को प्राप्त करने के लिए अपने तौर-तरीकों को छोड़ने की प्रक्रिया और उच्च जाति के विश्वासों/मान्यताओं और जीवन-पद्धतियों को अपनाना।

झूम खेती : यह पहाड़ी क्षेत्रों के कुछ भागों में फ़सल उगाने का एक तरीका है. जिसमें सर्दी में जंगल के घास-फूस व झंकाड़ों को आग लगा दी जाती है। फलस्वरूप, मिट्टी राख से ढक जाती है और यह उर्वरक के रूप में काम करती है। एक खेत या दो मौसमों तक खेती करने के बाद खेतिहर समूह दूसरे क्षेत्रों में चला जाता है और वहाँ यही प्रक्रिया दोहराई जाती है। इस प्रक्रिया को "काटना और जलाना" या झूम खेती भी कहा जाता है।

नकदी फसलें : वे फसलें जो केवल नकदी या धन् प्राप्त करने के लिए, बाज़ार में बेचने के लिए ही पैदा की जाती हैं।

वि-जनजातीयकरण: जनजातीय लोगों द्वारा जनजातीय विश्वासों/मान्यताओं, मूल्यों, मानकों और जीवन पद्धति को छोड़ने की प्रक्रिया।

समतावादी समाज : स्तरों या भेदभाव का न होना -- जहाँ समाज का हरेक सदस्य समान सामाजिक दर्जा और स्तर पाता है।

संकीर्ण नेतृत्व : स्थानीय और क्षेत्रीय नेतृत्व।

20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते ए., *दि आइडिया ऑफ नेचुरल इनइक्वेलिटी एंड अदर ऐसेज*, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 1983

राव एम.एस.ए., *सोशल मूवमेंट एंड सोशल ट्रांसफोरमेशन : ए स्टडी ऑफ टू बैकवर्ड क्लास मूवमेंट्स इन इंडिया*, दिल्ली

सरकार, सुमीत, *मॉडर्न इंडिया : 1885-1945* दिल्ली : मेकमिलन, 1983

सिंह, योगेंद्र *सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया,* दिल्ली : मनोहर, 1977

श्रीनिवास एम.एन., *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज* 1962, एशियाई पब्लिशिंग हाउस।

20.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक मानकीय व्यवस्था है। व्यवस्था के रूप में जाति में असमानता प्रचलित है। वंश परंपरा या प्रदत्त सामाजिक दर्जे, छूआछूत के विचार तथा व्यावसायिक विशेषज्ञता के आधार पर इसे उचित ठहराया गया है।

2 हाँ

3 हाँ

4 इससे हमारे लोगों के इस वर्ग की जातिगत अयोग्यताओं को बनाए रखने और बढ़ाने के अलावा, भारतीय समाज छिन्न-भिन्न हो गया होता।

बोध प्रश्न 2

1 इसमें विधानसभाओं और संसद में आरक्षित स्थानों, सरकारी सेवाओं तथा शिक्षा संस्थाओं मे आरक्षण तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सरकार के सामाजिक और आर्थिक विकास से संबंधित सभी कार्यक्रमों में संरक्षणात्मक पक्षपात की व्यवस्था की गई थी।

2 ये वैध नागरिक उपायों के ज़रिए लोगों से राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक माँग करते हैं

3 हाँ

4 संविधान को अपनाने, चुनाव की राजनीति, सामाजिक और आर्थिक सुधार, शिक्षा, विज्ञान-प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण योजना तथा सुधारात्मक आंदोलन ने जाति व्यवस्था को प्रभावित किया है।

बोध प्रश्न 3

1 हाँ

2 हाँ

3 जनजाति का चेहरा मोहरा

4 नहीं

5 जनजातीय किसानों की प्रमुख समस्याएँ रही हैं : भूमि का हस्तांतरण, भूमिहीनता, ऋणग्रस्तता, बँधुआ मज़दूरी, पिछड़ी प्रौद्योगिकी के साथ मात्र निर्वाह योग्य खेती।

बोध प्रश्न 4

1 यह जनजातीय लोगों द्वारा अपने सांस्कृतिक स्वरूप को खोने की प्रक्रिया है।

2 नहीं

3 संरक्षणवादी, आत्मसात्करणवादी और एकीकरणवादी दृष्टिकोण।

4 नहीं

5 i) उनकी अपनी विशिष्टता के अनुसार विकास करना
ii) प्रभावी जनसंख्या की नीति को नहीं थोपना
iii) उनके अपने ही नेतृत्व का विकास करना
iv) अति मात्रा में प्रशासन नहीं
v) मानवीय चरित्र की गुणवत्ता और स्तर से परिणामों का मूल्यांकन।

इकाई 21 क्षेत्रीय असंतुलन

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 क्षेत्र और क्षेत्रीयकरण
21.3 औपनिवेशिक विकृतियाँ और क्षेत्रीय संरचना
  21.3.1 औपनिवेशिक काल में कृषि की स्थिति
  21.3.2 औपनिवेशिक काल के दौरान औद्योगिक विकास
21.4 आज़ादी के बाद कृषि-विकास के बदलते हुए क्षेत्रीय स्वरूप
21.5 स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद औद्योगिक विकास और क्षेत्र
21.6 विकास दर और क्षेत्रीय विकास
21.7 संतुलित क्षेत्रीय विकास के साधन
21.8 निगोजित विकास, क्षेत्रीय विशेषज्ञता और एक क्षेत्र का दूसरे पर निर्भर रहना
21.9 सारांश
21.10 शब्दावली
21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में विशाल भारतीय उपमहाद्वीप में क्षेत्रीयकरण की प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है। राष्ट्रीय एकता की कुछ समस्याएँ इन्हीं प्रक्रियाओं के कारण उत्पन्न होती हैं, जिनसे क्षेत्रीय असंतुलन पैदा होता है। जैसे देश के कुछ क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक प्रगति कर रहे हैं, दूसरे पिछड़े हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप भारत में क्षेत्रीय विकास की समस्याओं के निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे और उनको स्पष्ट कर सकेंगे:

- क्षेत्र की संकल्पना;
- औपनिवेशिक विरासत और क्षेत्रीय संरचना;
- कृषि और उद्योग में क्षेत्रीयकरण की बदलती हुई स्थिति; और
- संतुलित क्षेत्रीय विकास के लिए नियोजन।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में भारत के क्षेत्रीय विकास की समस्याओं और उनके स्तरों से आपको परिचित कराया गया है। क्षेत्रीय असमानताएँ राष्ट्र निर्माण के हमारे अधूरे कार्यों का परिणाम हैं। इससे मुख्य रूप से हमारी उन विकास नीतियों की अपर्याप्तता ज़ाहिर होती है जिन्हें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपनाया गया और जो औपनिवेशिक शासन से मिली विकृतियों को दूर करने में विफल रहीं। हाल में इन तनावों ने खतरनाक रूप धारण कर लिया और राष्ट्र की जड़ों पर ही आघात होने का खतरा उत्पन्न हो गया है। इसीलिए क्षेत्रीयता की पद्धति, क्षेत्रीय असंतुलन की प्रकृति और उनके बदलते हुए ढांचे को बेहतर ढंग से समझने की आवश्यकता आ पड़ी है।

21.2 क्षेत्र और क्षेत्रीयकरण

डडले स्टाम्प, पिट्ठावाला और कुरियन को छोड़कर सन् 40 के दशक के अंत तक भारत में क्षेत्रीयवाद का अध्ययन करने के लिए कोई अधिक प्रयास नहीं किया गया था। हाँ, आर्थिक इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान आर.सी.दत्त ने ब्रिटिश भारत में पट्टे पर भूमि देने की प्रणाली में क्षेत्र के अनुसार भिन्नताओं के परिणामों की ओर ध्यान ज़रूर आकर्षित किया—जैसे पूर्व में स्थायी बंदोबस्त, दक्षिण में अस्थायी बंदोबस्त आदि। अंग्रेज़ों ने "फूट डालो और राज करो" की अपनी

नीति का पालन करते हुए राजनीतिक कारणों से बंगाल का विभाजन किया था। राष्ट्रीय आंदोलन की प्रकृति जो आंशिक रूप से बंगाल विभाजन के विरुद्ध सफल संघर्ष के रूप में उभर कर सामने आई थी वह वास्तव में आज़ादी के लिए संयुक्त भारत के संघर्ष की विचारधारा से अभिप्रेरित थी। परिणामस्वरूप, क्षेत्रीयकरण और क्षेत्रीय असंतुलन से संबंधित मसले गौण हो गए, हालाँकि स्वतंत्र भारत का वह संविधान जिसके अनुसार प्रांतीय सरकारों का स्वरूप निश्चित किया गया गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट 1936 के आधार पर ही बनाया गया था।

लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के तुरंत बाद ही देश में सामाजिक-आर्थिक भेद पैदा होने लगे और राज्य पुनर्गठन आयोग को इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना पड़ा। केंद्र सरकार का प्रारंभिक प्रयास तो अपेक्षाकृत विकसित और कुछ चुने हुए क्षेत्रों में निवेश के जरिए अर्थव्यवस्था के विकास की उच्च दर प्राप्त करना था। इसका उद्देश्य औपनिवेशिक शासन से प्राप्त शहरी उद्योग के बुनियादी ढाँचे का उपयोग करना था।

पचास के दशक के दौरान कुछ नीति-परक मामलों के कारण क्षेत्रीय योजनाएँ तैयार की गईं जो मुख्यतः प्राकृतिक कारकों पर आधारित थीं। भारत की जनगणना (1951) ने प्राकृतिक क्षेत्रों की अवधारणा को पुनर्जीवित किया और संसाधनों के पाँच क्षेत्रों का पता लगाया। भारतीय रिजर्व बैंक ने भौतिक और जनसंख्या संबंधी कारकों के आधार पर एक क्षेत्रीय योजना तैयार की। निजी तौर पर अनुसंधान करने वालों ने भी इसी तरह क्षेत्रीयकरण के प्रयास किए थे। सन् पचास के दशक के मध्य से कृषि-क्षेत्रों के सीमांकन के प्रति रुचि दिखाई गई।

यह उल्लेखनीय है कि पचास के दशक के दौरान कुल मिलाकर भारत में क्षेत्रीयकरण के लिए भूवैज्ञानिक, भूगोलवेत्ता और कृषि विशेषज्ञ उत्तरदायी रहे हैं, जिनका कार्य संसाधन-क्षेत्रों की रूपरेखा तैयार करना था। लेकिन, नीति निर्धारण प्रक्रिया में या तो क्षेत्रीय आयाम की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई, थी, जैसा कि 1956 के औद्योगिक नीति के संकल्प के मामले में हुआ था (जिसमें क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य का बिलकुल अभाव था) या भाषाई और जातीय कारणों पर ध्यान केंद्रित कर दिया गया था, जैसा कि 1955 में राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट से लक्षित होता है। भारत में क्षेत्रीयकरण की प्रक्रिया के शुरू के दौर में क्षेत्रीयकरण के सामाजिक-आर्थिक विकास के पहलुओं पर उचित ज़ोर नहीं दिया गया।

सन् साठ के दशक के आरंभ से ही क्षेत्रीयकरण और क्षेत्रीय असंतुलन से संबंधित अध्ययनों में सामाजिक-आर्थिक आयामों को सार्थक रूप से शामिल कर लिया गया था। भारतीय जनगणना 1961 द्वारा प्रकाशित सेनगुप्त और सदासुख की पुस्तक भारत का आर्थिक क्षेत्रीयकरण (1961) इस दिशा में एक प्रमुख प्रयास था। 1962 में योजना आयोग ने सामाजिक-आर्थिक निदेशकों के आधार पर क्षेत्रीय पिछड़ेपन का पता लगाने के लिए अध्ययन आरंभ किया था। योजना आयोग ने राज्यों में केंद्रीय योजना सहायता का वितरण करने के लिए जो मानदंड अपनाए उनमें जनसंख्या, आमदनी, कर-उगाही और विकास-कार्यों पर किए गए व्यय को महत्व दिया गया। इसे गाडगिल फार्मूले के रूप में जाना जाता है। यह क्षेत्रीयकरण की एक अन्तर्निहित योजना पर भी आधारित था। 1961 में जिलों के सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तरों का निर्धारण करने के लिए "मित्रा" द्वारा व्यापक अध्ययन किया गया जिसे भारतीय जनगणना ने 1961 में एक विशेष खंड के रूप में प्रकाशित किया। तीसरी और बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में और सन् साठ तथा सत्तर के दशकों में विभिन्न मंत्रालयों और सरकारी विभागों द्वारा अपनाए गए अनेक कार्यक्रमों में देश तथा राज्यों के भीतर क्षेत्रीय असमानताओं को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया। इसकी वजह से विकास-नीति के प्रारूप में क्षेत्रीय आयाम को शामिल करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, भारतीय योजना में क्षेत्रीय आयाम के बढ़ते हुए महत्व के साथ ही सामाजिक और आर्थिक कारणों से युक्त क्षेत्रीय अध्ययन ने एक नया अर्थ और महत्व पा लिया है। राष्ट्रीय कृषि आयोग (1976) ने कृषि संबंधी जलवायु पर आधारित क्षेत्रों का विस्तृत सीमांकन किया।

बोध प्रश्न 1

भारत में "क्षेत्रों" की परिभाषा निम्नलिखित आधार पर की जा सकती है:

i) केवल वर्षा के आधार पर
ii) केवल समुद्र की सतह से ऊंचाई के आधार पर
iii) केवल भाषा के आधार पर
iv) केवल फसल उगाने की पद्धति के आधार पर
v) केवल शहरी आबादी के घनत्व के आधार पर

vi) उपर्युक्त सभी कारणों से और कुछ अन्य सामाजिक-आर्थिक लक्षणों के कारण जैसे-जोत के योग्य भूमि का वितरण, बैंक ऋण की उपलब्धि, भूमिहीनता, आदिवासी क्षेत्रों का विस्तार आदि।

उपर्युक्त छह विकल्पों में से आप जिसे ठीक समझें उस पर (√) का निशान लगाएँ। चार वाक्यों में स्पष्ट करें कि आपका उत्तर क्यों सही है। यदि उपर्युक्त छह के अतिरिक्त आपका कोई अन्य जवाब हो तो कारणों का उल्लेख करते हुए अपना उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.3 औपनिवेशिक विकृतियाँ और क्षेत्रीय संरचना

21.3.1 औपनिवेशिक काल में कृषि की स्थिति

भारत अपनी विस्तृत कछार भूमि और सामान्यत: गरम एवं आर्द्र जलवायु के कारण सभ्यता के उदयकाल से ही विश्व का एक प्रमुख कृषि प्रधान क्षेत्र रहा है। वर्षा ऋतु के दौरान अधिक बारिश होने और अनियमित मानसून के कारण उत्पन्न समस्याओं से पार पाने के लिए इतिहास में बहुत पहले से ही बाँधों, कुँओं और तालाबों के रूप में सिंचाई के साधन उपलब्ध थे। मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र में भरपूर उत्पादन के कारण ही प्राचीन और मध्य युग में सभ्यताओं को फलने-फूलने का आधार प्राप्त हुआ। इसलिए यह स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सभी समकालीन मानकों की दृष्टि से एक सुविकसित कृषि क्षेत्र मिला था।

भारतीय कृषि पर औपनिवेशिक शासन का क्या प्रभाव पड़ा? पहला, इस क्षेत्र पर निर्भर कामगारों के अनुपात में वृद्धि हुई; दूसरा कृषि-क्षेत्र का विस्तार रुक गया; तीसरा, भूमि और सिंचाई प्रणाली में पूँजी निवेश बहुत ही कम था। और अंतत: कृषि उत्पादन की ज़िम्मेदारी अधिक से अधिक उन लोगों पर आ गई जिनका भूमि पर स्वामित्व नहीं था। इन सब कारणों से भूमि और श्रम की उत्पादकता में काफ़ी गिरावट आई मगर कृषि पर विपरीत असर डालने वाले इन कारणों का प्रभाव देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समान नहीं था। औपनिवेशिक काल के दौरान, सिंधु-गंगा के मैदान के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों के बीच कृषि-उत्पादकता में बहुत बड़ा अंतर आ गया था। उत्तर-पश्चिम की प्रवृत्ति कुल मिलाकर सकारात्मक थी, जबकि पूर्वी क्षेत्र को बहुत अधिक हानि हुई।

कलकत्ता को केंद्र मानकर पूर्वी भारत में रेलों का जाल बिछाने में बहुत बड़े पैमाने पर पूंजी-निवेश के फैसले के कारण सिंचाई में पूँजी-निवेश कम हो गया। इसके अलावा सिंचाई के लिए उपलब्ध कराई गई स्वल्प राशि में से अनुपात से अधिक हिस्सा उत्तर-पश्चिम भारत को दे दिया गया। बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों के दौरान सिंचाई के कुल पूँजी परिव्यय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा का संयुक्त भाग लगभग पाँच प्रतिशत था, जबकि तत्कालीन पंजाब का भाग सामान्यत: लगभग चालीस प्रतिशत था। इस प्रकार, स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारत को एक ऐसा निष्क्रिय कृषि-क्षेत्र विरासत में मिला, जिसमें गंभीर क्षेत्रीय असंतुलन था।

21.3.2 औपनिवेशिक काल के दौरान औद्योगिक विकास

भारत में आधुनिक औद्योगिकीकरण की नींव औपनिवेशिक राज के दौरान डाली गई थी। इस प्रारंभिक चरण में देश के औद्योगिक ढांचे में जो कमज़ोरियाँ और कमियाँ आ गई थीं, उनका प्रभाव, तत्कालीन भारत में भी औद्योगिक पद्धति पर, विशेष रूप से उसके क्षेत्रीय आयाम पर निरंतर पड़ता रहा है।

अंग्रेज़ों ने जब भारत विजय करके उसे अपने साम्राज्य में शामिल किया, तो उस समय उन्हें अपेक्षाकृत विश्व की एक विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्था मिली थी। भारतीय औद्योगिक आयोग (1916-18) का यह मत था कि "पश्चिम का व्यापारिक बेड़ा जब पहली बार भारत पहुँचा था, उस समय यूरोप के अधिक विकसित राष्ट्रों की तुलना में देश का औद्योगिक विकास किसी भी प्रकार से घटिया किस्म का नहीं था।"

ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय भाग, विशेष रूप से न केवल दस्तकारी और तकनीकी विशेषज्ञता की ऐतिहासिक परंपराओं से समृद्ध था, बल्कि वह असाधारण रूप से समृद्ध औद्योगिक संसाधनों से भी संपन्न था। भारतीय औद्योगिक आयोग का यह मत था कि "अधिकांश तथाकथित बुनियादी उद्योगो के रख-रखाव के लिए देश का खनिज भंडार पर्याप्त है।" उस समय के बहुत से विकसित देशों में इतना समृद्ध खनिज भंडार उपलब्ध नहीं था।

अंग्रेजों ने औद्योगिक परंपरा से प्राप्त इस समृद्ध विरासत और सुदृढ़ प्रकृतिक संसाधनों का किस प्रकार अपने उपनिवेश के लिए उपयोग किया? उन्होंने प्राचीन और मध्य युग के कृषि पर आधारित औद्योगिक भार को "इंग्लैंड के एक कृषि फार्म" में बदल दिया। विशेष रूप से प्रथम विश्व युद्ध से पहले सरकार की औद्योगिक नीति, ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग के आदेशों का पालन करके, भारत से कच्चा माल प्राप्त करने और उसे अपने निर्मित माल के लिए बाज़ार के रूप में बदलने की थी। इसके परिणामस्वरूप नियंत्रित ढंग से देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया समाप्त हो गई।

औपनिवेशिक काल के दौरान शुरू की गई औद्योगिक विकास की प्रक्रिया कमज़ोर और विपरीत लक्षणों वाली थी, जिसमें मुख्य रूप से उपभोग्य वस्तुओं पर ज़ोर दिया जाता था। मशीन निर्माण के क्षेत्र ने यूरोपीय राष्ट्रों में आत्म-निर्भर औद्योगीकरण की नींव रखी गई थी, उनका अभाव होने के कारण इस देश के औद्योगिक ढाँचे की नींव कमज़ोर पड़ गई थी। अंग्रेज़ों ने जिनेवा सम्मेलन (1922) में भारत का उल्लेख "विश्व के एक प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र" के रूप में किया था किंतु वास्तव में यह कथन बालू के विशाल ढेर की भाँति था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रारंभ की गई औद्योगिक विकास की प्रक्रिया न केवल संरचनात्मक रूप से कमज़ोर थी, बल्कि क्षेत्रीय रूप से भी विकृत थी। सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद जैसे प्राचीन और विशाल शहरी केंद्रों और अनेक छोटे एवं मध्यम दर्जे के शहरों का जो आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए उत्पादन-केंद्रों के रूप में कार्य कर सकते थे, तेज़ी से पतन हो गया। शीर्ष स्तर पर कलकत्ता, बंबई और मद्रास के बंदरगाह नगरों के उदय के साथ एक सर्वोच्च वर्गीय समूह उभर कर सामने आया। इस सर्वोच्च वर्गीय समूह के उपनगरों के रूप में काम कर रहे बंदरगाह बस्तियों और कुछ छोटे शहरों में निर्यात के लिए स्थापित संसाधित एवं उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग भी कामगारों की उद्योगों में साझेदारी पर कोई असर नहीं डाल सके। इस सीमित औद्योगीकरण की प्रक्रिया से भूतपूर्व रजवाड़े तो बिल्कुल ही अछूते रहे।

काफ़ी लागत से रेलवे पर आधारित एक ऐसी केंद्रीयकृत परिवहन व्यवस्था स्थापित की गई जिसका झुकाव बंदरगाहों की ओर था। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ बंदरगाह-नगरों के चारों ओर औद्योगिक विकास की बस्तियाँ स्थापित हुईं। फलस्वरूप कुछ अपवादों को छोड़कर संसाधनों से समृद्ध क्षेत्र औपनिवेशिक भारत की विशेषता बन गए, मगर वे औद्योगिक रूप से अविकसित ही रहे। उद्योग और परिवहन के क्षेत्र में जो नए विकास हुए वे स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमित रहे और संपूर्ण अर्थव्यवस्था पर उनका असर मामूली ही रहा। इसे विदेशी अंतःक्षेत्रीय प्रकार का विकास यानी 'इनक्लेव टाइप डेवलपमेंट' कहते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय बड़े-बड़े प्रांतों में, जहाँ बंदरगाह नगर स्थित थे, यह दावा किया जाता था कि उनके यहाँ देश के 70 प्रतिशत कामगार काम करते हैं और देश के कुल उत्पादन का 70 प्रतिशत उन्हीं के कारखानों में उत्पादित होता है। इंजीनियरिंग और बिजली के सामान के कुल उत्पादन का 83 प्रतिशत और रसायन उद्योग में 87 प्रतिशत से अधिक का उत्पादन वहीं होता था। दूसरी ओर, खनिज पदार्थों में समृद्ध राज्यों बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के कामगारों का संयुक्त हिस्सा कुल औद्योगिक मज़दूरों में बीस प्रतिशत से भी कम था।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में और बीसवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेज़ों की नीतियों ने औद्योगिकीकरण की ऐसी प्रक्रिया को अनुमति दी जो परिणाम की दृष्टि से कमज़ोर और संरचना की दृष्टि से प्रतिगामी थी, क्योंकि वह अपर्याप्त रूप से विकसित मशीन-निर्माण क्षेत्र पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त इसने संसाधनों से समृद्ध राज्यों मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, कर्नाटक आदि को वस्तुतः स्पर्श तक नहीं किया जबकि दूसरी ओर

संसाधन और उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में कुछ विशेषज्ञता प्राप्त मुख्य उद्योग बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर औद्योगिक विकास के केंद्र के रूप में उभर आए थे।

बोध प्रश्न 2

निम्नलिखित लक्षण क्षेत्रीय ढाँचे की विशेषता दर्शाते हैं, जिनका विकास औपनिवेशिक काल के दौरान हुआ था :

i) सिंधु-गंगा के मैदान में उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों के बीच कृषि उत्पादकता का अंतर बढ़ता गया।

ii) कलकत्ता, बंबई और मद्रास जैसे प्रमुख बंदरगाह नगरों को उनके भीतरी प्रदेश से जोड़ने के लिए रेलवे का विकास किया गया था।

iii) सिंचाई की उपेक्षा करके रेलवे के विकास के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश किया गया था।

क्या आप सोचते हैं कि ये उपर्युक्त विशेषताएँ हमारे देश के सार्थक विकास में सहायक हैं? यदि नहीं, तो क्यों? ऊपर बताई गई तीन विशेषताओं में से प्रत्येक के लिए दो-दो वाक्यों में अपना उत्तर प्रस्तुत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

21.4 आज़ादी के बाद कृषि-विकास के बदलते हुए क्षेत्रीय स्वरूप

स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्र में जो परिवर्तन किए गए उसका दूरगामी परिणाम हुआ है। पचास के दशक में लागू किए गए कृषि सुधारों से सामंती जकड़ ढीली पड़ गई और प्रौद्योगिक वस्तुओं का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल आरंभ हुआ। इसका फल यह हुआ कि पर्यावरण में जो बाधाएँ थीं, वे कम हो गईं। पचास के दशक के दौरान कृषि उत्पादन की वार्षिक मिश्रित विकास दर तीन प्रतिशत से अधिक थी, जोकि साठ के दशक में घटकर ढाई प्रतिशत हो गई। सत्तर के दशक में यह औसत विकास दर घटकर दो प्रतिशत से भी कम हो गई। अस्सी के दशक में इसमें सुधार होना शुरू हुआ, लेकिन यह पूरी तरह अस्थिर है, क्योंकि एक वर्ष से दूसरे वर्ष फसल के उत्पादन में उतार-चढ़ाव की घटनाओं में वृद्धि हो रही है। अस्थिरता ऐसे क्षेत्रों में अधिक है, जहाँ मुख्य रूप से कुओं और तालाबों जैसे मामूली माध्यमों से सिंचाई की जाती है।

उत्पादन बढ़ाने वाले प्रौद्योगिक वस्तुओं के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई है। बुआई के क्षेत्रों में वृद्धि होने के साथ-साथ हेक्टर ट्रैक्टरों, ट्यूबवैलों की संख्या, उर्वरकों की मात्रा आदि में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि बुनियादी क्षेत्र के अन्य संघटकों के साथ राष्ट्रीय आय में कृषि का जो हिस्सा पचास के दशक के आरंभ में साठ प्रतिशत था, वह अस्सी के दशक में स्थिर मूल्यों पर घट कर पैंतीस प्रतिशत से कम हो गया मगर कार्यशक्ति के ढांचे में कोई तदनुरूपी अंतर नहीं आया। इससे यह संकेत मिलता है कि समय के साथ राष्ट्रीय आय में कृषि के दावों में कमी हुई है, जबकि उसमें हिस्सा बँटाने वाली आबादी लगभग वहीं रही है। 1981 की जनगणना और राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (27वें, 32वें और 38वें दौर) के हाल के अनुमानों में यह बताया गया है कि सत्तर के दशक के अंत में और अस्सी के दशक के आरंभ में कृषि पर निर्भर मज़दूरों की संख्या के अनुपात में कुछ कमी आई है। लेकिन राष्ट्रीय आय में उसकी साझेदारी में पर्याप्त कमी हुई है, जिसके परिणामस्वरूप कृषि और गैर-कृषि क्षेत्रों के बीच श्रम की उत्पादकता में भारी विषमता पैदा हुई है। इससे स्पष्ट रूप से गाँव और शहर की असमानता और बढ़ गई है।

विशेष रूप से साठ के दशक के आरंभ से कृषि उत्पादन में हुई कुल वृद्धि में अधिकांश उत्पादन बढ़ाने वाली प्रौद्योगिकी अर्थात् बीज, उर्वरक, यांत्रिकी आदि के ज़रिए भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करने के कारण हुई है। यह उस क्षेत्र-विस्तार के प्रतिकूल है, जिसे पचास के दशक के दौरान हुए विकास का कारण बताया गया था। विकास की संभावनाओं से युक्त कुछ चुने हुए ज़िलों में आधुनिक प्रौद्योगिकी का सीमित प्रयोग करके सरकार ने खाद्य समस्या हल करने का प्रयास

किया। इससे स्वाभाविक रूप से इन जिलों में भूमि और श्रम उत्पादकता में वृद्धि हुई है, परिणामस्वरूप पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अधिकांश ज़िलों, तमिलनाडु के कुछ हिस्सों, आंध्र प्रदेश के तटवर्तीय भाग और देश के बाकी ज़िलों के बीच असमानता की खाई और अधिक गहरी हो गई।

अनेक विद्वानों ने श्रम उत्पादकता में अंतर-राज्यीय वृद्धि और अंतर-राज्यीय असमानता का अध्ययन किया है। योजना आयोग द्वारा स्थापित कार्यकारी दल द्वारा किए गए अध्ययन में यह कहा गया है कि 1961 और 1981 के बीच विभिन्न राज्यों के बीच असमानता (परिवर्तन के गुणांक द्वारा मापी गई) दुगने से भी अधिक बढ़ गई है।

सन् साठ के दशक के आरंभ से सत्तर के मध्य तक, "हरितक्रांति" शब्द का प्रयोग कृषि उत्पादन में उस वृद्धि के संदर्भ में किया गया था, जो कि बीज-उर्वरक-सिंचाई-ट्रैक्टर प्रौद्योगिकी के माध्यम से की गई थी। इस प्रकार यह एक स्थानीय घटना बनकर रह गई। जिन 49 राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण क्षेत्रों के कृषि उत्पादन संबंधी आँकड़े उपलब्ध हैं, उनमें 17 ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें देश के कुल बुआई क्षेत्र का 45 प्रतिशत भाग होने का दावा किया गया था। इन क्षेत्रों में 1962 से 1975 के दौरान भूमि की उत्पादकता में परिवर्तन या तो नकारात्मक रहा या रचनात्मक लेकिन बहुत ही मामूली। उदाहरण के लिए प्रतिवर्ष प्रति हेक्टेयर दस रुपए से भी कम। कई अन्य क्षेत्रों में भूमि की उत्पादकता से प्राप्त हुए लाभ जनसंख्या के दबाव के कारण निष्फल हो गए और जिन सत्ताईस क्षेत्रों में पचास प्रतिशत से अधिक भूमि पर बुआई की गई थी, उनमें श्रम उत्पादकता घट गई। इन सभी क्षेत्रों को मिलाकर देश का "भुखमरी का क्षेत्र" कहा जा सकता है। इसकी सीमाएँ उत्तर में उत्तर प्रदेश के हिमालयी क्षेत्र से लेकर दक्षिण में नीलगिरि तक और पश्चिम में थार रेगिस्तान से लेकर पूर्व में तटवर्ती उड़ीसा तक फैली हुई है। सत्तर के दशक के आरंभ में उच्च भूमि-उत्पादकता की श्रेणी में आने वाले चौदह क्षेत्र, 20 प्रतिशत भूमि पर उर्वरकों, नलकूपों और ट्रैक्टरों का क्रमशः 44, 50 और 60 प्रतिशत उपयोग करके 36 प्रतिशत उत्पादन कर रहे थे। उर्वरकों, नलकूपों और ट्रैक्टरों का प्रति हेक्टेयर उपयोग और भी अधिक है। विकास की नीति यह थी कि विकास की संभावनाओं से युक्त कुछ अपेक्षाकृत उन्नत क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने वाली वस्तुओं और प्रौद्योगिकी का उपयोग करके, विकास दर में अधिक से अधिक वृद्धि लाई जाए, किंतु, परिवर्तन की गति ने समृद्ध और गरीब क्षेत्रों के बीच की असमानता को और अधिक बढ़ा दिया।

21.5 स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद औद्योगिक विकास और क्षेत्र

सार्वजनिक क्षेत्र में भारी पूँजी निवेश करके देश में नियोजित आर्थिक विकास का कार्यक्रम लागू किया गया और निजी क्षेत्र में नियंत्रण की प्रणाली लागू की गई। पचास के दशक में विनिर्माण के क्षेत्र में प्रति वर्ष जोड़े जाने वाले सकल मूल्य की औसत विकास दर लगभग छह प्रतिशत थी। उपादान लागत और स्थिर मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के विकास दर की अपेक्षा यह उल्लेखनीय रूप से अधिक थी। यह लगभग 3.5 प्रतिशत थी। साठ के दशक के आरंभ में विनिर्माण क्षेत्र के विकास दर में वृद्धि हुई थी, जो प्रति वर्ष आठ प्रतिशत से अधिक थी। लेकिन 1965-66 में विकास दर में लगभग एक प्रतिशत की कमी आ गई और अगले वर्ष विनिर्माण क्षेत्र में मिलाए मूल्य में काफ़ी गिरावट आ गई। साठ के दशक के आरंभ तक या पचास के दशक के स्तर तक पहुँचने के लिए भी बाद के वर्षों में विकास दर में वृद्धि नहीं हुई। फिर भी, अस्सी के दशक में औद्योगिक क्षेत्र और संपूर्ण अर्थव्यवस्था की विकास दर में धीरे-धीरे सुधार होने के लक्षण दिखाई देने लगे।

साठ के दशक में औद्योगिक क्षेत्र को जो झटका लगा था, और जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में मंदी का दौर आरंभ हुआ, उसी के परिणामस्वरूप उद्योगों के क्षेत्रीय विस्तार से संबद्ध प्रश्न उभर कर सामने आए।

भारत में विकासात्मक नियोजन के पहले दशक में औद्योगिक विकास के स्तर में अंतर-राज्यीय असमानता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। पचास का दशक सहायक अर्थात् औद्योगिक क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय में क्षेत्रीय असंतुलन में वृद्धि का दौर रहा। नेशनल काउन्सिल ऑफ़ अप्लायड इकोनॉमिक रिसर्च द्वारा संकलित 1960-61 के मूल्यों पर आधारित आंकड़ों से पता चलता है कि राज्यों में सहायक क्षेत्र से हुई प्रति व्यक्ति आय में गुणांक का 1950-51 के पचास प्रतिशत से बढ़कर 1960-61 में 58 प्रतिशत तक पहुँच गया था। फिर भी, इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस प्रारंभिक चरण के बाद, राज्यों की औद्योगिक असमानता में निरंतर ह्रास होता रहा है।

विभिन्न राज्यों के सांख्यिकीय ब्यूरो द्वारा प्रकाशित शृंखलाएँ नेशनल काउंसिल ऑफ़ अप्लायड इकोनॉमिक रिसर्च के अनुमानों के समतुल्य समायोजन करके दर्शाया गया है कि असमानता का सूचकांक 1960-61 में 58 प्रतिशत से घटकर 1975-76 में 47 प्रतिशत हो गया था।

आवास और शहरी विकास के बारे में योजना आयोग द्वारा गठित कार्यदल (1983) ने यह दिखाया है कि 1961-81 के दौरान स्थिर कीमतों पर कारखाना क्षेत्र द्वारा अनुपूरित प्रति व्यक्ति मूल्य के मामले में अंतर-राज्य असमानता में ह्रास हुआ है। 1960-61 का परिवर्तनशील गुणांक 92 प्रतिशत था, जो 1970-71 में घटकर 67 प्रतिशत हो गया था। केवल, 1980-81 में यह 62 प्रतिशत रह गया था। प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन, राज्य के घरेलू उत्पाद में विनिर्माण क्षेत्र का हिस्सा, गैर-घरेलू औद्योगिक कार्यों में लगे कामगारों का अनुपात, विनिर्माण इकाइयां या उनमें प्रति हजार रोज़गार आदि जैसे संकेतकों पर आधारित विश्लेषण से पता चलता है कि अंतर-राज्यीय असमानता, जो 1951-61 के दौरान बढ़ गई थी, स्थिर हो गई या बाद के दशकों में उनमें मामूली गिरावट आई।

फिर भी, उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण में उनकी स्थानीय और क्षेत्रीय संरचना के बारे में बताया गया है। एक अध्ययन के अनुसार हाल के वर्षों के दौरान अंतर-राज्यीय असमानता में हुए ह्रास को स्पष्ट रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अनेक उद्योगों में इकाइयों की संख्या, उत्पादन और नियतकालीन जमा राशि के मामले में चोटी के तीन राज्यों का संयुक्त भाग घट गया है, जबकि चोटी के नौ राज्यों के भाग में मामूली रूप से वृद्धि हुई है। अभी हाल में उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के आँकड़ों के विश्लेषण से भी उद्योगों के क्षेत्रीय बिखराव की धारणा पुष्ट नहीं होती। एक मात्र उल्लेखनीय परिवर्तन, महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल की सापेक्षिक स्थिति में गिरावट है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि एकत्रीकरण की विकृत अर्थव्यवस्था कही जाने वाली भीड़-भाड़ की गंभीर मानवीय समस्या और अनेक त्रुटियों के कारण, बंबई और कलकत्ता में औद्योगिक केंद्रीकरण की प्रक्रिया धीमी पड़ गई। यह भी कहा जा सकता है कि साठ के दशक और सत्तर के दशक के आरंभ में पश्चिम बंगाल में उल्लेखनीय रूप से उद्योगों का विकेंद्रीकरण हुआ. ऐसा अंशत: श्रम और तत्संबंधी कारणों, जैसे बिजली की कमी से हुआ है। यह सरकार की उद्योग वितरण की नीति के कारण हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त अंतर-राज्यीय असमानता में कमी का श्रेय उस शहरी-औद्योगिक-विकास नीति को दिया जा सकता है जिसका अनुसरण स्वतंत्रता के बाद प्रत्येक राज्य ने किया था। राज्य सरकारों में अधिकांश ने अपने राज्यों की राजधानियों और कुछ अन्य केंद्रों में उच्च-स्तर की आर्थिक बुनियादी और शहरी सुविधाएँ प्रदान की थीं। उच्च कोटि की इन सस्ती सुविधाओं ने अपेक्षाकृत संपन्न वर्ग को इन केंद्रों की ओर आकर्षित किया, जिनमें वरिष्ठ प्रशासक, व्यवसायी, उद्यमी और उच्च कोटि के कुशल कारीगर शामिल थे। सरकार ने या तो सीधे अपने विभागों के माध्यम से या निगम, बोर्ड आदि की स्थापना करके ये सुविधाएं प्रदान करके का दायित्व निभाया था। दोनों ही मामलों में सरकारी खजाने से अपेक्षित धन खर्च किया गया था। सामान्यत: इन केंद्रों में नगरपालिका के पास कर एवं गैर-कर राजस्व की अच्छी सुविधाएँ होती हैं और वे अन्य छोटे कस्बों की तुलना में बुनियादी नागरिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए अधिक धन खर्च कर सकती हैं। इस प्रकार, ये केंद्र सहायता प्राप्त बुनियादी ढाँचे और जन-उपयोगी सेवाओं का लाभ उठाते हैं, जो पिछड़े इलाकों में प्रदान की गई पूँजी में सहायता और अन्य प्रोत्साहनों की तुलना में कहीं अधिक होते हैं। इसलिए उद्योगपति अपनी इकाइयाँ या तो नगरों में स्थापित करना अच्छा समझते हैं या उनकी परिधि में। इससे उन्हें इन केंद्रों में स्थापित अनेक सरकारी निकायों, वित्तीय संस्थानों आदि के साथ संपर्क स्थापित करने में सहायता मिलती है। अंत में, वे अपने प्रतिष्ठानों के लिए कुशल कारीगर, प्रशासक आदि प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, जो स्वयं भी इन नगरों के कुछ हिस्सों में इन सुविधाओं के जरिए मुहैया कराए गए उच्च कोटि के आवासीय पर्यावरण की ओर आकर्षित होते हैं।

बोध प्रश्न 3

क्या आप सोचते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से नियोजित विकास के दौरान अंतर-राज्यीय असमानता में वृद्धि हुई है? यदि हाँ, तो पाँच वाक्यों में इसका वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

21.6 विकास दर और क्षेत्रीय विकास

ऊपर वर्णित क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य के अतिरिक्त, क्षेत्रीय असंतुलन के बदलते हुए ढाचे का विश्लेषण, प्रत्येक राज्य के घरेलू उत्पाद या अन्य समग्र उपायों के माध्यम के विकास के समग्र स्तरों के संदर्भ में किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय प्रयोग के एक भाग के रूप में पचास के दशक के दौरान भारत में अंतर-राज्यीय असमानता की पद्धति का अध्ययन किया गया और निष्कर्ष निकाला गया कि विकास की प्रक्रिया के पहले चरण में स्थानीय असंतुलन के लक्षण विद्यमान थे। उसमें यह धारणा बन गई थी कि राष्ट्रीय विकास और क्षेत्रीय असमानता विपरीत दिशा से एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। इसका अर्थ यह होगा कि इस प्रारंभिक चरण के बाद भारत में विकास के साथ साथ क्षेत्रीय असंतुलन में कमी आएगी।

इन निष्कर्षों को उन कुछ विद्वानों ने चुनौती दी जिन्होंने प्रमाणित किया था कि पचास के दशक के दौरान अंतर-राज्यीय असमानता में कमी आई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी विद्वान अपने इस निष्कर्ष में प्राय: एक मत थे कि असमानता में ह्रास की प्रवृत्ति दिखाई देने के बजाय बाद के दशकों में यह असमानता और अधिक बढ़ गई थी। विशेषकर सत्तर के दशक के दौरान असमानता में असाधारण वृद्धि हुई थी। योजना आयोग द्वारा गठित कार्यदल ने आवास और शहरी विकास से संबंधित अपनी रिपोर्ट में यह दर्शाया था कि राज्य में प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद में अंतर का गुणांक 1961 में 23 प्रतिशत से बढ़कर 1971 में 26 प्रतिशत हो गया था, जो 1981 में आगे और बढ़कर 33 प्रतिशत हो गया।

संपूर्ण विकास के मानदंड के रूप में प्रति व्यक्ति आय को सीग मानकर विद्वानों ने विकास की इस प्रकार की संपूर्ण प्रक्रिया की विशेषता दर्शाने के लिए बड़ी संख्या में सामाजिक-आर्थिक निदेशकों का संकलन करने का प्रयास किया। इन सांख्यिकीय आँकड़ों से भी यही पता चलता है कि साठ के दशक से, अंतर-राज्यीय असमानता में कमी नहीं आई। यह एक रोचक बात है कि बुनियादी आर्थिक ढाँचे के निदेशकों और प्रति हजार की आबादी के पीछे बिजलीकृत गाँवों, साक्षरता की दर, शिक्षा, बैंकिंग, चिकित्सा आदि जैसी सामाजिक सुविधाओं के अंतर-राज्यीय वितरण की असमानता में मामूली कमी होना दर्शाते हैं। संपूर्ण विकास में असंतुलन की यह विशेषता या राज्य का प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद, आंशिक रूप से कृषि विकास की असमानता में वृद्धि होने के कारण है। पहले यह देखा गया था कि साठ और सत्तर के दशक के दौरान सघन सिंचाई, सिंचित एवं वाणिज्यिक फसलों के अंतर्गत आने वाली भूमि का अनुपात और प्रति हेक्टेयर उर्वरक, ट्रैक्टर आदि के प्रयोग में स्थानीय आधार पर असमानता थी। इसके परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में श्रम उत्पादकता में स्पष्ट रूप से विभेदीकरण हो गया। अत: यह तर्क दिया जा सकता है कि राज्यों में उद्योगों के कम असंतुलित विकास, बुनियादी आर्थिक ढाँचे और जन-सुविधाएँ मुहैया कराए जाने के बावजूद विकास के समग्र स्तरों की असमानता में ह्रास नहीं हुआ है, ऐसा मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र में उस असंतुलित विकास के कारण है, जिसमें अभी भी देश की कुल कार्य शक्ति के लगभग सत्तर प्रतिशत को रोजगार मिला हुआ है।

औद्योगिक विकास, बुनियादी आर्थिक ढाँचे आदि की स्थानिक पद्धति के बारे में यह कहा जा सकता है अंतर-राज्यीय असमानता एक आंशिक तस्वीर ही प्रस्तुत करती है। ऊपर यह कहा गया है कि कुछ बड़े नगरों में बुनियादी सुविधाएँ और सामाजिक सुख-साधन इकट्ठे हो गए हैं, जिसके कारण इन केंद्रों में उद्योगों का केंद्रीकरण हो गया है। इससे राज्य की सीमाओं के अंदर असंतुलन बढ़ गया है जिसने गाँव तथा शहर के बीच खाई पैदा कर दी है। इसलिए पिछड़े इलाकों में उद्योग लगाने और बुनियादी सुख-सुविधाओं को मुहैया कराने की नीति आंशिक रूप से ही सफल हो सकी है।

बोध प्रश्न 4

यदि किसी राज्य का संपूर्ण विकास प्रति व्यक्ति राज्य के घरेलू उत्पाद से मापना हो तो राज्यों के बीच इस निदेशक की विकास दर में क्या उतार-चढ़ाव होता रहा है। तीन वाक्यों में अपना उत्तर प्रस्तुत करें।

.....

.....

.....

.....

.....

21.7 संतुलित क्षेत्रीय विकास के साधन

देश में संतुलित क्षेत्रीय विकास की प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण कारण सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के ज़रिए केंद्र सरकार द्वारा सीधे निवेश किया जाना है। वास्तव में यह सच है कि पचास और साठ के दशकों के दौरान गरीब राज्यों को प्रति व्यक्ति अधिक निवेश प्राप्त हुआ था। ऐसा मुख्यत: इन राज्यों में कच्चा लोहा, कोयला, चूना-पत्थर आदि उपयुक्त कच्चा माल उपलब्ध होने के कारण था, जिनको विकसित करके औद्योगिक विकास के लिए उपयोगी बनाया गया था। साठ के दशक के दौरान केवल इस्पात संयंत्रों में ही कुल केंद्रीय निवेश का एक-तिहाई भाग बिहार में, दो-तिहाई भाग मध्य प्रदेश में और नब्बे प्रतिशत भाग उड़ीसा में खर्च किया गया था। फिर भी, 1979 की अंतिम अवधि तक के आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केंद्र सरकार के निवेशों में गरीब राज्यों के प्रति अपनाया गया रूख ज़्यादा पक्षपातपूर्ण नहीं था। पचास के दशक और साठ के दशक के आरंभ में जो स्थिति स्पष्ट दिखाई दे रही थी, उसमें साठ के दशक के अंत में और सत्तर के दशक के दौरान गैर-योजना कार्यों के लिए अनेक वित्त आयोगों के माध्यम से संसाधनों के हस्तांतरण से भी पिछड़े राज्यों के प्रति कोई स्पष्ट रुख नहीं बन पाया था। साठ के दशक के अंत में और सत्तर के दशक के दौरान मध्य आय वर्ग वाले कुछ राज्य कुल गैर-योजना संसाधनों से अपेक्षाकृत अधिक भाग प्राप्त करने में सफल हो गए थे।

राज्यों को विभिन्न योजनाओं के लिए योजना आयोग के माध्यम से संसाधनों का जो हस्तांतरण किया जाता था, उसका मकसद संतुलित क्षेत्रीय विकास था। 1951-81 की अवधि के दौरान उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, जैसे पिछड़े राज्यों को प्रति व्यक्ति अधिक राशि प्राप्त हुई थी, यद्यपि महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल जैसे कुछ विकसित राज्यों को भी प्रति व्यक्ति के हिसाब से अधिक योजना निधि प्रदान की गई।

औद्योगिक लाइसेंस स्वीकार किए जाने की पद्धति से पता चलता है कि विनियमन के माध्यम से निजी औद्योगिक इकाइयाँ लगाए जाने के मामले में सरकार द्वारा लगाया गया नियंत्रण पूरी तरह प्रभावी नहीं रहा। 1959-66 की अवधि के दौरान हज़ारी समिति ने लाइसेंस नीति की कार्यप्रणाली की समीक्षा की थी (इसकी स्थापना औद्योगिक विकास एवं विनियम अधिनियम, 1951 के द्वारा की गई थी) उसने यह महसूस किया कि इससे देश में क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा नहीं मिल सकता। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि, (जैसा कि हज़ारी रिपोर्ट में कहा गया है) राज्य के घरेलू उत्पाद के भाग के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में किए गए कुल विनियोग के प्रति लाइसेंस के अनुपात का संबंध (सहसंबंधों का गुणांक) रचनात्मक और महत्वपूर्ण माना गया। इससे यह पता चलता है कि पहले से ही अच्छे औद्योगिकीकरण वाले राज्य औद्योगिक लाइसेंस प्राप्त करने में अग्रणी रहे हैं। इसका कारण यह था कि ये राज्य अपने औद्योगिक विकास निगमों के माध्यम से अधिक कारगर रूप से प्रभावित करने की स्थिति में थे और इस बात को सुनिश्चित करने में अक्सर समर्थ होते रहे कि उनके क्षेत्र में लाइसेंस का विनियोग सफल होगा।

1953-85 के दौरान जारी किए गए लाइसेंसों का अनुमोदन किए जाने में स्थानीय पद्धति का विश्लेषण किए जाने से लाइसेंस प्रणाली का एक रोचक पक्ष सामने आता है। इस अवधि के दौरान स्वीकार किए गए कुल लाइसेंसों में कुछ औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न कुछ राज्यों का भाग कम हो गया। लेकिन इससे औद्योगिक विकास की दृष्टि से निम्न स्तर के राज्यों को लाभ नहीं हुआ। पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र जैसे उच्च आय वाले राज्यों के प्रभुत्व में कमी आने के साथ-साथ गुजरात और कर्नाटक जैसे मध्य आय वाले राज्य औद्योगिक मानचित्र पर उभर कर सामने आ गए। उदाहरण के लिए इस अवधि में केरल और बिहार द्वारा प्राप्त किए गए लाइसेंसों के अनुपात में कमी आ गई, जबकि लाइसेंस प्राप्त करने में मध्य प्रदेश और उड़ीसा की स्थिति सन् पचास के दशक के निचले स्तर पर स्थिर रही। यहाँ तक कि अस्सी के दशक के मध्य में तीन राज्यों महाराष्ट्र, गुजरात और तमिलनाडु ने देश में जारी किए गए कुल लाइसेंसों का एक-तिहाई प्राप्त किया था, पर ये पिछले वर्ष के औसत आँकड़ों की तुलना में काफ़ी कम थे।

कृषि विकास और औद्योगिक लाइसेंसों के जारी किए जाने में असंतुलन ही संस्थागत ऋणों के वितरण में असमानता के लिए अंशत: उत्तरदायी है। पूर्वोत्तर राज्यों और संघ शासित क्षेत्रों में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी.आई.), जीवन बीमा निगम, राज्य वित्त निगम आदि जैसी विकास एवं वित्तीय संस्थाओं द्वारा वितरित की गई अनुमानित राशि प्रति व्यक्ति मात्र 20 रुपए है, जबकि राष्ट्रीय औसत 116 रुपए है। बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान जैसे गरीब राज्यों को भी कम संस्थागत ऋण प्राप्त हुए थे। अग्रिम राशि मंज़ूर किए जाने के मामले में वाणिज्यिक बैंक औद्योगिक रूप से विकसित राज्यों के प्रति पक्षपात करते

हैं। सौभाग्य से, विशेष रूप से सत्तर के दशक के मध्य से, देश में ऋण देने वाली सबसे बड़ी संस्था—भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की ऋण वितरित करने की नीति में परिवर्तन किया गया बैंक ने अपने कुल ऋण का एक बहुत बड़ा भाग घोषित किए गए पिछड़े ज़िलों में आवंटित किया।

21.8 नियोजित विकास, क्षेत्रीय विशेषज्ञता और एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र पर निर्भर रहना

विरासत में गतिहीन कृषि-क्षेत्र और कमजोर एवं विकृत औद्योगिक आधार प्राप्त होने के कारण स्वतंत्र भारत को अपने विकास की गति को बढ़ाने और अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीय ढाँचे में औपनिवेशिक विकृतियों को ठीक करने के लिए गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा था। सरकार ने उपलब्ध संसाधनों को कुछ चुने हुए क्षेत्रों में केंद्रित करके बुनियादी उद्योगों में व्यापक रूप से पूँजी निवेश का कार्यक्रम बनाया। साथ ही कृषि को स्थिर करने और औद्योगिक तथा सेवा क्षेत्रों के विकास को बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक राज्य में धन वितरित किया। इसके परिणामस्वरूप भारत के औद्योगिक मानचित्र पर दो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ उभरकर सामने आईं। पहले को संचयन पद्धति कह सकते हैं. जो पूँजी निवेश और कुछ बड़े नगरों और उसके आसपास के इलाकों में बड़ी-बड़ी विनिर्माण इकाइयों पर आधारित हैं। दूसरी को विकीर्ण पद्धति कह सकते हैं, जिसमें पूँजी निवेश कम किया गया है और जो छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामीण इलाकों में फैली हुई है।

औद्योगीकरण और अर्थव्यवस्था के विकास की इन दो विशिष्ट पद्धतियों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि भारत के मानचित्र पर संचयन पद्धति के विकास के प्रमुख आठ केंद्रों का प्रभुत्व है। इनमें से पाँच कलकत्ता, बंबई, मद्रास, बंगलौर और जमशेदपुर के नगरों के चारों ओर विकसित हो गए हैं और ये निम्न स्तर वाले बिखरे हुए औद्योगिक क्षेत्रों से घिरे हुए हैं। इनमें से पहले तीन में औपनिवेशिक काल से ही विकास आरंभ हुआ था, मगर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से उनकी उच्च विकास दर का कारण मुख्य रूप से सरकारी सहायता है। यहाँ भी क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था पर एकत्रीकरण पद्धति के औद्योगिकीकरण का प्रभाव कमज़ोर रहा है। प्रायः इस प्रक्रिया का कृषि उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव रहा और परिणामस्वरूप कम औद्योगीकरण हुआ, अर्थात् छोटे कस्बों और आसपास के ग्रामीण इलाकों में परंपरागत उद्योगों और शिल्पों का ह्रास हुआ। दिल्ली, अहमदाबाद और लुधियाना, जालंधर के चारों ओर पनप रहे संचयन पद्धति के विकास के अन्य तीन केंद्रों के साथ विकीर्ण औद्योगिक विकास की प्रक्रिया जुड़ी हुई है। इस प्रक्रिया का विस्तार दक्षिण में केरल, आंध्र प्रदेश के कुछ भाग और कर्नाटक, उत्तर में दिल्ली, हरियाणा और पंजाब तथा मध्य में गुजरात, महाराष्ट्र के कुछ भाग और मध्य प्रदेश तक है। केरल औद्योगीकरण के आधार पर विकसित गाँवों और छोटे-छोटे कस्बों का एक सुंदर उदाहरण है और यह प्रवृत्ति दक्षिण के कुछ अन्य क्षेत्रों में भी उभर रही है। बंगलौर को छोड़कर, इन क्षेत्रों में से अनेक में संचयन पद्धति के औद्योगीकरण का अभाव होने के कारण इनके संपूर्ण विकास की गति धीमी पड़ गई है। गुजरात, पंजाब और हरियाणा ने संचयन औद्योगीकरण के साथ विकीर्ण पद्धति का तालमेल बैठाने में कुछ सफलता प्राप्त की है। इन क्षेत्रों में कृषि-विकास से भी कम सहायता नहीं मिली है।

यह कहा जा सकता है कि विरासत में मिले औपनिवेशिक ढाँचे को भविष्य में विकास का आधार मानने से कृषि, विकास के क्षेत्र में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। इससे स्थानीय संसाधनों व इस्तेमाल करके प्रौद्योगिकी से संबद्ध गतिविधियों वाले क्षेत्रीय औद्योगिक परिसरों का केवल सीमित विस्तार हो पाया। संसाधनों की दृष्टि से संपन्न मगर आर्थिक दृष्टि से कम विकसित क्षेत्रों में सुदृढ़ अंतरक्षेत्रीय संपर्क नहीं हो पाया। इस्पात मिलें तो पिछड़े राज्यों में लगाई गईं लेकिन इनके साथ सुदृढ़ प्रौद्योगिकी संपर्कों के ज़रिए इंजीनियरिंग उद्योग कुछ बड़े शहरों और उसके आसपास के इलाकों में फलते-फूलते रहे। इस प्रकार, उत्पादन परिसरों को उत्पादन प्रणाली के परिष्कृत एवं लाभकारी संघटकों के साथ पिछड़े क्षेत्रों से हटाकर शहर के औद्योगिक केंद्रों में अलग-अलग स्थापित कर दिया गया। यह दोहरी नीति सार्वजनिक क्षेत्र के भारी पूँजी निवेश से स्थापित भिलाई, बोकारो, भोपाल जैसे नए औद्योगिक केंद्रों के मामले में भी अपनाई गई थी। इन शहरों में अधिकांश में से कोई भी व्यक्ति अत्यंत आधुनिक लौह धातु या भारी विद्युत उपकरण के केंद्र से 20 या 30 किलोमीटर की दूरी पर स्थित नवप्रस्तर के भीतरी प्रदेश में जा सकता है।

दूसरी ओर, स्थान और आबादी के भिन्न-भिन्न वर्गों को इस बिखरे हुए औद्योगिकीकरण का अच्छा लाभ प्राप्त हुआ। औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि संचयन

द्धति और इसके माध्यम से राष्ट्रीय बाज़ार के साथ इसको मिलाए बिना इसके दूरगामी परिणाम नहीं निकल सकते या यह प्रक्रिया दीर्घकाल तक नहीं चल सकती। पिछड़े क्षेत्र के विकास के लिए राष्ट्रीय समिति (श्रीनिवासन समिति) ने संचयित औद्योगिक विकास के ऐसे एक सौ केंद्रों की स्थापना करने की सिफ़ारिश की थी जो उत्पादन और बाज़ार-संपर्क की प्रणाली की क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़े हुए हों। संचयन और विकीर्ण पद्धति के बीच सामंजस्य न रहने से घटिया किस्म की प्रौद्योगिकी के प्रयोग और अकुशलता बढ़ने का खतरा उत्पन्न होता है। इसलिए क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था में दो भिन्न-भिन्न औद्योगिक प्रक्रियाओं और कृषि विकास को परस्पर मिलाना महत्वपूर्ण है। किसी भी क्षेत्र में ऐसी उत्पादन प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए जो उपलब्ध स्थानीय संसाधनों पर आधारित हो और जो उत्पादन प्रणाली को स्थानीय माँग के अनुसार राष्ट्रीय बाज़ार के साथ भी जोड़ती हो। यह तभी संभव है, जब राष्ट्र और राज्य दोनों स्तरों पर क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में योजनाएँ तैयार की जाएँ। इससे निकट भविष्य में भारत में संतुलित क्षेत्रीय विकास का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए योजना और सरकारी हस्तक्षेप की भूमिका का महत्व उजागर होता है। भारत में क्षेत्रों का संतुलित आर्थिक विकास हमारे देश की राष्ट्रीय एकता की एक आधारशिला है।

बोध प्रश्न 5

संतुलित क्षेत्रीय विकास कैसे किया जा सकता है और उसके लिए क्या साधन अपनाए जाने चाहिए? इस संबंध में पाँच वाक्यों में अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.9 सारांश

भारत उपमहाद्वीप के आकार का एक देश है, जिसकी जलवायु, भूमि, खनिज, जंगल, पानी आदि प्राकृतिक संपदा के साथ-साथ भाषा, जनसंख्या और सामाजिक-आर्थिक विशिष्टता में व्यापक विविधता एक विशेषता है। आर्थिक शक्तियाँ एक तरफ इन क्षेत्रीय विविधताओं का अच्छे से अच्छा उपयोग करके क्षेत्रों का समान रूप से विकास भी कर सकती हैं और दूसरी तरफ अंतर-क्षेत्रीय असमानता को बढ़ा भी सकती हैं। औपनिवेशिक भारत में आर्थिक शक्तियों ने क्षेत्रों में विकास की विकृत पद्धति अपनाई थी जो कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास जैसे बंदरगाह नगरों और रेलवे केंद्रों के संचयन की संकीर्ण विकास पद्धति आधारित थी। इसी तरह जो भी औद्योगिक और कृषि विकास हुआ, उसका आधार भी संकीर्ण एवं क्षेत्रीय था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद औद्योगिक और कृषि क्षेत्र में व्यापक रूप से विकास हुआ है, लेकिन औपनिवेशिक काल की त्रुटियों को पूरी तरह दूर नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त, कुछ समय पहले, कृषि-क्षेत्र में हरित क्रांति के रूप में नई प्रौद्योगिकी के प्रयोग से क्षेत्रीय असमानता बढ़ी है। हालाँकि भारतीय राज्यों में, पहले की अपेक्षा, औद्योगिक विकास की असमानता में कमी आई है। फिर भी, ऐसे प्रमाण विद्यमान हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि अंतर-राज्य और ग्रामीण-शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय की असमानता में वृद्धि हुई है। क्षेत्रीय संसाधनों पर आधारित उत्पादन परिसरों के अंतर-क्षेत्रीय संपर्कों के माध्यम से संतुलित क्षेत्रीय विकास और विशेषज्ञता का सावधानी से समन्वय करना होगा।

21.10 शब्दावली

अंकगणितीय मध्यमान : यह परिवर्तनशीलता के मूल्यों का औसत है, जो उनकी संख्या द्वारा मूल्यों के योग में भाग देकर प्राप्त किया जाता है।

परिवर्तनशीलता का गुणांक : यह आंकड़ों के बिखराव या परिवर्तनशीलता का सापेक्षिक मान है, जो अंकगणितीय मध्यमान के प्रतिशत के रूप में मानक-अंतर को व्यक्त करता है।

सहसंबंध : जब दो परिवर्तनशील वस्तुएं एक-दूसरे के साथ मिला दी जाती हैं तो उन्हें सहसंबंधी कहते हैं। उदाहरण के लिए हमारे देश के किसी भी क्षेत्र में वर्षा की मात्रा और खाद्यान्न की उपज सार्थक रूप से सह-संबंधित है, अर्थात् दोनों की गति एक ही दिशा में होती है। ये दोनों परिवर्तनशील हैं, जब इनकी गति विपरीत दिशा में होती है, तब इनका परस्पर का संबंध नकारात्मक होता है।

स्थिर पूँजी : इस शब्द का प्रयोग उत्पादन के स्थायी साधनों का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है, अर्थात् औजार, यंत्र, उपकरण और भवन आदि उत्पादन प्रक्रिया के प्रयोग में आने वाली वे वस्तुएँ हैं, जो एक बार के उत्पादन में ही समाप्त नहीं हो जातीं।

उत्पादन लागत और स्थिर मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद : सकल राष्ट्रीय उत्पाद उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त सामान का मूल्य घटाकर राष्ट्रीय उत्पाद का कुल मूल्य होता है। उपादान लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद उत्पादन के विभिन्न घटकों—भूमि, श्रम, पूँजी और उद्यमकर्ता की आय जोड़कर प्राप्त किया जाता है। इसमें से अप्रत्यक्ष कर घटा दिए जाते हैं और सरकार द्वारा दी गई सहायता जोड़ दी जाती है। यह उपादान लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद होता है। चूँकि मूल्य में परिवर्तन होने के साथ-साथ रुपए के मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है, इसलिए किसी वर्ष-विशेष में प्रचलित मूल्यों और उन्हें स्थिर रखने के संदर्भ में भी सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मान निकाला जाता है। यह सकल राष्ट्रीय उत्पाद-स्थिर मूल्यों पर आधारित होता है।

कुल बोया गया क्षेत्र : यदि इसका संबंध किसी एक वर्ष से है, तो उस वर्ष के दौरान ऋतु की फ़सल के अतिरिक्त उस खेत में चाहे जितनी बार फ़सल बोई जाए, उसका हिसाब नहीं रखा जाता। किसी खेत पर एक बार से अधिक बोई गई फ़सल को एक बार गिना जाता है।

गैर योजना संसाधन : सामान्यतः संसाधनों को भौतिक संसाधन और वित्तीय संसाधन के रूप में विभाजित किया जाता है। योजना के संदर्भ में संसाधनों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जाता है—योजनागत संसाधन और गैर-योजना संसाधन। गैर-योजना संसाधन वे होते हैं, जिनकी आवश्यकता सरकारी व्यय की गैर-योजना मदों का वित्त पोषण करने के लिए होती है। वे सभी मद, जो चालू योजना में शामिल नहीं किए जाते उन्हें गैर-योजना मद कहते हैं। गैर-योजना के सरकारी व्यय के कुछ महत्वपूर्ण मदें हैं—रक्षा, कानून व्यवस्था, प्रशासन आदि। प्रशासनिक सुविधा के लिए योजना आयोग योजनाओं के लिए संसाधनों की और वित्त आयोग गैर-योजना संसाधनों की व्यवस्था करता है।

स्थायी बंदोबस्त : पट्टे पर भूमि देने की प्रणाली औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ों द्वारा चालू की गई थी, जिसमें किसी व्यक्ति को उस क्षेत्र विशेष से भूमि का लगान वसूल करने का स्थायी अधिकार मिल जाता था। उसके बदले में वह ब्रिटिश सरकार को वर्ष में एक बार निश्चित धनराशि की अदायगी करता था।

भू-आकृति घटक : ये किसी देश या देश के किसी क्षेत्र की भौतिक और प्राकृतिक विशेषताएँ हैं, जैसे जलवायु अर्थात् तापमान और वर्षा का प्रभाव, भूमि की विशेषता और उसकी विविधता, गुण एवं संरचना, वनस्पति, प्राकृतिक संसाधन आदि।

उत्पादकता : यह काम में आने वाली वस्तुओं के प्रयोग के किसी सूचकांक की तुलना में धन या वास्तविक इकाइयों के रूप में उत्पादकता के किसी खास माप का अनुपात होता है। उदाहरण के लिए श्रम की उत्पाद का अर्थ है, किन्हीं उपकरणों का प्रयोग करते हुए श्रम की एक इकाई कितना उत्पादन कर सकती है।

क्षेत्र : अर्थव्यवस्था की किसी स्थानीय/क्षेत्रीय इकाई को क्षेत्र कहते हैं। इसकी परिभाषा की परिधि के अंतर्गत प्राकृतिक एवं भौतिक विशेषताएँ और संसाधन, जनसंख्या एवं सामाजिक-आर्थिक विशेषताएँ आती हैं, जिनके संदर्भ में किसी क्षेत्र को एक सजातीय इकाई माना जाता है। किसी क्षेत्र को परिभाषित करने के लिए विशेषताओं का चयन विश्लेषण का प्रयोजन और नीति पर निर्भर करता है।

स्थानिक परंपरा : सामाजिक आर्थिक विकास के दौरान राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थानीय इकाइयाँ एक दूसरे पर निर्भर होती हैं, जिसमें संसाधन, परिवहन और संचार, ऊर्जा की आपूर्ति, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ आदि के क्षेत्र में कुछ क्षेत्रों का बहुत अच्छा विकास हो जाता है और अन्य क्षेत्र कार्य की दृष्टि से उस पर निर्भर करने लगते हैं। स्थानीय अर्थव्यवस्था की इस प्रवृत्ति को स्थानिक परंपरा कहते हैं।

मानक अंतर : यह अंकगणितीय मध्यमान के चारों ओर परिवर्तनशीलता के बिखराव का माप होता है।

राज्य का घरेलू उत्पाद : राज्य के बाहर रहने वाले लोगों द्वारा किसी वस्तु के किसी भाग का उत्पादन किए जाने के बावजूद, उस वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त की गई सामग्री का मूल्य घटाने के बाद भारत में किसी राज्य के अंदर उत्पादित सभी सामान और सेवाओं का कुल मूल्य होता है—राज्य का घरेलू उत्पाद।

राज्य की प्रति व्यक्ति आय : राज्य के घरेलू उत्पाद में से राज्य के बाहर रहने वाले लोगों का दावा घटा दिया जाता है और राज्य के बाहर रहने वालों की आय उसमें जोड़ दी जाती है। इस प्रकार जो योग बनता है, उसमें राज्य की आबादी की संख्या से भाग देने से राज्य की प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है।

क्षेत्र में जोड़ा गया मूल्य : यह राष्ट्रीय उत्पाद में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र का अंशदान माना जाता है, जो उसकी उपज का मूल्य जोड़कर और उस उपज के उत्पादन में प्रयुक्त सामग्री की कीमत घटाकर प्राप्त किया जाता है। इसमें अन्य क्षेत्रों से की गई खरीद शामिल होती है। यह उत्पादन के उपादान कारण—श्रम, भूमि, पूँजी और उद्यमकर्ता को की गई अदायगी का योग भी होता है।

21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भल्ला, जी.एस. और अलग, वाई. के (1979), *"परफ़ॉरमेंस ऑफ़ इंडियन एग्रीकल्चर—ए डिस्ट्रिक्ट वाइज़ सर्वे"*, स्टर्लिंग, नई दिल्ली।

डेविस, किंगसले, (1951), *"दि पापुलेशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान"* प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन।

मिश्र, जी.पी. *"रीजनल स्ट्रक्चर ऑफ डेवलपमेंट एंड ग्रोथ इन इंडिया"* अध्याय-1, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

मित्रा, ए. (1961), *"लैंविल्स ऑफ रीजनल डेवलपमेंट इन इंडिया"* भारत की जनगणना, अध्याय-1, भाग 1ए (1), भारत सरकार, नई दिल्ली।

सेनगुप्त पी. और सदासुख, जी.वी. (1961), *"इकोनोमिक रीजनलाइजेशन ऑफ इंडिया—प्राब्लम्स एंड एप्रोचेज,"* भारत की जनगणना, अध्याय-1, संख्या-8, नई दिल्ली।

भारत सरकार, (1976), *"रिपोर्ट ऑफ दी नेशनल कमीशन एग्रीकल्चर"* भाग-4, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली।

21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

किसी कृषि प्रधान देश में किसी क्षेत्र की सबसे अच्छी परिभाषा वह होती है, जिसमें व्यापक विशेषताओं जैसे—वर्षा, विविधता और कृषि पद्धति, को महत्व दिया गया हो। ये भौतिक विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार सामाजिक-आर्थिक कारणों के रूप में ग्रहण की गई भूमि का वितरण, बैंक ऋण, भूमिहीनता, जनजाति क्षेत्र का विस्तार आदि भी महत्वपूर्ण हैं। शहरीकरण और व्यावसायिक पद्धति भी विकास के महत्वपूर्ण तत्व हैं। अतः किसी क्षेत्र की सबसे अच्छी परिभाषा इन तीनों के समन्वित रूप में निहित है, जो न्यूनाधिक रूप में उसकी एक सजातीय इकाई होती है।

बोध प्रश्न 2

पूरे भाग 21.3 का अध्ययन करें। उसमें आपको उत्तर मिल जायेंगे।

बोध प्रश्न 3

भाग 21.4 और 21.5 का अध्ययन करें, विकास के संकेतकों जैसे—श्रम की उत्पादकता और भूमि, प्रति व्यक्ति क्षेत्रीय आय आदि पर ध्यान दें। उसमें आपको उत्तर मिल जाएँगे।

बोध प्रश्न 4

भाग 21.6 का सावधानीपूर्वक अध्ययन करें, विकास के माप के रूप में प्रति व्यक्ति राज्य के घरेलू उत्पाद में परिवर्तनशीलता और इस माप की सीमाओं को पहचानें। तब आप अपना उत्तर लिख सकते हैं।

बोध प्रश्न 5

भाग 21.7 और 21.8 का अध्ययन करें, और राज्यों में पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर लाइसेंस नीति का प्रभाव, बैंक-संसाधनों का वितरण और उधार देने वाली संस्थाओं की शर्तों पर दृष्टि डालें तथा अपना उत्तर लिखने के लिए सामूहिकीकरण बनाम प्रकीर्ण विकास पद्धति के परिणामों पर भी विचार करें।

इकाई 22 बहु-धर्म समाज : धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 पश्चिम में धर्म-निरपेक्षता
  22.2.1 धर्म-निरपेक्षता का उद्भव
  22.2.2 धर्म और धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र
22.3 भारत में धर्म-निरपेक्षता
  22.3.1 धर्म-निरपेक्षता और भारतीय परंपरा
  22.3.2 धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय आंदोलन
  22.3.3 भारत ने धर्म-निरपेक्षता का रास्ता क्यों चुना?
22.4 भारतीय संविधान : धर्म-निरपेक्षता का आधार
22.5 धर्म-निरपेक्षता के बारे में जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण
22.6 धर्म-निरपेक्षता के मार्ग की समस्याएँ
  22.6.1 समान नागरिक संहिता की समस्या
  22.6.2 राजनीति और धर्म
  22.6.3 सांस्कृतिक प्रतीक और धर्म-निरपेक्षता
  22.6.4 अल्प-संख्यक वर्ग की धारणाएँ
22.7 धर्म-निरपेक्षता का प्रसार करने के उपाय
  22.7.1 शिक्षा
  22.7.2 स्वैच्छिक संस्थाएँ
22.8 सारांश
22.9 शब्दावली
22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य धर्म-निरपेक्षता का अर्थ एवं प्रकृति और भारतीय परिस्थितियों में इसके मार्ग में आने वाली समस्याओं को समझाना है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- पश्चिमी देशों में धर्म-निरपेक्षता का उदय और उसकी प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे;
- इसकी व्याख्या कर सकेंगे कि भारत में धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों को क्यों अपनाया गया था;
- धर्म-निरपेक्षता के मार्ग में आने वाली समस्याओं को समझ सकेंगे; तथा
- उन्हें सुलझाने के लिए सुझाव दे सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

भारत में हमेशा ही विविध प्रकार के धार्मिक विश्वासों को माना जाता रहा है। वास्तव में, भारतीय समाज जैसा अनेक धर्मों वाला शायद ही कोई अन्य समाज मौजूद हो। इस देश में, विविध प्रकार के धार्मिक विश्वासों का प्रचलन साथ-साथ रहा है। और इनमें से कुछ तो एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। भारत आपसी सहिष्णुता के साथ धर्मों की अनेकता का शानदार उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि भारतीय समाज धार्मिक तनाव और संघर्ष से पूरी तरह मुक्त रहा है। लेकिन, जब हम तीन हजार वर्ष या उससे अधिक समय के भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालते

हैं तो भीषण धार्मिक विवादों की कड़वाहट और युद्ध का कोई महत्वपूर्ण प्रमाण नज़र नहीं आता। भारत में मुसलमानों के आने के बाद कोई बड़ा धार्मिक युद्ध नहीं लड़ा गया। हालाँकि असहिष्णु शासक रहे हैं, फिर भी, भारत में मुसलमानों के शासन में भी, कुल मिलाकर सौहार्द का ही माहौल रहा, संघर्ष का नहीं। (दूसरी ओर, इसी अवधि में, यूरोप में भीषण धार्मिक संघर्ष चल रहा था।)

मुगल शासन की समाप्ति के बाद भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ। तब भी शुरू में धार्मिक सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भारतीय परंपरा बनी रही। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम में हिंदू और मुसलमान साथ-साथ लड़े थे।

परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से परिस्थितियां बदलने लगीं। अंग्रेज़ों द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू किए जाने के कारण आर्थिक और राजनीतिक प्रतियोगिता की भावना जाग्रत हुई, जिसके कारण धार्मिक विवाद पैदा होने लगा और करीब आधी शताब्दी के थोड़े से समय में ही भारतीय समाज में साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा फैल गई। हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसी पार्टियाँ भारतीय राजनीति को पूरी तरह साम्प्रदायिक बनाने में सफल रहीं और 1947 में औपनिवेशिक दासता से मुक्ति पाते समय भारत में मानव इतिहास का सबसे भीषण रक्तपात हुआ। देश को विभाजन तक पहुँचाने के लिए ज़िम्मेदार घटनाओं और स्वयं विभाजन के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच इतनी अधिक कटुता और विद्वेष बढ़ गया, जिससे ऐसा लगने लगा कि परम्परागत धार्मिक सह-अस्तित्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया है।

फिर भी, विभाजन के मात्र दो वर्ष बाद ही जब स्वतंत्र भारत का पहला संविधान बनाया गया तो नेहरू जी की प्रेरणा से और उनके मार्ग-निर्देशन में राष्ट्रीय नेताओं ने भारत को एक "धर्म-निरपेक्ष"– राज्य घोषित करने का निर्णय लिया; अर्थात्, एक ऐसा राज्य, जिसमें सभी धर्मों और नागरिकों के साथ, उनके धार्मिक विश्वास चाहे जो हों, निष्पक्ष भाव से तथा एक जैसा व्यवहार किया जाएगा। संविधान बनाते समय, कुछ ही समय पहले फैला साम्प्रदायिक दुराग्रह और विरोध पूरी तरह भुला दिया गया। इस बात को कोई महत्व नहीं दिया गया कि पाकिस्तान धार्मिक अलगाव के सिद्धांत के आधार पर बना है। भारत ने धर्म निरपेक्षता का मार्ग अपनाने और अनेक धर्मों वाला ऐसा समाज बने रहने का निर्णय किया, जिसमें सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता, एक नागरिकता और कानून की दृष्टि में समानता प्रदान करने की गारण्टी दी गई हो। धर्म-निरपेक्ष राज्य होने का निर्णय लिया जाना एक अन्य दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज अपने पूरे इतिहास में धर्म के प्रति दृढ़ विश्वास रखता रहा है और उसके लिए प्रतिबद्ध रहा है। वास्तव में, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारतीय संस्कृति और समाज का निर्माण करने में धर्म का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। फिर भी, जब धार्मिक या धर्म-निरपेक्ष राज्य के बीच चुनाव करने का अवसर आया, तो भारत ने धार्मिक राज्य का चुनाव नहीं किया।

इतिहास और परंपरा के इस संदर्भ में, भारत ने किन कारणों से धर्म-निरपेक्षता राज्य बनने का निर्णय किया? और भारतीय धर्म-निरपेक्षता किस सीमा तक भारत में विशिष्ट इतिहास, राजनीति और सांस्कृतिक अनुभवों से प्रभावित हुई?

समकालीन भारत में धर्म-निरपेक्षता को पूरी तरह से समझना और उसके महत्व का मूल्यांकन करना कठिन हो गया है, क्योंकि हाल की घटनाएँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि भारतीय समाज तेज़ी से हिन्दू पुनरुत्थानवाद और मुस्लिम तथा सिख कट्टरवादिता (Muslim and Sikh Fundamentalism) की ओर बढ़ रहा है। यह हमारे संविधान के निर्माताओं की आकांक्षाओं के प्रतिकूल है।

22.2 पश्चिम में धर्म-निरपेक्षता

"धर्म-निरपेक्षता" शब्द, सबसे पहले 1851 में जार्ज जैकब होलीओक (1817-1906) ने गढ़ा था। अंग्रेज़ी में "सेक्यूलर" (Secular) शब्द लैटिन के "सेकुलम" (Saeculum) शब्द से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– "यह वर्तमान युग"। यह विश्व के लिए प्रयुक्त शब्दों में से भी एक है और काफ़ी लम्बे समय तक सेक्यूलर शब्द का अर्थ "सांसारिकता" माना जाता था, जो "धर्म" या "पवित्रता" के प्रतिकूल था। लेकिन होलीओक द्वारा औपचारिक रूप से शब्द गढ़े जाने से बहुत पहले, पश्चिम के समाज में धर्म-निरपेक्षता की प्रक्रिया, बल्कि इसके लिए संघर्ष भी शुरू हो चुका था।

22.2.1 धर्म-निरपेक्षता का उद्भव

यूरोप और इंग्लैंड में बहुत पहले से ही जीवन के सभी पक्षों पर कैथोलिक चर्च का पूरा नियंत्रण था। पोप और उसके निचले स्तर के पादरियों की स्थिति बड़ी मज़बूत थी, और इसी शक्ति के कारण ये अपने धार्मिक अधिकारों का प्रयोग कर सभी का दमन करते थे, चाहे कोई राजा हो या सामान्य व्यक्ति। इसलिए, राजा और जनता, दोनों ने, राज्य के मामलों और रोज़ के जीवन के सामान्य कामों को चर्च तथा धर्म के नियंत्रण से मुक्त करने के लिए संघर्ष किया। धर्म और धार्मिक प्राधिकार का विरोध किया गया क्योंकि ये अत्याचार का मुख्य औचित्य और साधन बन गये थे। वास्तव में, धर्मगुरुओं का दमन इतना कठोर था कि जन-जागरण का स्वरूप धर्म-विरोधी होना स्वाभाविक ही था। इस अनुभव के कारण पश्चिमी समाज में धर्म को उन शक्तियों की कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ा, जो दैनिक जीवन के मामलों के साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक जीवन को भी धार्मिक प्राधिकारियों के नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त कराना चाहते थे। इस तरह, यह संघर्ष या प्रक्रिया जिसने धार्मिक तानाशाही को समाप्त कर तर्क-संगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्थापित किया, धर्म-निरपेक्षता कहलाई।

मूलतः धर्म-निरपेक्षता का संबंध केवल सांसारिक कार्यों से है, जिसमें इसी जीवन में मानवीय परिस्थितियों को सुधारने और मानव-कल्याण के लिए कार्य किया जाता है। इस तरह से, धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण और सिद्धांत उन मामलों में धार्मिक भूमिका को महत्व नहीं देता, जिनका संबंध धार्मिक विश्वासों और मृत्यु के बाद के जीवन से परे हैं।

पश्चिमी संसार में धर्म-निरपेक्षता की बढ़ती प्रवृत्ति ने धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति पश्चिमी देशों की जनता के लगाव को कम कर दिया। इस प्रवृत्ति का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अनेक सामाजिक संस्थाएँ, विशेष रूप से आर्थिक और राजनीतिक मामलों में, धार्मिक आदेशों की बजाय तर्कसंगत आधार पर काम करने लगीं। इसके साथ ही, यूरोपीय समाज में धर्म का सर्वांगीण प्रभाव समाप्त हो गया और इसके स्थान पर धीरे-धीरे राष्ट्रीयता जैसे धर्म-निरपेक्ष सिद्धांत को, समाज और लोगों को जोड़ने वाले सिद्धांत के रूप में मान्यता मिली।

सामान्य व्यक्ति के लिए धर्म-निरपेक्षता के विकास का अर्थ था—ज्यादा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विचार, संबंधों तथा कार्य के क्षेत्रों में ज्यादा विकल्प। मैकी का कथन है, "धर्म-निरपेक्ष" समाज में अनेक सामाजिक मान्यताएँ और विचार होते हैं।" इतिहास के उस काल में आधुनिक विज्ञान का विकास नहीं हुआ था और मानव जीवन परंपराओं, अंध-विश्वासों और विवेकहीन आस्थाओं पर चलता था। ऐसे समय में, कुछ निडर और निष्ठावान विचारकों के निरंतर प्रयास से, इन तर्कहीन बातों को समाप्त कर, उनके स्थान पर तर्कसंगत मानवीय विचार और व्यवहार की स्थापना किया जाना किसी क्रांति से कम नहीं था।

22.2.2 धर्म और धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र

यद्यपि धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार करने और उसके प्रसार से धर्म की भूमिका और महत्व कम हो गया था, फिर भी, पश्चिमी जगत में भी, धर्म का प्रभाव पूरी तरह से समाप्त नहीं हो सका था।

धर्म की व्यापक भूमिका कम हो जाने से अनेक लोग यह सोचने लगे थे कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता, एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत हैं। वास्तव में, यह बिल्कुल सही नहीं है। ये एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि आपस में पूरी तरह जुड़े हुए हैं। सभी जानते हैं कि धर्म और आस्था मूलतः दैविक और जीवन के बाद की स्थितियों से संबंधित हैं। धर्म-निरपेक्षता का इन स्थितियों से कोई लेना-देना नहीं है और ऐसी स्थितियों के धार्मिक क्षेत्र में बने रहने पर धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण को कोई आपत्ति भी नहीं हैं। धर्म और धर्म-निरपेक्षता के अलग-अलग क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए लौअर ने विचार व्यक्त किया कि, "धर्म-निरपेक्षता के प्रसार के साथ-साथ भी धर्म प्रगति कर सकता है और मनुष्य की नैतिकता और अस्तित्व को अलौकिक सार्थकता देने वाला आवश्यक स्रोत बना रह सकता है।" इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता और धर्म को परस्पर विरोधी विकल्पों के रूप में देखना उचित नहीं है। लौअर का कथन है, "धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है धर्म के स्वरूप में परिवर्तन, न कि उसकी समाप्ति।" इस स्थिति में हमें इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिए कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता में कुछ हद तक तनाव बना ही रहता है क्योंकि, जैसा कि मैकी ने कहा है कि, "सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में धर्म-निरपेक्षता इस संसार को दिव्य मानने के विचार को समाप्त करने का प्रयास करती है जिसके कारण, मनुष्य अपने समाज को मूलतः धार्मिक तरीके से समझना बंद कर देता है।" उनका यह भी कहना है कि, "धर्म-निरपेक्षता दूसरी दुनिया से विमुख होकर इस दुनिया की ओर ध्यान केंद्रित करने की प्रक्रिया है।" यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता का एक-दूसरे से निश्चित रूप से

विरोधी होना ज़रूरी नहीं है, लेकिन इनके बीच "अपरिहार्य" विरोध की ग़लत धारणा इसलिए पनपती है क्योंकि अंधविश्वास, निरर्थक रीति-रिवाज और रूढ़िवादी विश्वास, जिनका वास्तव में धर्म के साथ कोई संबंध नहीं होता, गलती से धर्म मान लिए जाते हैं। जैसाकि पहले कहा गया है, इनको दूर करना ही धर्म-निरपेक्षता का उद्देश्य है। लेकिन, जैसाकि गोपाल ने कहा है कि, "यदि धर्म का संबंध जीवन के "श्रेष्ठ मूल्यों" से है, तो इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं होना चाहिए"।

इस चर्चा को समाप्त करने से पहले, धर्म-निरपेक्षता के बारे में अंतिम महत्वपूर्ण निष्कर्ष यही है कि पूर्ण रूप से विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-निरपेक्षता एक ऐसी प्रवृत्ति और ऐसा मानसिक दृष्टिकोण है, जो तर्क और वैज्ञानिक विचारधारा की प्रमुखता तथा मानव-मात्र की समानता पर जोर देता है और मानता है कि हर व्यक्ति समान रूप से अच्छा है। वास्तव में, यहाँ इस निष्कर्ष पर पहुँच कर पता चलता है कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता का रास्ता समान है, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

बोध प्रश्न 1

1 रिक्त स्थानों को भरें।

क) पश्चिम में धर्म-निरपेक्षता का उदय ..... के अत्याचार से छुटकारा पाने के लिए किए गए संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ था।

ख) धर्म का संबंध ..... जगत से है, जबकि धर्म-निरपेक्षता का संबंध ..... जगत से है

2 क्या धर्म और धर्म-निरपेक्षता परस्पर विरोधी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

22.3 भारत में धर्म-निरपेक्षता

अब हम भारतीय संदर्भ में धर्म-निरपेक्षता पर विचार करें।

भाग 22.2 में हमने देखा कि पश्चिम में धर्म-निरपेक्षता के उदय से जीवन में धर्म का हस्तक्षेप कम होता गया। इस संदर्भ में "धर्म-निरपेक्षता" को "धर्महीनता" माना गया है। भारत में, धर्म-निरपेक्ष और धर्म-निरपेक्षता शब्दों का प्रयोग केवल राज्य के संदर्भ में ही किया गया है। इसलिए, हमारे देश में धर्म-निरपेक्ष राज्य शब्द तो कहा जाता है, धर्म-निरपेक्ष समाज कभी नहीं। इसका आंशिक कारण यह है कि भारत में धर्म-निरपेक्षता की विचारधारा पश्चिम से बिल्कुल भिन्न हैं। भारतीय धर्म-निरपेक्षता मुख्यत: साम्प्रदायिकता-विरोधी विचारधारा मानी गयी है। भारत में धर्म-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया जाता है कि राज्य किसी एक धर्म के साथ नहीं होगा, वरन् सभी धर्मों के प्रति उसका एक जैसा मैत्री भाव या दूरी होगी। निरपेक्षता के इस सिद्धांत पर कार्य करते हुए भारतीय राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अंतर-वर्गीय संघर्ष को रोके और उसके साथ-साथ विविधता भरे; प्रतियोगी और कभी-कभी एक दूसरे से संघर्षरत बहु-धर्मीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में जोड़े रखे। वर्गों की आपसी होड़ और संघर्ष तो हमारी सामाजिक विशिष्टता है। यह आशा की जाती है कि इस प्रकार की धर्म-निरपेक्ष नीति सभी नागरिकों में राष्ट्रीय भावना पैदा करेगी, जो उनकी विविध प्रकार की धार्मिक पहचान से ऊपर होगी लेकिन धार्मिक पहचान को अस्वीकार नहीं करेगी। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि सभी नागरिक और विशेष रूप से राजकीय अधिकारी अपने-अपने सार्वजनिक जीवन में एक ओर तो अपने अधिकारों और कर्तव्यों तथा दूसरी ओर अपने विश्वास और व्यवहार के बीच अंतर बनाए रखेंगे। भारत और पश्चिम की धर्म-निरपेक्षता के अर्थ में यह अंतर उन भिन्न ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण है, जिनमें भारत में धर्म-निरपेक्षता का उदय हुआ।

22.3.1 धर्म-निरपेक्षता और भारतीय परंपरा

जैसा पहले ही बताया जा चुका है कि पश्चिम में धर्म-निरपेक्षता का उदय चर्च और राज्य, जिसमें साधारण जनता भी शामिल है, के बीच हुए संघर्ष के कारण हुआ था। भारत में संगठित धार्मिक अत्याचार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों में न तो ब्राह्मण, और न ही मुस्लिम उलेमा, संगठित सरकारी धर्मगुरुओं के रूप में कार्य करने और जनता के जीवन को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने में कभी सफल हो पाए। इस प्रकार, मुस्लिम काल से पहले और मुस्लिम काल के दौरान धर्मगुरुओं और शासकों या जनता के बीच हुए संघर्ष का कोई इतिहास नहीं मिलता। दूसरे, आधुनिक काल तक अंतर-वर्गीय स्तर पर भी, भारतीय समाज में, सामान्यतः धार्मिक सह-अस्तित्व की परंपरा मौजूद रही है। मुस्लिम शासन के दौरान भी, इस्लाम को राज-धर्म घोषित नहीं किया गया था और कुछ अपवादों को छोड़कर, मुसलमान शासकों ने सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की नीति अपनाई थी। हिन्दुओं ने धीरे-धीरे प्रशासनिक तंत्र में महत्वपूर्ण पद हासिल किये। कुल मिलाकर मुसलमान शासकों की नीति "जियो और जीने दो" की थी। इसके बाद अंग्रेज़ों ने भारत पर अधिकार किया, तब उन्होंने भी, जहाँ तक विभिन्न समुदायों के धार्मिक जीवन का संबंध था, तटस्थता की प्रवृत्ति बनाए रखी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने कानून की दृष्टि में बराबरी की अवधारणा को लागू किया और उसको अमल में लाए, जिसके अंतर्गत सभी नागरिकों को, उनकी जाति और धर्म चाहे जो हों, बराबरी के अधिकार दिये थे। अंग्रेज़ों से पहले के भारत में यह स्थिति नहीं थी। इस प्रकार धार्मिक सह-अस्तित्व की पहले की ऐतिहासिक परंपरा के अलावा, अंग्रेज़ शासकों ने दो नये महत्वपूर्ण विचार दिये। ये विचार थे—धर्म के प्रति राज्य की तटस्थता और कानून के सामने बराबरी। ये दोनों विचार भारत में आधुनिक धर्म-निरपेक्ष राज्य के अग्रदूत बने।

22.3.2 धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय आंदोलन

बीसवीं शताब्दी के आरंभ से अंग्रेजों ने अपनी पहले की तटस्थता को त्याग दिया और अपनी बहु-चर्चित नीति "फूट डालो और राज करो" अपना ली, जिसके कारण भारतीय राजनीतिक जीवन खतरनाक रूप से साम्प्रदायिक हो गया। राष्ट्रीय नेताओं को इस खतरे का पूरा आभास हो गया था कि धार्मिक अशांति होने से न केवल स्वतंत्रता संग्राम में रूकावट आएगी, बल्कि स्वतंत्रता प्राप्त होने पर भी देश के लिए समस्याएँ पैदा हो जाएँगी।

इस हानिकारक फूट की आशंका का शुरू से ही सामना करने के लिए नेहरू जी ने 1931 में हुए कांग्रेस के कराची अधिवेशन में पारित मूल अधिकारों के प्रस्ताव में ऐसी धाराएं शामिल कर ली थीं कि हर नागरिक को अंतरात्मा के अनुसार धार्मिक प्रसार तथा आचरण की आज़ादी होगी; सभी नागरिक कानून की दृष्टि में बराबर होंगे; नागरिकों को धर्म, जाति या लिंग के आधार पर सरकारी रोज़गार के लिए और किसी भी प्रकार का व्यापार करने या व्यवसाय अपनाने के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा और राज्य सभी धर्मों के प्रति तटस्थ रहेगा। गोपाल के अनुसार, "भारतीय संदर्भ में यह धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा का पहला सार्थक प्रयोग था और जो अनेक वर्षों के बाद संविधान में संबंधित धाराओं का आधार बना।"

यह संकल्प पारित किए जाने के समय तक भारतीय राजनीति में पाकिस्तान की माँग नहीं उठाई गई थी। दुर्भाग्य से हिन्दू-मुस्लिम मतभेद को रोकने में नेहरू जी के पहले से लिए गए निर्णय से कोई सफलता नहीं मिली। अंततः देश का विभाजन हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारतीय नेता संविधान का निर्माण करने में व्यस्त रहे। इस कार्य को पूरा करने में परस्पर विरोधी मत प्रस्तुत किये जाते रहे। एक ओर तो वास्तविकता यह थी कि जान-बूझकर पैदा किए गए धार्मिक संघर्ष के आधार पर ही पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया था और उसके बनने के समय इतिहास का भयंकरतम खून-खराबा हुआ था। दूसरी ओर, यह तथ्य भी था कि गांधी, नेहरू और कांग्रेस के अन्य नेता हमेशा ऐसे संयुक्त भारत का स्वप्न देखते रहे, जिसमें राष्ट्रीय भावना के विकास और आर्थिक प्रगति के साथ-साथ धार्मिक मतभेद दूर हो सकें। इन नेताओं ने जिन्ना के इस विचार को कभी स्वीकार नहीं किया कि धर्म राज्य का आधार बन सकता है। लेकिन जिन आदर्शों के लिए राष्ट्रीय नेताओं ने संघर्ष किया था, उन्हें साम्प्रदायिक शक्तियों की उकसायी गई भावनाओं से प्रेरित उत्तेजित भीड़ द्वारा विभाजन के दौरान किए गए दंगों ने गहरा धक्का पहुँचाया। पाकिस्तान का अनुकरण करते हुए भारत को एक धार्मिक हिन्दू राज्य बनाने के पक्ष में भी मज़बूत तर्क खड़ा किया जा सकता था, खासकर जब उसकी पचासी प्रतिशत आबादी हिन्दू थी। लेकिन, उन कठिन दिनों के पागलपन का दृढ़ता से सामना करते हुए नेहरू और उनके साथियों ने पक्के इरादे के साथ 1931 में की गई प्रतिज्ञा का पालन किया और भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित करने का रास्ता अपनाया—हालाँकि

संविधान की प्रस्तावना में "धर्म-निरपेक्ष" शब्द का औपचारिक समावेश 1976 में ही किया गया।

22.3.3 भारत ने धर्म-निरपेक्षता का रास्ता क्यों चुना?

विभाजन की भारी उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने का निर्णय लेना भले ही विचित्र बात लगे लेकिन इस निर्णय के पीछे ठोस कारण थे।

एक तो, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतंत्रता-संग्राम का आरंभ और संचालन धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर किया था। इस विषय पर पाकिस्तान बनाने के लिए आंदोलन के दौरान हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के दुखदायी दिनों में भी कोई समझौता नहीं किया गया था। वास्तव में, जब पाकिस्तान का बनाना अपरिहार्य हो गया तो गांधी और नेहरू जैसे नेताओं का गैर-साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता की वचनबद्धता के प्रति संकल्प और भी दृढ़ हो गया। इसलिए, धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना के उद्देश्य से हटने का अर्थ होता, उस आदर्श से विमुख हो जाना, जिसका राष्ट्रवादी नेताओं ने हमेशा पालन किया था। भारत को हिन्दू राज्य के रूप में घोषित किए जाने से जिन्ना के दो राष्ट्र के सिद्धांत का सही होना ही साबित होता।

दूसरे, सैद्धांतिक बातों के अलावा एक व्यावहारिक दृष्टिकोण भी था। भारत में हमेशा से ही विविध धार्मिक समुदाय और सम्प्रदाय पनपते रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश की बहु-धर्मी संरचना में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वास्तव में, बहुत बड़ी संख्या में मुसलमानों ने पाकिस्तान न जाने का निर्णय किया और अपने भाग्य और भविष्य को पूरे देश के साथ जोड़ना ही उचित समझा। सम्प्रदायों के बीच सह-अस्तित्व की दीर्घकालिक परंपरा ने मुसलमानों में विश्वास बनाया कि वे इस देश में शांति और सम्मान के साथ रह सकते हैं। अत: इस बहुधर्मी समाज को ध्यान में रखते हुए भी धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया जाना आवश्यक हो गया था।

1948 में महात्मा गांधी की दुखद हत्या इन सब बातों से बड़ा कारण थी। इस बर्बर घटना ने हिन्दू और गैर-हिन्दुओं को समान रूप से चोट पहुँचायी और सभी भारतीयों के मन में यह भावना पैदा कर दी कि कड़े संघर्ष के बाद प्राप्त की गई इस स्वतंत्रता की रक्षा राजनीति और धर्म को अलग-अलग रखने से ही हो सकती है। यह महसूस किया गया कि यदि राजनीति और धर्म को अलग-अलग नहीं रखा गया तो साम्प्रदायिक विद्वेष से देश को भारी खतरा हो जाएगा। एक सुदृढ़ और प्रगतिशील राष्ट्र के हित के लिए सम्प्रदायों के आपसी संघर्ष को रोकना ही होगा।

स्वतंत्रता के बाद, भारत की ऐतिहासिक परंपराओं और उस समय की राजनीतिक आवश्यकताओं ने भारतीय राजनीति को धर्म-निरपेक्षता के रास्ते पर चलने की प्रेरणा दी। 1950 में अपनाए गए संविधान में अनेक ऐसे अनुच्छेद शामिल किए गए हैं, जिन्होंने निश्चित रूप से भारतीय राज्य को धर्म-निरपेक्ष स्वरूप प्रदान कर दिया है। स्मिथ का कहना है कि :

> "भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से धर्म-निरपेक्ष राज्य के ढ़ाँचे का निर्माण किया गया है.....जब तक धर्म के बारे में नियम अपने वर्तमान रूप में बने रहेंगे, धर्म-निरपेक्षता को नकारना कठिन होगा।"

22.4 भारतीय संविधान : धर्म-निरपेक्षता का आधार

भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने का निर्णय लेने संबंधी परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार करने के बाद अब संविधान के उन अनुच्छेदों का परिचय दिया जाता है, जो धर्म-निरपेक्षता के सिद्धांत का समर्थन करते हैं और जो भारतीय राज्य के धर्म-निरपेक्ष आधार एवं उसके स्वरूप को दर्शाते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 15(1) में कहा गया है कि राज्य केवल धर्म के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा। अनुच्छेद 16 के अंतर्गत सरकारी रोज़गार के मामले में भी नागरिक को समान अवसर प्रदान किए जाने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त इस मामले में धर्म के आधार पर भेदभाव करने या अयोग्य घोषित किए जाने का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 25 में सभी व्यक्तियों को अंतरात्मा की स्वतंत्रता और किसी भी धर्म को अपनाने और उसका प्रचार-प्रसार करने की स्वतंत्रता दी गई है। राज्य धर्म से संबंधित आर्थिक, राजनीतिक या अन्य धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों को नियमित करने या सीमित करने के लिए कानून बना सकता है। राज्य, विशेष रूप से हिन्दू धार्मिक संस्थाओं में, सभी वर्गों के हिन्दुओं के प्रवेश की व्यवस्था कर सकता है।

सभी धार्मिक संगठनों को संस्थाएँ स्थापित करने और उन्हें बनाए रखने और धार्मिक कार्यों के लिए सम्पत्ति रखने तथा उसका प्रबंध करने का अधिकार होगा। राज्य किसी धर्म विशेष का प्रचार करने या उसका समर्थन करने के लिए किसी को कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

सरकारी शैक्षणिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। सरकारी या सरकारी-सहायता प्राप्त शैक्षणिक संस्थाएँ धर्म के आधार पर किसी को प्रवेश देने से मना नहीं कर सकतीं। न ही वे किसी को धार्मिक शिक्षा या प्रार्थना में भाग लेने के लिए बाध्य कर सकती हैं।

धार्मिक संस्थाओं को शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार है और राज्य सहायता प्रदान करने के लिए उस आधार पर उनके साथ भेदभाव नहीं कर सकता। संविधान में, विशेष रूप से साम्प्रदायिकता के आधार पर निर्वाचन पर प्रतिबंध लगाया गया है।

यहाँ पर कहना होगा कि व्यक्तियों तथा वर्गों की धार्मिक स्वतंत्रता और भारतीय राज्य की तटस्थता पूर्ण नहीं है, बल्कि सीमित है। धार्मिक स्वतंत्रता "सार्वजनिक शांति, नैतिकता और स्वास्थ्य" की सीमाओं में दी जाती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि राज्य को ऐसे धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है जिनमें हस्तक्षेप करना भारतीय संदर्भ में उचित लगे—देवदासी, मानव बलि और अस्पृश्यता आदि पर रोक लगाने की आवश्यकता है।

यह प्रतिबंध अनुच्छेद 25(2)(क) में भी शामिल किया गया है, जिसमें राज्य को धार्मिक कार्यों से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों को नियमित करने और उन पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 25 (2) (ख) में सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए प्रावधान किया गया है। संवैधानिक निर्देशों में समान नागरिक संहिता बनाने के लिए भी राज्य द्वारा हस्तक्षेप किए जाने का संकेत है।

हिन्दू समाज से संबंधित मामलों में विशेषतौर पर धार्मिक मामलों में, इस आधार पर राज्य का हस्तक्षेप उचित ठहराया गया है कि हिन्दू धर्म में किसी ऐसे धार्मिक संगठन का अभाव है, जो उसमें अंदर से ही सुधार ला सके। इसके अतिरिक्त, एक समान नागरिक संहिता बनाने के लिए भी यह कदम उठाना आवश्यक था।

बोध प्रश्न 2

1 भारतीय परंपरा धर्म-निरपेक्षता के अनुकूल क्यों है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 रिक्त स्थानों को भरें :

क) धार्मिक विभाजन का सामना करने के लिए 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में पारित संकल्प में मौलिक अधिकारों ..... को शामिल किया गया था।

ख) "धर्म-निरपेक्ष" शब्द भारतीय संविधान की प्रस्तावना में ..... में शामिल किया गया था।

3 ऐसे दो कारणों का उल्लेख कीजिए, जिनकी वजह से भारतीय नेताओं ने भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने का रास्ता चुना।

.....

.....

.....

.....

22.5 धर्म-निरपेक्षता के बारे में जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण

हमारे देश में धर्म-निरपेक्षता का बीज बोने और उसके फलने-फूलने में जवाहरलाल नेहरू द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख किए बिना, भारत के धर्म-निरपेक्ष राज्य बनने की कहानी पूरी नहीं मानी जा सकती। नेहरू जी की धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा केवल राज्य की नीति का एक सिद्धांत मात्र नहीं थी। वास्तव में, अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले उन्होंने लिखा था, "हमारे संविधान में कहा गया है कि, हम एक धर्म-निरपेक्ष राज्य हैं, लेकिन यह मानना होगा कि हम इसे अपने जीवन और विचारों में पूरी तरह से अपना नहीं पाए हैं।" इसलिए नेहरू जी एक ऐसे व्यापक तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास का भी पक्का इरादा रखते थे जो हमारे जीवन के सभी पहलुओं में शामिल हो। इस सीमा तक, नेहरू जी का धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत पश्चिमी आदर्श के निकट था और भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया जाना उनके लिए धर्म-निरपेक्षीकरण की दिशा में एक कदम मात्र था।

अपने जीवन के अंत तक नेहरू जी लोकतंत्र के आधार पर धर्म-निरपेक्षता के प्रसार के लिए संघर्ष करते रहे। यह उनका व्यक्तित्व ही था जिससे वे भारतीय जनमानस की भावनाओं को पूरी तरह प्रेरित कर सके। वे धर्म-निरपेक्ष विचारों और कार्यों का प्रचार करने के लिए लोगों को बाध्य भी कर सकते थे, जैसा कि कमाल अतातुर्क ने तुर्की के इस्लामी राज्य और समाज को धर्म-निरपेक्ष बनाने के लिए किया था। लेकिन, अपने उदार लोकतांत्रिक विचारों के कारण उन्होंने तानाशाही तरीके नहीं अपनाये। इसके स्थान पर, आर्थिक विकास पर उन्हें पूरा भरोसा था और यह उनकी आशा थी कि अगर आर्थिक विकास को जनता मुख्य मान लेगी तो धार्मिक भेदभाव अपने आप पीछे छूट जाएँगे और समान आर्थिक हित अलग-अलग वर्गों को आपस में एक कर देंगे।

हमारे आर्थिक विकास की गति धीमी होने के कारण और साथ ही बढ़ती आबादी की वजह से इस मंद विकास के लाभ और सीमित हो जाने के कारण बड़ी संख्या में लोग निर्धन और वंचित रह गए। आर्थिक जड़ता तथा सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़िवादिता साथ-साथ बनी रही। इसके परिणामस्वरूप, हमारी ज्यादातर जनता के अज्ञान, अंधविश्वास और दकियानूसी दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं आ सका। बड़े स्तर पर शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के बावजूद, शहरी क्षेत्रों में अनेक शिक्षित लोगों का भी दुनिया के बारे में धार्मिक-पारंपरिक दृष्टिकोण बना हुआ है। दूसरी ओर, अनेक कस्बे और नगर साम्प्रदायिक हिंसा के केंद्र और धार्मिक कट्टरता का अखाड़ा बन गए हैं। शहरी क्षेत्रों में ऐसे रीति-रिवाजों और समारोहों पर बहुत अधिक धन खर्च किया जाता है, जिनका तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार कुछ भी नहीं है। लोग बिना विचारे केवल आदतन ऐसे काम करते हैं।

अत: नेहरू जी की यह आशा और विश्वास कि आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण से समुदायों के बीच का अंतर समाप्त हो जाएगा और धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपना लिया जाएगा, फ़िलहाल तो प्राप्त नहीं किया जा सकता है। शायद, तीव्र विकास की पूर्व शर्त भी अभी तक पूरी नहीं की जा सकी है या फिर, हमारे समाज में वास्तविक औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रांति अभी आनी है।

लेकिन, यह भी संभव है कि हमारे जैसे अनेक धर्मों वाले समाज में लोग अधिक मज़बूती और भावुकता से धर्म से जुड़े रहते हैं, क्योंकि वह उनकी पहचान का एक स्रोत होता है। फिर, यह भी संभव है कि नेहरू जी की मृत्यु के बाद (1964) किसी अन्य नेता ने उनके जैसी लगन और निष्ठा के साथ धर्म-निरपेक्षता की भावना का प्रसार नहीं किया। या हिन्दू धर्म और इस्लाम या भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसी गहराई है जिनके कारण धर्म-निरपेक्षता, तर्कसंगत और वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में, मात्र पश्चिम से आयात किया विदेशी विचार ही बना रहेगा और हमारे समाज और संस्कृति का अभिन्न भाग कभी नहीं बन सकेगा। स्पष्टत: किसी निश्चय के साथ इन मुद्दों पर कोई निष्कर्ष निकाल पाना कठिन है। वास्तव में, उन तत्वों की जाँच करना ही अच्छा होगा, जिनके कारण धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को प्राप्त करना कठिन हो गया है।

22.6 धर्म-निरपेक्षता के मार्ग की समस्याएँ

पिछले भाग में भारतीय धर्म-निरपेक्षता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस से यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय संदर्भ में धर्म-निरपेक्षता भारतीय राज्य के कार्य क्षेत्र तक ही सीमित

समझी जाती है। भारत में, हमारे जीवन में धर्म के गहरे प्रभाव वाले अधिकांश क्षेत्रों में धर्म-निरपेक्षता के हस्तक्षेप की न तो धारणा ही है और न ऐसी अपेक्षा ही की गई है। इस नीति का परिणाम यह हुआ है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय की संभावनाओं के प्रतिकूल धर्म और धार्मिकता का अधिकांश भारतीयों के दैनिक जीवन पर आज भी गहरा असर है।

आज भी, अनेक धर्म गुरुओं और चमत्कार दिखाने वालों के अनुयायी बड़ी संख्या में हैं। जन्म-पत्रियों और ज्योतिषियों पर लोगों को पक्का विश्वास है, रथ यात्रा और धार्मिक जुलूसों में विशाल जनसमूह भाग लेता है और अब सरकार द्वारा नियंत्रित आकाशवाणी तथा दूरदर्शन भी धार्मिक कार्यक्रमों को अक्सर प्रसारित करते हैं। दूरदर्शन पर पूरी तरह धार्मिक कार्यक्रम दिखाये जाते हैं। इसलिए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि भारत में तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कैसे हो सकेगा, जबकि हमारे समाज में धर्म-निरपेक्षता का अर्थ केवल राज्य की ओर से धर्म-निरपेक्ष रहना ही हो। लेकिन, इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जरूरी है कि हम उन समस्याओं की जाँच करें जो हमारे राज्य को धर्म-निरपेक्षता की ओर ले जाने वाले कार्यों में बाधा पैदा करती हैं। इससे भारत में धर्म-निरपेक्षता के प्रसार से संबंधित ज़्यादा महत्वपूर्ण तथा व्यापक समस्याओं को समझने में आसानी होगी।

22.6.1 समान नागरिक संहिता की समस्या

सबसे पहले हम उस समान नागरिक संहिता बनाने की जटिल समस्या पर विचार करें, जैसी हमारे संविधान के निर्माता सभी नागरिकों पर लागू करना चाहते थे। यह महसूस किया गया था कि समान नागरिक संहिता समान राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए अनिवार्य है और इससे सभी धार्मिक समुदायों के सदस्य एक नागरिकता के सूत्र में बँध जाएँगे। ऐसा न होने पर इस देश के नागरिक हमेशा बँटे रहेंगे, क्योंकि वे सभी अपने धार्मिक कानून से शासित होते हैं और इन कानूनों की धार्मिक जड़ें बहुत गहरी हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आशा की गई थी कि इस कार्य से धर्म-निरपेक्ष समाज के निर्माण में सहायता मिलेगी।

लेकिन पिछले चालीस वर्षों में, समान नागरिक संहिता का विकास करने में कोई प्रगति नहीं हुई है और आज, उसको लागू करना संविधान बनाए जाने के समय की तुलना में बहुत कठिन है। 1986 में मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने सरकार को तलाकशुदा महिलाओं के निर्वाह से संबंधित कानून बनाने के लिए बाध्य किया, जोकि उनके धार्मिक कानून के अधिक निकट माना गया था और इसलिए, धार्मिक दृष्टि से उन्हें अधिक स्वीकार्य था। आधुनिक धर्म-निरपेक्ष विचारधारा और धर्म-निरपेक्ष मत रखने वाले मुसलमानों को सरकार ने कोई मान्यता प्रदान नहीं की।

इसी तरह ईसाई और सिख जैसे अन्य अल्पसंख्यक वर्गों ने भी कुछ ऐसा संकेत दिया कि वे समान नागरिक संहिता का निर्माण और उसे लागू किया जाना असंभव कर देंगे।

इस तथ्य को तो मानना ही होगा कि भारत एक उदारवादी लोकतंत्र है और कोई भी सरकार प्रभावित होने वाले वर्गों और समुदायों की इच्छा या सहमति के बिना किसी महत्वपूर्ण मामले पर कानून नहीं बना सकती। विशेष रूप से धार्मिक नियमों जैसे नाजुक कानूनों के मामले में संयम बरतने की बहुत आवश्यकता है। इन सीमाओं से यह संकेत मिलता है कि भारत में एक सच्चा धर्म-निरपेक्ष समाज बनाने के मार्ग में बड़ी बाधाएँ हैं।

22.6.2 राजनीति और धर्म

उपर्युक्त चर्चा हमें एक और दुविधा में डाल देती है, जिसका भारतीय धर्म-निरपेक्ष राज्य को सामना करना पड़ रहा है। विभाजन और उससे संबद्ध घटनाओं के अनुभव के बाद, यह आशा की गई थी कि भारत में राजनीति धर्म से अलग रहेगी। किन्तु यह संभावना पूरी तरह से समाप्त हो गई, क्योंकि हमारी राजनीतिक गतिविधियाँ साम्प्रदायिकता, जातिवाद या अन्य संकीर्ण विचारों से पूरी तरह लिप्त हैं। राजनीतिक लाभ के लिए धार्मिक या जातिगत भेदभाव से अनुचित लाभ उठाया जाता रहा, जिससे परिस्थितियाँ और अधिक खराब हो गई हैं। ऐसे प्रमाण मौजूद हैं कि राजनीतिक उद्देश्य को ध्यान में रखकर साम्प्रदायिक दंगे कराए जाते हैं।

इस प्रकार की नीतियों के कारण चुनाव कराने और अन्य मूल रूप से नागरिक जीवन से जुड़े और धर्म-निरपेक्ष राजनैतिक कामों के प्रति गैर-धार्मिक तथा गैर - सांप्रदायिक दृष्टिकोण के विकास को धक्का पहुँचा है।

इसके अतिरिक्त, हमारी राजनीतिक नीतियों को सांप्रदायिक रूप दिए जाने पर कोई नियंत्रण न होने के कारण विभिन्न धार्मिक समुदायों की ओर से अनेक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ऐसा सिलसिला चल निकला है कि राजनीतिक व्यवस्था को धार्मिक-राजनीतिक शक्तियों के दबाव के

आगे झुकने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इस प्रकार एक सच्चा धर्म-निरपेक्ष राज्य नहीं बन सकता, धर्म-निरपेक्ष समाज की तो बात करना ही व्यर्थ है।

भारत की सीमित धर्म-निरपेक्षता के महत्व को कम करने के लिए नेहरू के बाद के युग के नेतागण ज़िम्मेदार हैं, उनमें से अनेक तो अपनी पारंपरिक पृष्ठभूमि के कारण बौद्धिक रूप से इतने उदार नहीं हो सके हैं कि वास्तविक धर्म-निरपेक्षता को समझ सकें और उसे स्वीकार कर सकें। परंपराओं के प्रति फिर उभरी अपनी प्रवृत्ति के कारण भी इन नेताओं में भारतीय समाज के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप, गैर-धार्मिक दृष्टिकोण और तर्क संगत तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास के प्रति सच्ची प्रतिबद्धता का अभाव है। नेतृत्व की इस विफलता ने भारत में धर्म और राजनीति को अलग करने में बाधा खड़ी की है।

22.6.3 सांस्कृतिक प्रतीक और धर्म-निरपेक्षता

भारत में धर्म-निरपेक्षता को एक और भी खतरा है। कुछ लोग यह मानते है कि बहुसंख्यक समुदाय का धर्म होने के कारण हिन्दू धर्म एक प्रकार से 'राष्ट्र धर्म' है, परिणामस्वरूप , सभी या ज़्यादातर हिन्दुओं के लिए हिन्दू धर्म ने राष्ट्रीयता संस्कृति का रूप ले लिया है। स्मिथ ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार राष्ट्रीय आदर्शों के प्रसार का अर्थ है--धर्म का प्रसार।"

कुछ साम्प्रदायिक लोगों को यह स्वाभाविक और प्राकृतिक लगता है। लेकिन सब लोगों को ऐसा नहीं लगेगा। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिए। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों के बीच, दृष्टिकोण के इसी फर्क से, गलतफ़हमियाँ उभरती हैं। इसलिए अनेक सार्वजनिक रीति-रिवाज और समारोह, जैसे-भूमि पूजन, उद्घाटन या धार्मिक अवसरों पर नारियल फोड़ना आरती करना और माननीय अतिथियों को तिलक लगाना हिंदुओं द्वारा सांस्कृतिक और राष्ट्रीय रीतियाँ मानी जाती हैं, लेकिन गैर-हिन्दुओं के लिए यह हिन्दू-संस्कृति के आचार-विचार हैं। ऐसे रीति-रिवाज राजकीय समारोहों में भी किए जाते हैं और इनसे राज्य की तटस्थता के बारे में अनावश्यक रूप से गलतफ़हमी पैदा होती है।

चूँकि राज्य को सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार करना है, उसे "भारतीय" मूल्यों और संस्कृति का प्रसार करने में बहुत ही सचेत रहना चाहिए, क्योंकि "भारतीयता" के आवरण में वास्तव में हिन्दू मूल्यों का ही प्रसार होता है। इस बात पर विचार करते हुए कि जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग हिन्दुओं का है, यह स्वीकार करना होगा कि काफ़ी हद तक हिन्दू धर्म के सांस्कृतिक प्रतीकों को "भारतीय" प्रतीक मान लिया जाता है। लेकिन धर्म-निरपेक्ष राज्य द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय के प्रतीकों और सांस्कृतिक चिह्नों की बिल्कुल उपेक्षा किया जाना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे राज्य से सभी धर्मों से बराबर दूरी रखने की अपेक्षा की जाती है।

"हिन्दू" और "भारतीय" के बीच जो ग़लतफ़हमी पैदा हुई है, उसका कारण है पिछले चालीस वर्षों में धर्म-निरपेक्षता के सांस्कृतिक पक्ष की बिल्कुल उपेक्षा कर देना। हमने न तो सभी धार्मिक उपसंस्कृतियों का वास्तविक समन्वय करके एक मिली-जुली भारतीय संस्कृति का विकास करने का प्रयास किया है और न धर्म-निरपेक्ष प्रतीकों पर ज़ोर देकर धर्म-निरपेक्ष मूल्यों पर आधारित एक नई संस्कृति का ही विकास किया है। यह कार्य इतना सरल नहीं है, लेकिन इस दिशा में प्रयास तो करना ही होगा।

इस संदर्भ में चिन्ता का एक कारण यह है कि हिन्दू सांस्कृतिक प्रतीकों को राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में स्वीकार किए जाने पर ज़ोर दिया जा रहा है। संभवतः इसी कारण इसे "हिन्दू उग्रवाद" की संज्ञा दी गई है और इसे मुस्लिम और हिन्दू कट्टरवादिता का परिणाम माना जाता है, लेकिन यह या कोई अन्य स्पष्टीकरण देने से, इस बारे में राज्य की गलतियों को भुलाया नहीं जा सकता। अल्पसंख्यक वर्ग की भावनाओं की कद्र न करने की इस प्रवृत्ति ने राज्य की धर्म-निरपेक्षता के प्रति विश्वसनीयता को समाप्त कर दिया है।

धर्म-निरपेक्षता को केवल राज्य की नीति तक सीमित कर देने से भारतीय नागरिकों की अलग-अलग धार्मिक पहचान तथा उपसंस्कृतियाँ और प्रबल हो गई हैं। जिन समाजों में इस प्रकार के अंतर पर ज़ोर दिया जाता है, वहाँ वर्ग और समुदाय एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं।

भारत में इस अलगाव की एक प्रतिक्रिया यह हुई है कि हमारी जनता के एक बहुत बड़े भाग के लिए समान नागरिकता, कानून की दृष्टि में समानता और समान अवसरों की धारणाएँ मात्र हवाई बातें बनकर रह गई हैं। इसीलिए रोज़गार और शिक्षा के मामले में किसी नागरिक के साथ भेदभाव न किए जाने की संविधान की गारंटी को व्यवहार में पूरी तरह लागू नहीं किया जा सका

है। इम्तियाज़ अहमद का मत है कि, "साम्प्रदायिक चेतना का तेज़ी से विकास हुआ है और जनता का दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता से प्रभावित है।" अत: रोज़गार और शैक्षणिक संस्थाओं में भर्ती की प्रक्रिया में, निश्चय ही सांप्रदायिक भेदभाव आ गया है।

22.6.4 अल्प-संख्यक वर्ग की धारणाएँ

अगर विभिन्न क्षेत्रों में चयन प्रक्रिया में सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों के अंतर्गत भेदभाव समाप्त भी हो जाए, तो भी अल्पसंख्यकों में मनोवैज्ञानिक असुरक्षा की भावना कुछ ऐसी है कि वे अपने आपको पक्षपात का शिकार हुआ मानते हैं। सामाजिक दृष्टि से पक्षपात का आभास होना, अल्पसंख्यक वर्ग के लिए उतना ही हानिकारक है, जितना कि वास्तविक पक्षपात, और इससे उनकी प्रेरक शक्ति, आकांक्षा और उपलब्धियाँ प्रभावित होती हैं। नेहरू जी ने कहा था कि भारतीय धर्म-निरपेक्षता का परीक्षण इस बात से नहीं होना चाहिए कि बहुसंख्यक वर्ग क्या सोचता है बल्कि इस बात से आँका जाना चाहिए कि अल्पसंख्यक वर्ग कैसा महसूस करता है।

शिक्षा और रोज़गार के अतिरिक्त, वर्गों के बीच हिंसा और संघर्ष के मामलों में भी पूर्वाग्रह और पक्षपात कार्य करता है। ऐसे स्पष्ट प्रमाण हैं कि साम्प्रदायिक दंगों के समय राज्य का प्रशासनिक तंत्र निष्पक्ष होकर काम नहीं करता। कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए ज़िम्मेदार लोग गैर-धर्मनिरपेक्ष तरीके से काम करते हैं और अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों का दमन करते हैं।

यह ठीक है कि विभिन्न वर्गों के बीच पूर्वाग्रह और पक्षपात अंग्रेज़ी राज्य और पाकिस्तान आंदोलन से विरासत में मिले हैं। लेकिन ऐसा होते हुए भी यदि धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण का विकास करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास किए गए होते तो हमारी जनता को इन तुच्छ विचारों से ऊपर उठने में समर्थ बनाया जा सकता था और भारतीयता के बंधन में एक किया जा सकता था।

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि धर्म-निरपेक्षता को केवल राज्य की नीति के एक सिद्धांत के रूप में घोषित करने मात्र और दूसरी ओर हमारे राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक जीवन में सभी पहलुओं में धर्म की प्रधानता बनाए रखने से धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में, धर्म-निरपेक्ष राज्य की सफलता के लिए भी पहली शर्त यह है कि व्यापक स्तर पर धर्म-निरपेक्ष विचारों का प्रचार-प्रसार हो। पश्चिम में भी धर्म-निरपेक्षता की प्रवृत्ति के निरंतर विकास के बाद ही, अंतिम चरण के रूप में धर्म-निरपेक्ष राज्य बने। इम्तियाज़ अहमद ने ठीक ही कहा है कि, भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने का अभूतपूर्व और क्रांतिकारी निर्णय लिए जाने के बाद, धर्म-निरपेक्षता के प्रसार के लिए असाधारण शक्ति और प्रयास किए जाने की आवश्यकता थी। हमारे समाज में धर्म-निरपेक्षता विरोधी प्रवृत्तियों को पूरी समझदारी और योजनाबद्ध ढंग से दबाने और समाप्त किए जाने की आवश्यकता थी।

22.7 धर्म-निरपेक्षता का प्रसार करने के उपाय

अब प्रश्न यह है कि तर्कसंगत और वैज्ञानिक विचारों के प्रसार के लिए क्या उपाय किए जाएँ? गोपाल का कथन है कि, "धर्म-निरपेक्ष समाज में ही धर्म-निरपेक्ष राज्य की सुदृढ़ बुनियाद रखी जा सकती है और इसके लिए जनता का दृष्टिकोण बदला जाना आवश्यक है।" नेहरू जी का विचार था कि "जनता की आर्थिक परिस्थितियों को सुधार कर धर्म को महत्वहीन बनाया जा सकता है।" लेकिन, जैसी कि हमने चर्चा की, भारत में यह आशा करना व्यर्थ है। दूसरा विकल्प है शिक्षा, जो शायद आर्थिक सुधार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण उपाय है। अब हम धर्म-निरपेक्षता के प्रसार में शिक्षा की भूमिका की चर्चा करते हैं।

22.7.1 शिक्षा

आज पूरे विश्व में, शिक्षा को तर्कसंगत और वैज्ञानिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों के प्रसार का श्रेष्ठतम उपाय माना जाता है, हालाँकि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका में पूर्ण विश्वास करना कुछ अतिशयोक्ति ही है। फिर भी, जो राज्य राष्ट्र-निर्माण में संलग्न हैं, वे अपनी जनता के दृष्टिकोण और विचारधारा को आधुनिक बनाने के लिए शिक्षा पर काफी हद तक निर्भर करते हैं।

पहले पाठ्शालाओं, गुरूकुलों और मदरसों में दी जाने वाली शिक्षा में "धार्मिक परंपराओं" पर विशेष ध्यान दिया जाता था। आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक जानकारी और उच्च तकनीकी पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों, विशेष रूप से

युवा पीढ़ी के मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं, क्योंकि युवा मस्तिष्क नए विचारों और मूल्यों को जल्दी ग्रहण करता है। इसलिए शिक्षा का युवा-वर्ग पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त युवा वर्ग का मस्तिष्क प्राप्त ज्ञान के प्रति प्रश्न और तर्क रखने की प्रवृत्ति रखता है। इसलिए उनसे यह उम्मीद की जाती है कि वे समाज में परिवर्तन लाएँगे।

भारत में धर्म-निरपेक्ष समाज के निर्माण की हमारी आशा, विशेषरूप से विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले उन लाखों विद्यार्थियों पर टिकी हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान, तार्किक दृष्टिकोण और मानवतावाद की शिक्षा दी जा रही है।

युवा पीढ़ी को धर्म-निरपेक्ष बनाने में कितनी सफलता मिलेगी, यह कई अन्य तथ्यों पर भी निर्भर करता है क्योंकि हमारी शिक्षा-प्रणाली विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में कार्य करती है और उससे प्रभावित भी होती है।

इस इकाई में पहले बताया जा चुका है कि भारतीय संविधान में हमारी शिक्षा-प्रणाली को धर्म-निरपेक्ष स्वरूप प्रदान करने के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। अल्पसंख्यक वर्ग के खिलाफ़ शिक्षा में पक्षपात को पूरी तरह रोकने के लिए राज्य का धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। फिर भी यह कदम शिक्षा की विषय वस्तु के बारे में कोई गारंटी नहीं देते। जबकि उन का स्वरूप ही मूल्यों के विस्तार के साथ ज्यादा सक्रिय रूप से जुड़ा होता है।

अत: शिक्षा का स्वरूप भी आवश्यक रूप से धर्म-निरपेक्ष मूल्यों, प्रवृत्तियों के प्रसार के अनुरूप होना चाहिए। लेकिन सौभाग्य से इस दिशा में कार्य करने के लिए ज़रूरी व्यवस्था और एजेंसियाँ मौजूद हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) जैसी संस्था विद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करती हैं, जिसमें हमारे धर्म-निरपेक्ष आदर्शों पर विशेष बल दिया गया है। इसके अलावा, समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा पुस्तकों का निरीक्षण कर यह सुनिश्चित किया जाता है कि जिन पाठों में किसी वर्ग-विशेष के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलने की आशंका हो, उन्हें हटा दिया जाए। इस बारे में कहीं से भी मिली शिकायतों पर गंभीरता से विचार किया जाता है और गलतियों का निरीक्षण कर उन्हें हटा दिया जाता है। ये हमारे समाज के किसी वर्ग या समुदाय को किसी भी पूर्वाग्रह व दुराग्रह से मुक्ति दिलाने के लिए और मूल्यों के प्रचार-प्रसार को सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण उपाय हैं। इसके अतिरिक्त प्राय: विशेषज्ञों की विचार-गोष्ठियाँ और सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं, जिसमें हमारी राष्ट्रीय विरासत के सकारात्मक और रचनात्मक पहलुओं का निर्माण करने वाले और धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने वाले मूल्यों और प्रवृत्तियों का शिक्षा के ज़रिए प्रसार करने के तरीकों पर विचार किया जाता है।

इस कदम से यह भी सुनिश्चित किया जाता है कि हमारी शिक्षा के विषय मूल्यों और आदर्शों से रहित न हों। बिना मूल्यों के शिक्षा निष्प्राण होती है और विद्यार्थियों को कोई भी दिशा नहीं देती।

तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए हाल ही में बनाई गई नई शिक्षा नीति-1986 में कुछ सार्वभौम मूल्यों का समावेश किया गया है, जिनका उद्देश्य हमारे देश की एकता और अखंडता को मज़बूत करना है। इसके अतिरिक्त इसमें यह बात भी कही गई है कि शिक्षा के माध्यम से हम रूढ़िवादिता, कट्टरपन, हिंसा, अंधविश्वास, भाग्यवाद जैसी कुरीतियों से संघर्ष कर उन्हें दूर कर सकें। हमारी शिक्षा प्रणाली में, भारत में धर्म-निरपेक्ष समाज के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए पहली बार इन समस्याओं पर गौर किया गया है।

इस नीतिपरक दस्तावेज़ में शिक्षा के जिस अन्य धर्म-निरपेक्ष पहलू पर विशेष ज़ोर दिया गया है, वह है "समानता के लिए शिक्षा। नई शिक्षा नीति में विषमता को दूर करने के लिए उन लोगों की विशेष ज़रूरतों पर ध्यान दिया गया है जिन्हें आज तक समानता नहीं मिल सकी है। इस कदम से असमानताएँ दूर करने और शिक्षा के क्षेत्र में सबको समान अवसर दिलाने में मदद मिलेगी। इस नई नीति से कमज़ोर वर्ग के लोगों, विशेषकर महिलाओं, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों को लाभ होगा। धर्म-निरपेक्षता की प्रक्रिया में स्त्री-शिक्षा का विशेष महत्व है। क्योंकि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों और परंपराओं को माताओं के माध्यम से अधिक सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति जो मूल्य ग्रहण करता है, वह सामान्यत: माता के माध्यम से ही सीखता है। अशिक्षित महिला से तर्कसंगत और वैज्ञानिक मूल्यों को सिखाने की आशा नहीं की जा सकती। आधुनिक और धर्म-निरपेक्ष समाज व्यवस्था का आधार मुख्य रूप से प्रबुद्ध माताएँ ही तैयार कर सकती हैं। इसलिए यह आशा की जा सकती है कि महिलाओं के शिक्षित और मुक्त हो जाने पर भारतीय समाज में निकट भविष्य में बड़े परिवर्तन आने की संभावना है।

22.7.2 स्वैच्छिक संस्थाएँ

जनता के बीच धर्म-निरपेक्ष मनोवृत्ति का विकास करने के लिए मात्र शिक्षा ही काफ़ी नहीं है। यदि समाज में रूढ़िवाद, अंधविश्वास जैसी बुराइयाँ,निरंतर बनी रहती हैं तो समाज सुधार के लिए आंदोलन करना होगा और जन चेतना जगानी होगी। अल्पसंख्यकों को राष्ट्रीय जीवन में योगदान, जनता के सभी वर्गों में सामाजिक न्याय और बराबरी की भावना फैलानी होगी। इन मूल्यों के प्रसार में धर्म को बाधक नहीं बनने देना होगा। स्वैच्छिक संस्थाओं और संगठनों (जैसे नारी आंदोलन व जन-जन के लिए विज्ञान आंदोलन) के इस दिशा में प्रयास उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि सरकारी कार्य।

ये प्रयास भारतीय समाज को धर्म-निरपेक्षता की दिशा में काफ़ी आगे ले जाएँगे, ऐसी आशा की जा सकती है। अब ऐसा हो जाएगा तभी इस महत्वपूर्ण प्रयास में शिक्षा के योगदान को पूरी तरह समझा जा सकेगा।

बोध प्रश्न 3

1 नेहरू जी की धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा पर पाँच वाक्य लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारत में धर्म-निरपेक्षता के मार्ग में क्या-क्या समस्याएँ हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3 शिक्षा से धर्म-निरपेक्षता को किस प्रकार बढ़ावा मिल सकता है?

.....

.....

.....

.....

.....

22.8 सारांश

इस इकाई में भारत में धर्म-निरपेक्षता की प्रकृति पर विचार किया गया है। इस विश्लेषण में हमारे देश में धर्म-निरपेक्षता का आरम्भ, पश्चिमी देशों की धर्म-निरपेक्षता से इसका अन्तर, इसकी समस्याएँ और दुविधाएँ तथा भारतीय समाज में धर्म-निरपेक्षता के प्रसार में शिक्षा की भूमिका पर चर्चा की गई है।

यह स्पष्ट किया गया है कि हमारे संविधान-निर्माताओं की भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने के बारे में दृष्टि एकदम साफ़ थी। उन्होंने धार्मिक स्वतंत्रता, अवसरों की समानता और सभी नागरिकों के लिए कानून के सामने बराबरी के बारे में स्पष्ट व्यवस्था और गारंटी रखी थी। उनका विश्वास था कि अगर ऐसी स्वतंत्रता सुनिश्चित की जा सके तो भारतीय समाज धर्म-निरपेक्ष बन जायेगा।

यह गारंटी और आश्वासन केवल संविधान में लिखे शब्दभर नहीं रहे बल्कि काफ़ी हद तक इनको अमल में भी लाया गया। इसीलिए भारतीय नागरिकों को अपनी पसंद का धर्म चुनने, उस पर

NOTES